आभार-निवेदन

अनेक वर्षों के स्वाध्याय का यह परिणाम है कि अपभ्रंश भाषा से सम्बद्ध शोधकार्य 'अपभ्रंश भाषा का अध्ययन' प्रबन्ध रूप मे डी० लिट्० उपाधि के पटना विश्वविद्यालय मे १९६३ मे प्रस्तुत हुआ और स्वीकृत हुआ। मुझे ता है कि विश्वविद्यालय के उपकुलपति की अनुमति से यह आज प्रकाशित हो है।

मैं भाषाविज्ञान के पडित डा० बाबूराम सक्सेना का हृदय से आभारी हूँ नि न केवल अपना अमूल्य समय देकर दिल्ली मे मेरे प्रबन्ध के अशो को चनात्मक दृष्टि से देखा और विद्वत्तापूर्ण सुझाव दिये; अपितु समय-समय पर यक निर्देशो से मुझे प्रोत्साहित भी किया। डा० विश्वनाथ प्रसाद आरम्भ से रे अध्ययन के प्रेरणास्रोत रहे हैं और मैं उनसे यथासमय विचार विमर्श करता । उनका मैं कृतज्ञ हूँ।

पूना मे भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिटयूट और दक्कन कालेज रिसर्च ट्यूट के पुस्तकालयो के उपयोग की मुझे पूरी सुविधा मिली। अत मैं उनके कारियो के प्रति, विशेषत. डा० पुसल्कर और डा० कत्रे के प्रति, अपना प्रकट करता हूँ। डा० कत्रे से वार्त्तालाप में कुछ समस्याओ का समाधान भी ा। इस प्रसङ्ग में प्राकृतभाषा के विशेषज्ञ डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य का आदर के साथ मैं स्मरण करना चाहूँगा। उन्होने मुझे अपनी स्वहस्तलिखित शित पुस्तकों को स्नेहपूर्वक देने मे जरा भी सकोच नहीं किया और मेरी ो का निराकरण भी किया। गुरुकुल कांगड़ी (हरद्वार) विश्वविद्यालय शक्षा भूमि रही है। वहाँ के पुस्तकालय का इस बार भी मैंने पूरा लाभ है। उस सस्था से उऋण होना समव भी नही और ऐसी कामना भी

काशी विश्वविद्यालय मे रहते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुझे बहुत अपभ्रंश का अध्ययन करने के लिए परामर्श दिया था और पाठ्य सामग्री की नोट कराई थी। उनकी कृतियो से भी मैंने निस्सन्देह सहायता ली है। मैं उनका अनुगृहीत हूँ। वे सभी विद्वान और लेखक मेरे धन्यवाद के पात्र हैं ग्रन्थो का उपयोग मैंने इस प्रबंध मे किया है।

इस ग्रन्थ का मुद्रण और प्रकाशन शीघ्र न हो पाता यदि एस० चंद एण्ड ी के संचालक श्री श्यामलाल गुप्त निरन्तर रुचि न लेते। वे मेरे धन्यवाद के हैं। डा० दशरथ ओझा ने जिस आत्मीयता के साथ मुद्रणालय की व्यवस्था से

लेकर प्रूफसंशोधन तक के कष्टप्रद कार्य को प्रसन्नता और धैर्य के साथ संपन्न किया, उसे मैं कभी भुला नही सकता। यह वस्तुत: उन्ही का प्रयास है कि पुस्तक छपकर पाठकों के समक्ष आ सकी। मैं जिन शब्दो मे उनका आभार प्रकट करूँ यह मुझे नहीं सूझता। अच्छा ही है यह आभार का भार बना रहे। प्रबन्ध की शुद्ध प्रतिलिपि और अन्य सामग्री प्रस्तुत करने का श्रेय सहधर्मिणी सावित्री देवी, साहित्याचार्य को है। उनके प्रति कृतज्ञता निवेदन कर मैं अभिन्नता मे भिन्नता नहीं करना चाहता।

अन्त में सुधी विद्वानो से प्रार्थना है कि 'गच्छत: स्खलनं क्वपि भवत्येव प्रमादत:' इसे ध्यान मे रखकर मुद्रण की अशुद्धियों का या अन्य त्रुटियो का समाधान कर लें।

वीरेन्द्र श्रीवास्तव

विषय-सूची

प्रथम-खण्ड

अपभ्रंश भाषा और उसका अध्ययन

द्वितीय-खण्ड

ध्वनिविज्ञान

प्रथम अध्याय

स्वर

द्वितीय अध्याय

व्यंजन

तृतीय-खण्ड

रूपविज्ञान

प्रथम-अध्याय

संज्ञा

द्वितीय अध्याय

सर्वनाम

तृतीय अध्याय

विशेषण

चतुर्थ अध्याय

धातुरूप

पचम अध्याय

अव्यय

षष्ठ अध्याय

शब्द रचना

चतुर्थ-खण्ड

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन : अर्थात्मक

अर्थविज्ञान

पृष्ठ

परिशिष्ट

संक्षिप्त संकेत

प्राय उन ग्रन्थो और लेखको का पूरा नाम प्रबन्ध में यथास्थान दे दिया गया है जिनका उद्धरण और उल्लेख आवश्यक समझा गया है। पुनरावृत्ति बचाने के लिए जो संक्षिप्त संकेत प्रयुक्त हुए हैं उनकी सूची निम्नलिखित है—

अधि०	अधिकरण
अनु०	अनुच्छेद
अपा०	अपादान
अभि०	अभिनवगुप्त
अ० मा०	अर्धमागधी
आ० भा० आ०	आधुनिक भारतीय आर्यभाषा
उदा०	उदाहरण
उ० पु०	उत्तम पुरुष
उ० व्य० प्र०, उ० व्य०	उक्तिव्यक्ति प्रकरण, दामोदर पंडित, भूमिका लेखक डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
ऋक्० प्रा०, ऋ० प्रा०	ऋक् प्रातिशाख्य
ए० व०	एकवचन
क० च०	करकण्डु चरिउ, कनकामर, सं० डा० हीरा लाल जैन
कु० पा०	कुमारपाल चरित, हेमचन्द्र
की० प०	कीर्त्तिपताका, विद्यापति, सं० डा० उमेश मिश्र कीर्तिपताका हस्त लिखित प्रति
की० ल०	कीर्त्तिलता, सं० डा० बाबूराम सक्सेना (द्वितीय संस्करण)। कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, शिव प्रसाद सिंह। कीर्त्तिलता स्तम्भ-तीर्थ प्रतिहस्तलिखित
गुज०, गु०	गुजराती
गुणे	श्री पाण्डुरंग दामोदर गुणे
चाटुर्ज्या	डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या
ज० च०	जसहर चरिउ, सं० डा० पी एल० वैद्य
जे० आर० ए० एस	जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी
जै० म०	जैन महाराष्ट्री
णा० कु० च०, णा० च०	णाय कुमार चरिउ, पुष्पदन्त, सं० हीरालाल जैन

तर्क०, त०	रामशर्मा तर्कवागीश या तत्प्रणीत प्राकृत कल्पतरु
त्रिवि०, त्रि०	त्रिविक्रम या तत्प्रणीत प्राकृत शब्दानुशासन
द० अप०	दक्षिणी अपभ्रंश
दे० ना०, दे०	देशीनाममाला, हेमचन्द्र, सं० पिशल, भूमिका रामानुज स्वामी (द्वितीय संस्करण)
दो० को०, क०	दोहाकोश, कण्हप्पा।
दो० को०, दो० को० सं०	दोहाकोश सरह प्रणीत, सं० राहुल सांस्कृत्यायन
न० लि०	नपुंसकलिंग
ना० शा०, ना० मू०	नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज
प० च०	पउमचरिउ, स्वयंभू, सं० डा० हरिवल्लभ चूनीलाल मायाणी
प० प्र०	परमात्म प्रकाश, जोइन्दु।
प० सि० च०	पउमसिरि चरिउ, धाहिल
पा० दो०	पाहुड दोहा, रामसिंह प्रति, सं० डा० हीरालाल जैन।
पा० ल०	पाइअ लच्छी नाममाला, धनपाल।
पा० सू०, पा०	पाणिनिसूत्र, अष्टाध्यायी।
पिशल	पिशल प्रणीत प्रा० भा० व्या०
पुरु०, पु०	पुरुषोत्तम या तत्प्रणीत प्राकृतानुशासन
पु० लि०	पुल्लिंग
पं०	पंजाबी
प्र०	प्रकरण
प्र० पु०	प्रथमपुरुष
प्रा० अप०	प्राच्य अपभ्रंश
प्रा० क० त०	प्राकृत कल्पतरु
प्रा० प्र०	प्राकृत प्रकाश, वररुचि
प्रा० पैं०	प्राकृत पैंगल
प्रा० भा० आ०	प्राचीन भारतीय आर्यभाषा
प्रा० भा० व्या०	प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पिशल के जर्मन ग्रन्थ Grammatic Der Prakrit Sparchen का हिन्दी में डा० हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनुवाद (राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)।
प्रा० श०	प्राकृतशब्दानुशासन, त्रिविक्रम।

फा०	फारसी
ब० व०	बहुवचन
बं	बंगला
भ० क०, भ०	भविसयत्तकहा, धनपाल सं० श्री पाण्डुरंग दामोदर गुणे।
म०	मराठी
मजू०	मजूमदार
म० पु०	मध्यम पुरुष
म० भा० आ०	मध्य भारतीय आर्यभाषा
महा० पु०, म० पु०	महापुराण, पुष्पदन्त सं० डा० पी० एल वैद्य
महा०	महाभारत
म० भा०, महा०	महाभाष्य, पतंजलि
मार्क०, मा०	मार्कण्डेय या तत्प्रणीत प्राकृतसर्वस्व
माग०	मागधी
रा० च०	रामचन्द्र शुक्ल
लक्ष्मी०, ल०	लक्ष्मीधर या तत्प्रणीत षड्भाषा चन्द्रिका
विक्र०	विक्रमोर्वशीय, कालिदास (निर्णय सागर प्रेस कालिदास ग्रन्थावली, सीताराम चतुर्वेदी)
वि० रा० प०	विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
वैद्य	डा० परशुरामलक्ष्मणवैद्य।
शौर०, शौ०	शौरसेनी
स० च०	सनत्कुमार चरित
सं०	सम्बन्ध
सा० दो०	सावयधम्म दोहा, देवसेन, स० डा० हीरालाल जैन
सिंह०	सिंहराज, प्राकृतरूपावतार
सु० च०	सुदंसण चरिउ, नयनन्दी
सुभद्र	डा० सुभद्र झा
स० रा०	सन्देशरासक, अब्दुर रहमान, सं० श्री भायाणी
हेम० हे०	हेमचन्द्र या तत्प्रणीत सिद्ध हेमचन्द्र, शब्दानुशासन स० डा० पी० एल० वैद्य।

प्रथम खण्ड

अपभ्रंश भाषा और उसका अध्ययन

अपभ्रंश भाषा और उसका अध्ययन

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

अपभ्रंश शब्द का स्पष्ट प्रयोग सर्वप्रथम पतजलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक मे किया है। वे शुङ्ग वश के सस्थापक पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ के पुरोहित थे और १५० ई० पू० भारत में सस्कृत-व्याकरण के त्रिमुनि मे लब्धप्रतिष्ठ हो चुके थे। व्याकरण-प्रयोजन की चर्चा करते हुए उन्होने बताया कि म्लेच्छ न हो जायें अतः व्याकरण पढना चाहिये।[1] "म्लेच्छ" का अर्थ है "अपशब्द"। अपभाषण से अर्थात् अपशब्दो के प्रयोग से बचना ही व्याकरणाध्ययन का लक्ष्य है। अपशब्द की व्याख्या मे उन्होने लिखा :—

"भूयासोऽपशब्दा, अल्पीयास· शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा। तद्यथा गोरित्यस्य शब्दस्य गावी-गोणी-गोता-गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रशा।[2] यहाँ अपशब्द का ही पर्यायवाची अपभ्रश है। गौ साधु शब्द है और उसके अपभ्रश, अपशब्द, अपभ्रष्ट शब्द अर्थात् बिगडे शब्द अनेक हैं जैसे गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि। विकृत शब्दो के उदाहरण कालान्तर में चण्ड के प्राकृत लक्षण,[3] हेमचन्द्र के शब्दानुशासन[4] और श्वेताम्बर जैनो के आचाराङ्ग[5] तथा व्यवहार सूत्र[6] आदि मे प्राकृत और अर्ध-मागधी के प्रयोग हैं। पतजलि की दृष्टि मे "दुष्ट शब्दो"[7] का प्रयोग, अपशब्दो का प्रयोग "वाग्योगविद्"[8] को दोषास्पद बना देता है अत· शब्दों के यथावत् प्रयोगार्थ व्याकरण का विधान आवश्यक है। इतना स्पष्ट है कि लोकभाषा मे सस्कृत शब्दो के अपभ्रष्ट या विकृत रूपो का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था और पतंजलि शिष्ट प्रयोग मे उस प्रवृत्ति को रोकना

---

१. न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः, म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येय व्याकरणम्। महाभाष्य पस्पशाह्निक। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में (पृ० २८३ आनन्दाश्रम सस्करण) इसी मात्र को दुहराया है।

२. महा० भा० प्रथम आह्निक।

३. प्राकृत लक्षण २-१६। "गावी" रूप।

४. हेम० शा० ८। २। १७४ गोणो, गावी, गाश्रा, गावीओ रूप दिये गये हैं।

५. श्रु० २, उ० ४। गावीओ प्रयोग।

६. उ० ४। गोणीयं प्रयोग।

७ दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा "दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येय व्याकरणम्। महा० प०आ०।

८ यस्तु प्रयुङ्क्ते—वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः। महा० प० आ०।

चाहते थे। यो तो भर्तृहरि के वाक्यपदीय मे शब्दप्रकृति अपभ्रंश है,[१] ऐसा कथन सग्रहकार व्याडि के नाम से दिया गया है और व्याडि का उल्लेख महाभाष्य मे मिलता है। अतः अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उपयोग उन्हीका कहा जा सकता है, परन्तु अभी व्याडि का मूलग्रथ उपलब्ध नही है इसलिये पतंजलि का ही अपभ्रंश विषयक प्रामाणिक निर्देश समझा जा सकता है। भर्तृहरि (५ वी शती) के वाक्य-पदीय मे सस्कारहीन शब्द को अपभ्रंश बताया गया है।[२] वह अपभ्रंश शब्द साधु शब्द का स्मरण दिलाकर अर्थ-प्रतीति करा देता है।[३] परन्तु भर्तृहरि इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि अनेक अपभ्रंश शब्द इतने लोकप्रसिद्ध हो गये हैं कि वे स्वय वाचक है और साधु शब्द के भी स्मरण करने की आवश्यकता नही।[४]

भरत के नाट्यशास्त्र मे, जिसे ईसा की तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है, नाटको मे वाचिक अभिनयार्थ पाठ्य का निरूपण संस्कृत और प्राकृत द्विविध रूप मे निर्धारित हुआ है।[५] सस्कृत का विपर्यस्त सस्कारशून्य (असस्कृत) और नाना-वस्थान्तरात्मक पाठ प्राकृत कहा गया है।[६] इस प्राकृत के त्रिविध भेद हैं—

(१) समानशब्द, (२) विभ्रष्ट, और (३) देशीगत। विभ्रष्ट के स्थान पर प्रभ्रष्ट पाठ भी मिलता है। इसका लक्षण है :—

ये वर्णाः संयोगस्वरवर्णान्यत्वमूनतां चापि।
यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टांस्तान् विदुर्विप्राः॥

(गच्छन्ति पदन्यस्तास्ते प्रभ्रष्टा इति ज्ञेयाः) ना० शा० १७। ५-६।

विभ्रष्ट या प्रभ्रष्ट का यह लक्षण पतजलि के अपशब्द का ही प्रसार है। भेद यही है कि महाभाष्यकार के ४-५ शताब्दी बाद यह घृणास्पद नही रह गया अपितु पात्रो द्वारा नाटको मे प्रयुक्त होने लगा है। अभिनवगुप्त ने अपनी विवृति मे लिखा है—

"सस्कृतमेव संस्कारगुणेन यत्नेन परिरक्षणरूपेण वर्जित प्राकृत, प्रकृतेर-संस्काररूपायाः आगतम्। नन्वपभ्रंशानां को नियम इत्याह नानावस्थान्तरात्मकम्··· देशीविशेषेषु प्रसिद्ध्या नियमितमित्येव"। इस उद्धरण के अनुसार प्राकृत को ही

१. "शब्दप्रकृतिः अपभ्रंशः" वाक्यपदीय काण्ड १ कारिका १४८ का वार्तिक (लाहौर सस्करण पृ० १३४)।
२. शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते। तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥ वा० प० १। १४६।
३. एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते। तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते। वा० प० १। १५३।
४. पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु। प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः। वा० प० १।१५४
५. ना० शा० १४। ५
६. एतदेव विपर्यस्त सस्कारगुणवर्जितम्। विज्ञेय प्राकृतं पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम्॥ ना० शा० १७। २।

अपभ्रंश कहा गया है। परन्तु यह अपभ्रंश देश विशेषों में नियमित हो चला था।[1] ध्यान देने योग्य बात यह है कि संस्कृत के सस्कार को बनाये रखने के लिये परिरक्षण और यत्न की आवश्यकता आ पड़ी थी। उसकी शिथिलता ही प्राकृत को जन्म देने लगी। प्रकृति का अर्थ असस्काररूप अर्थात् निसर्ग किया गया है। इस तरह नैसर्गिक असस्कृत भाषा प्राकृत है। भरत ने प्राकृत व्याकरण के नियम भी १७ वें अध्याय के छठे से १० वें श्लोक तक प्राकृतभाषा मे ही दिये हैं और २५ वें श्लोक तक संस्कृत मे। अपभ्रष्ट पद तो प्राकृत हैं ही देशी पद को भी प्राकृत के अन्तर्गत किया गया है—"देशीपदमपि स्वरस्यैव प्रयोगावसरे प्रयुज्यत इति तदपि प्राकृतमेव, अव्युत्पादितप्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति केचित् (अभिनव विवृति)।" वस्तुस्थिति यही है कि महाभाष्यकार ने अपना शब्दानुशासन लौकिक और वैदिक शब्दों के लिये लिखा था।[2] लौकिक शब्दो मे वे सस्कृत शब्द ही परिगणित करते हैं, अपभ्रंश या प्राकृत को स्थान नही देते। भरत ने प्राकृत को निश्चितरूप मे संस्कृत की समकक्षता दे दी।[3] प्राकृतभाषा के नाटकोचित स्वरूप की मीमांसा भी कर दी। उन्होंने वैदिक शब्दो से युक्त भाषा को अतिभाषा, संस्कृत को आर्यभाषा और प्राकृत को जातिभाषा नाम दिया है।[4] नाट्य मे अनुकरणार्थ प्रयुक्त पशु-पक्षियो की भाषा को योन्यन्तरी कहा है। आर्यभाषा और जातिभाषा नामकरण विशेषत ध्येय हैं। आर्यभाषा संस्कृतभाषा है जो कि राज्य मे प्रतिष्ठित है और व्याकरण नियमो से परिष्कृत है[5]; जातिभाषा जनभाषा है जो प्राकृत है और अनेक म्लेच्छ शब्दो (अपभ्रष्ट, असंस्कृत शब्दो) के व्यवहार से पूर्ण है। म्लेच्छ देश मे प्रयुक्त भाषा भारतवर्ष मे आश्रित होकर जातिभाषा का रूप ले लेती है, यह भी भरत के कथन से अनुमान

---

१. आचार्यवर हरदत्त ने भी अपनी यही धारणा दी है कि साधु शब्द सर्वलोक प्रसिद्ध हैं और अपभ्रंश शब्द प्रतिदेश भिन्न हैं—
"यद्यपि गाव्यादयोऽपि लोके विदिता, तथापि न ते सर्व-लोकविदिताः, प्रतिदेशं भिन्नत्वादपशब्दानाम्। लोकशब्दश्चाय सर्वस्मिन् लोके वर्तते सकोचकाभावात्, अतः सर्वलोकप्रसिद्धानां गवादीना ग्रहणम्।"

२. अथ शब्दानुशासनम्। केषा शब्दानाम्? लौकिकाना वैदिकानां च। महा० प०।

३. द्विविधं हि स्मृत पाठ्य सस्कृत प्राकृतं तथा। १४ अ० ५ श्लोक।
एवमेतत्तु विज्ञेय प्राकृत संस्कृतं तथा। १७ अ० २५ श्लोक।
पाठ्यमेतत्तु विज्ञेय सस्कृत प्राकृतं तथा। १७ अ०। २५ श्लोक, पाठान्तर।

४. सस्कृत प्राकृत चैव यत्र पाठ्य प्रयुज्यते
अतिभाषाऽर्यभाषा च जातिभाषा तथैव च।
तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता। १७ अ० २७।
संस्कृतप्राकृतरूपैव भाषा वक्तृभेदाच्चतुर्धा सपन्नेति दर्शयति संस्कृत प्राकृतं च पाठ्यमिति। संस्कृतैव भाषा स्वरभेदादिपूर्वसंस्कारोपेता संस्कृतभाषाऽर्यभाषा भेदानामुक्ता, वैदिकशब्दबाहुल्यादार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्या इत्यन्ये। (अभिनवगुप्त विवृति)

५. सरकारपाठ्यसयुक्ता सम्यग् राज्ये प्रतिष्ठिता। ना० शा० १७।२६।

किया जा सकता है।[1] प्राकृत और संस्कृत का विवेचन करने के बाद देशभाषा-विकल्पों की उत्थानिका भरत ने की है। उसी में अपभ्रंश की भूमिका बँधने लगती है। भाषा शब्द का प्रयोग कई बार अस्पष्टार्थक होने से भ्रामक हो जाता है अतः आगे बढ़ने से पहले उसे स्पष्टतः अवगत कर लेना चाहिये।

निर्विशिष्ट भाषा

अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए ध्वन्यात्मक माध्यम को मनुष्य ने अपनाया। उस माध्यम को "वाक्"[2] "वाणी" इत्यादि शब्दों से अभिहित किया गया। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त (१२ का०) में मातृभूमि की स्तुति करते हुए उसे 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचस" कहा गया है। उस भूमि में रहने वाले जन नानाधर्मा और विविध् वाक् (वाणी) का प्रयोग करने वाले हैं। यह वाणी का वैविध्य वेदों में प्रयुक्त अनेक बोलियों के रूप में देखा जा सकता है। व्यक्त वाक् को भाषण गुण के कारण भाषा नाम दिया गया। प्राचीन काल से आजतक निर्विशिष्ट भाषा शब्द का व्यवहार तत्कालीन बोलचाल की भाषा के लिए किया जाता रहा है।[3] ध्वनिग्रामों के संघटन में जैसे-जैसे पूरा परिवर्तन होता गया वैसे-वैसे भाषाओं में भेदभाव उपस्थित होने लगा और इस भेद स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिये भाषा से पूर्व विशेषण की अपेक्षा हो चली। यास्क ने अपने निरुक्त में "इवेति भाषाया च अन्वध्याय च"। "नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्" इत्यादि स्थलों में केवल भाषा शब्द का प्रयोग लोकप्रयुक्त भाषा के लिये किया है जो कालान्तर में संस्कृत विशेषण से युक्त होकर संस्कृत भाषा कही गई। अध्याय शब्द वेद के लिये प्रयुक्त है। पाणिनीय सूत्रों में "भाषाया" शब्द का प्रयोग

---

१. द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता।
म्लेच्छदेशोपचारा च भारतं वर्षमाश्रिता॥ ना० शा० १७।३०।
म्लेच्छदेशप्रयुक्ता च—भी पाठ भेद है।

२. वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्घि सर्वस्य कारणम्॥ ना० शा० १४।३।

३. हिन्दी साहित्य में भी वही स्थिति है—
कबीरदास—संस्कीरत है कूपजल, भाषा बहता नीर।
संसकिरत पंडित कहैं, बहुत करैं अभिमान।
भाषा जानि तरक करैं, ते नर मूढ़ अजान॥
सूरदास—सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ। (सूरसागर)
तुलसीदास—भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोमि।
केशवदास—रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास।
नन्ददास—उच्चरि सकत न संस्कृत, पराकृत समरथ्थं।
तिन लगि नन्द सुमति यथा, भाषि अनेका अर्थ्यं॥
ताही सों यह कथा यथामति भाखा कीनी॥

यास्क से चली आती भाषा के लिये ही है, वैदिकभाषार्थ "छन्दसि", "निगमे" इत्यादि शब्द हैं। पतजलि ने लौकिक और वैदिक शब्दो का शब्दानुशासन लिखा है। लौकिक शब्द यास्क और पाणिनि की ही भाषा मे प्रयुक्त शब्द हैं जिनका एकमात्र निर्णायक लोक ही है :—"लोक एवात्र शरणम्"। अभी तक लोकभाषा का रूप लगभग वही था, परन्तु अपभ्रश या विकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित हो चली थी। भरत के समय लोक-भाषा स्पष्ट पृथक् स्वीकृत भाषा हो गई थी। दोनो मे भेदप्रदर्शनार्थ पूर्वभाषा को संस्कृत भाषा कहा गया और लोकप्रचलित या असस्कृत भाषा को प्राकृत भाषा। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि ८वी शताब्दी ईसा पूर्व से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक बोलचाल की जो आदर्श या टकसाली भाषा थी उसे ही शिष्टजन-गृहीत और व्याकरण सस्कारयुक्त हो जाने से वैदिक और प्राकृत से अलग करने के लिये सस्कृत भाषा कहा गया। सस्कृत बोलचाल की भाषा कभी नही रही है, यह भ्रान्त धारणा है। हाँ—उस समय उसका नाम सस्कृत नही था। भरत ने इसे आर्यभाषा और सस्कृतभाषा कहा। लोक-प्रचलित भाषा को जातिभाषा या प्राकृत नाम दिया। केवल निर्विशिष्ट भाषा शब्द का प्रयोग अब इसी भाषा के हेतु हो चला था। अभिनवगुप्त लिखते हैं—"भाषा सस्कृतापभ्रश, भाषापभ्रशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिना प्राकृतवासिना च"[1]। अर्थात् सस्कृत का अपभ्रश (विकार) भाषा है और भाषा का भी अपभ्रश (विकार) विभाषा है। सस्कृत अब निर्विशिष्ट भाषा-पद की अधिकारिणी नही रह गयी; वह स्थान लोकभाषा ने लिया। यह लोकभाषा देश की विभिन्नता से कुछ पारस्परिक वैषम्य रखती थी अत. उसे देशभाषा भी कहा जाता था।[2] तत्कालीन समाज का शिक्षित वर्ग सस्कृत को भलीभाँति जानता था और विचार-विनिमय का माध्यम भी बनाता था पर अशिक्षित और अर्धशिक्षित बोलचाल मे प्राकृत को ही लाते थे यद्यपि सस्कृत को समझ अवश्य जाते थे। इस परिस्थिति का ही चित्रण नाटको मे प्रयुक्त विभिन्न भाषाओ मे है। भरत को और तदनन्तर अन्य शास्त्रकारो को पात्रोचित भाषाओ का विवेचन करना पड़ा। धीरोदात्त आदि नायको की भाषा संस्कृतभाषा रही और "कारण व्यपदेश से प्राकृत प्रयोग"[3] की भी उन्हें अनुमति दी गई। दारिद्र्य, अध्ययनाभाव, ऐश्वर्य, प्रमाद आदि से ग्रस्त व्यक्तियो के लिये सस्कृत पाठ्य का निषेध है।[4] श्रमण, भिक्षु, स्त्री, नीचजाति और नपुंसको के लिये प्राकृत की योजना है। शूद्रो के लिये शौरसेनी का विधान कर भरत कहते हैं—

---

१. भरत० ना० शा० १७।५१ पर विवृति।

२. भरत० ना० शा० १७।२६ तथा १७।४८।

३. भरत ना० शा० १७।३४।

४. भरत ना० शा० १७।३५।

> अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः
> नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके। १७।४८।

प्रयोक्ताओ को देशभाषा की स्वच्छन्दता दी गई और उसका उदार कारण अनेक देशो से काव्य की समुद्भूति को बताया गया। "सप्तभाषा" की गणना में मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाल्हीक और दाक्षिणात्य की गणना की गई है।[1] ये भाषाएँ बोलचाल की हैं और नाटको मे प्रयुक्त होती हैं। भरत ने विधान किया है कि बर्बर, किरात, आन्ध्र, द्रमिल आदि जातियो मे नाट्य प्रयोग के अवसर पर पाठ्य "भाषाश्रय" नही होना चाहिये।[2] उनकी बोली को, जो सर्वथा साहित्योपयोगी नही समझी गई, विभाषा का नाम दिया गया है।[3] इन विभाषाओ मे आभीरी[4] या आभीरोक्ति[5] भी है जिसे बाद मे दण्डी के शब्दों में अपभ्रंश[6] भाषा कहा गया। हर्ष के राजकवि बाण ने हर्षचरित मे अपनी मित्र-मण्डली का वर्णन करते हुए "भाषाकविरीशानः परमित्रं" का स्मरण किया है। ईशान भाषाकवि हैं। बाण का भाषा से तात्पर्य अपभ्रंश भाषा है क्योंकि प्राकृत कवि का पृथक् नाम "प्राकृतकृत् कुलपुत्रो वायुविकारः" मे दिया गया है। भरत ने उसे "उक्ति" या "विभाषा" ही कहा था, भाषा नही। भाषा पद पर आने के लिये कुछ और समय अपेक्षित था। (उकारबहुला भाषा[7] का भरत ने अवश्य संक्षिप्त उल्लेख किया है जिसे भाषाविद् अपभ्रंश[8] ही कहते हैं।) यह उकारबहुला भाषा आभीरी आदि के योग से किस प्रकार परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा बनी इसका विवेचन यथाप्रसंग आगे होगा।

अलंकारशास्त्री और अपभ्रंश

भरत से तीन शताब्दी बाद ईसा की छठी सदी में भामह ने अपने काव्या-

---

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
   वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता.॥
२. ना० शा० १७।४६।
३. ना० शा० १७।५६।
४. ना० शा० १७।५६।
५. ना० शा० १७।५६।
६. काव्यादर्श १।३६।
७. हिमवत्सिन्धु सौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिता
   उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत्।६२।
   भरत ने नाट्यशास्त्र के ३२वें अध्याय में कुछ शब्दों के उदाहरण दिये हैं जिनमें उकार-बहुलता स्पष्ट दृष्टिगोचर है—
   १. मोरल्लउ नचन्तउ। महागमे सभन्तउ॥
   २. मेहउ हत्तुं खेई जोयहउ। खिच्च खिप्पहे एहु चंदहु॥ आदि
   विशेष भविसयत्त कहा की डा० गुणे द्वारा लिखित भूमिका का पृ० ५१ देखिये।
८. स्यमोरस्योत्। हेम० ८।४।३३१ तथा क्रिया पदों और अव्ययों में उकारान्तता।

लंकार ग्रन्थ में अपभ्रंश की गणना स्पष्टतः तीन भाषाओं में की।[1] गद्य और पद्य काव्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखे जाने लगे थे। वलभी के राजा धारसेन द्वितीय ने (छठी शताब्दी) अपने ताम्रपत्र में अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीन भाषाओं की प्रबन्ध-रचना में निपुण बताया है।[2] दण्डी ने काव्यादर्श में वाङ्मय को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र इन चार भाषाओं में विभाजित बताया।[3] "मिश्र" प्रदर्शित करता है कि कवि तीनों भाषाओं का सम्मिश्रण करके भी काव्य-रचना करने लगे थे। दण्डी के सामने यह समस्या थी कि महाभाष्य और नाट्यशास्त्र आदि के प्रणेता विद्वानों ने अपभ्रंश का प्रयोग तो अवश्य किया है पर विशेष भाषा के अर्थ में नहीं और भामह आदि आलंकारिकों ने उसे भाषापदवाच्य बताकर काव्यनिर्माण योग्य सिद्ध किया है। इसका समाधान उन्होंने किया—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥१।३६॥

आभीरादि की वाणी को, जो भरत के काल तक विभाषा ही थी, काव्यरचना में आकर अपभ्रंश की संज्ञा मिली। शास्त्र में तो संस्कृत-भिन्न सभी को अपभ्रंश (अपशब्द-विकार) कहा गया है। रुद्रट (नवीं शताब्दी) ने काव्यालंकार में छठे भेद अपभ्रंश को देश-विशेष के कारण अनेक भेदों से युक्त बताया।[4]

दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में काव्य पुरुष का रूपक विधान करते हुए संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन और पैशाच को पाद कहा है।[5] उनकी सम्मति में कवियों को यथासामर्थ्य, यथारुचि और यथाकौतुक संस्कृत की तरह सभी भाषाओं में सावधान रहना चाहिये क्योंकि एक ही बात कवि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, भूतभाषा या दो चार भाषाओं में प्रगल्भ बुद्धि से कथन कर सकता है और जगत् में कीर्ति प्राप्त करता है।[6] कवि के परिचारक वर्ग को "अपभ्रंशभाषाप्रवण" बताया गया है।[7] राजा स्वभवन में भाषानियम कर देते थे, उसका उदाहरण मगध देश के शिशुनाग नाम राजा का दिया गया है जिसने

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥ काव्यालंकार १।१६।

२. संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणान्तःकरणः।
इण्डियन एण्टिक्वेरी, अङ्क० १८८१।

३. तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्तास्चतुर्विधम् ॥ काव्यादर्श १।३२

४. प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥२।१२।

५. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ
का० मी०, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना संस्करण (पृ० १८)

६. अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूतभाषाक्रमेण ॥ अर्थव्याप्ति ६म अध्याय (पृ० ८०)

७. अपभ्रंशभाषाप्रवणः परिचारकवर्गः। (पृ० १२२)

दुरुच्चरित चार मूर्धन्य वर्ण, तीन ऊष्मा और क्ष को अन्तःपुर मे निषिद्ध कर दिया था। अपभ्रश का प्रयोगक्षेत्र मरुभूमि, टक्क और भादानक निर्धारित किया गया है। राजासन के पश्चिम मे "अपभ्रंशी" कवियो के बैठने की व्यवस्था की गई है।[१] इसी प्रकार मम्मट, विश्वनाथ, वाग्भट, भोजराज, हेमचन्द्र इत्यादि आलंकारिको ने अपभ्रश भाषा को पूरी मान्यता दी है, आवश्यक स्थलो पर उद्धरण भी दिये हैं और नियम निर्धारण भी किये हैं।[२] छठी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक निर्विशिष्ट भाषा शब्द का प्रयोग अपभ्रश के लिये है और यह भाषा काव्यभाषा तथा देशानुसार विभिन्न रूपों मे लोकभाषा भी बनी रही। अपभ्रश को भाषा की सज्ञा सर्वप्रथम आलकारिको ने ही दी है। यह तो मानना ही पडेगा कि लक्षण ग्रन्थों से पूर्व लक्ष्य-ग्रन्थो का निर्माण होता है। अत. अपभ्रश के काव्य या अन्य वाङ्मय भामह और दण्डी से पूर्व बनने लग गये होगे।

प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश

षड्भाषा चन्द्रिका के प्रणेता लक्ष्मीधर ने (१६वी शताब्दी का मध्य भाग) अपनी भूमिका मे "वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्[३]" लिखकर एक विवाद उत्पन्न कर दिया कि वे सूत्र, जिन पर त्रिविक्रम की वृत्ति[४] है, लक्ष्मीधर की चन्द्रिका है और सिंहराज का प्राकृतरूपावतार है, क्या आदिकवि वाल्मीकि विरचित हैं। मद्रास ओरियण्टल लाइब्रेरी मे प्राप्त सूत्र और वृत्ति को "वाल्मीकिसूत्रम् सवृत्ति" नाम से निबद्ध किया गया है। एक दूसरी पाण्डुलिपि के प्रारम्भिक मागलिक श्लोको मे रामायण और षड्भाषा के रचयिता वाल्मीकि को नमस्कार किया गया है और समाप्ति मे "वाल्मीकीय सूत्र" उल्लिखित है।[५] वाल्मीकि का इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम उल्लेख

---

१. विस्तार के लिये देखिये अपभ्रंशभ.पा—प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, "चम्पा" (परिशिष्ट)

२. अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधान्यपि । सा० द० ६।३२७ में विश्वनाथ ने अपभ्रंश भाषा के महाकाव्यों में कुडवक की और अपभ्रंश छन्दों की योजना बताई है। "कर्णपराक्रम" महाकाव्य का उदाहरण दिया है। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में (८ अध्याय) अब्धिमथन और भीमकाव्य नामक महाकाव्यों का स्मरण किया गया है।

३. वाग्देवी जननी येषा वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत् ।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाध्वना ॥ षड्भाषा० १५ ॥

४. वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढा व्याचिख्यासन्ति ये बुधाः
षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥षड्भाषा १६
वृत्तिकार त्रिविक्रमदेव वचनात् । षड्भाषा १।१।१ पर व्याख्या

५. येन श्रीरामचरितमधिगम्य सुरर्षितः ।
श्रीमद्रामायण प्रोक्त तस्मै वाल्मीकये नमः ॥
येन निर्मलिता वाग्षड्भाषाकृतयो नृणाम् ।
विमलैः सूत्रकनकैस्तस्मै वाल्मीकये नमः ॥
इतिश्रीवाल्मीकीयेषु सूत्रेषु द्वितीयस्याध्यायस्य पादश्चतुर्थः ।

शम्भुरहस्य[1] (१४वी शताब्दी) मे मिलता है। इसीके आधार पर प्रतीत होता है कि लेखक देशिकाचार्य ने त्रिविक्रम सूत्रो के पूर्व और अन्त मे वाल्मीकि उल्लेख कर लक्ष्मीधर जैसे विद्वान् को भ्रान्ति मे डाल दिया। स्वय त्रिविक्रम ने वृत्ति मे "निज--सूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्"[2] लिखकर सूत्रो को अपना सूत्र बताया और हेमचन्द्र की तरह स्वय वृत्ति लिखी है। प्राकृतभाषाविज्ञ डा० परशुराम शर्मा वैद्य ने सूत्रो को युक्तिपूर्वक त्रिविक्रम की ही कृति सिद्ध किया है। रायबहादुर कमलाशकर प्राणशकर त्रिवेदी ने किसी नवीन वाल्मीकि को सूत्र प्रणेता सिद्ध किया था, वैद्य ने उस विचारधारा का भी खण्डन किया।[3] अत आदि कवि वाल्मीकि के समय अपभ्रश भाषा के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नही उठता।

(प्राकृत व्याकरणो मे सर्वप्रथम वररुचि का स्थान है। उनका प्राकृत-प्रकाश प्रामाणिक और भाषावैज्ञानिक सूत्र पद्धति पर लिखा ग्रन्थ है। यह विवादास्पद है कि पाणिनीय सूत्र वार्त्तिककार वररुचि और प्राकृत सूत्रकार वररुचि एक ही है। महाभाष्यकार ने 'तेन प्रोक्तम्' ।४।३।१०७ सूत्र पर "वररुचिना प्रोक्तो ग्रन्थ. वाररुच" लिखा है, जिससे यह स्पष्ट है कि पतजलि से पूर्व वररुचि किसी ग्रन्थ का प्रणयन कर चुके थे। विक्रम के नवरत्नो मे वररुचि का नाम समाविष्ट है। सूत्रकार पाणिनि, भाष्यकार पतजलि और वाक्यकार वररुचि—इस त्रिमुनि को प्रणाम किया जाता है। कथासरित्सागर और कथामजरी मे अपूर्व प्रतिभाशाली वररुचि का वर्णन है। प्राकृत मजरी ने वररुचि को कात्यायन महाकवि नाम से स्मरण किया है। दोनो को पृथक् करने के लिये कोई दृढ प्रमाण उपलब्ध नही। ऐसी स्थिति मे मौर्य चन्द्रगुप्त के समय (ईसा से तीन शती पूर्व) प्राकृत प्रकाश का रचना काल आता है। वररुचि ने अपभ्रश के विषय मे कुछ कथन नही किया है। उन्होने प्राकृत के महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची चार ही भेद किये हैं। वस्तुत वररुचि के समय तक अपभ्रश का भाषा के रूप मे अस्तित्व कथचित् भी स्वीकृत न था। कुछ विद्वानो ने वररुचि के "दाढादयो बहुलम्" ४।३३ सूत्र पर "आदि शब्दोऽय प्रकारे तेन सर्व एव देशसकेतप्रवृत्तभाषाशब्दा परिगृहीता" इस भामह वृत्ति मे देशसकेत पर प्रचलित भाषा शब्दो मे अपभ्रश को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। ध्यान देने की

---

१. पी० एल० वैद्य के प्राकृत ग्रामर आफ त्रिविक्रम की भूमिका, पृ० २४।

२. तथैव प्राकृतादीना षड्भाषाणा महामुनि।
आदिकाव्यकृदाचार्यो व्याकर्त्ता लोकविश्रुत ॥ १५
प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
वृत्तिर्यथार्थसिध्यै त्रिविक्रमेणागमक्रमात् क्रियते ॥
त्रिविक्रम प्राकृत शब्दानुशासन ६।

३. देखिये षड्भाषा चन्द्रिका की अग्रेजी भूमिका और प्राकृत शब्दानुशासन की अग्रेजी भूमिका।

बात है कि वृत्तिकार भामह यदि अलंकारशास्त्र प्रणेता ही हैं तो वे ईसा की छठी शताब्दी के हैं और वे अपने अलंकार ग्रन्थ मे अपभ्रशभाषा का अस्तित्व स्वीकार ही कर चुके हैं। वस्तुत. निर्विशिष्ट भाषा शब्द यहाँ प्राकृत के लिये ही प्रयुक्त है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने अपभ्रष्ट या विकृत शब्द के लिए अपभ्रंश का व्यवहार किया है न कि भाषा के लिये यह पहले ही निरूपित किया जा चुका है। चण्ड ने "वृद्धमत" के अनुसार अपना प्राकृतलक्षण ग्रन्थ बनाया जिसमे मुख्यतः महाराष्ट्री प्राकृत के नियम दिये गये हैं और साथ ही जैन महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी के। अपने चौथे परिच्छेद भाषान्तर विधान मे अन्य भाषाओं के नियम भी उसने उल्लिखित किये है। ३।३८ मे अपभ्रंश का प्रयोग है। २।२७१ सूत्र पर उदाहृत यह दोहा अपभ्रंश का ही है—

कालु लहेविणु जोइया जिंव जिंव मोहु गलेइ।
तिंव तिंव दसणु लहइ जो णियमे अप्पु मुणेइ॥

अनेक स्थलो पर उन्होने अपभ्रंश के रूप भी दिये हैं। चण्ड के समय के सम्बन्ध में विवाद है। होएर्नले ने स्वसंपादित प्राकृतलक्षणम् मे चण्ड को वररुचि से भी प्राचीन प्रमाणित किया है और ब्लॉख को तो संदेह है कि चण्ड ने सम्भवतः हेमचन्द्र से भी उद्धरण लिये हैं। पिशल ने चण्ड को वररुचि के बाद का वैयाकरण स्वीकार किया है।[1]

कहा जाता है कि "प्राकृत लक्षण" नाम का एक और ग्रन्थ था जिसे पाणिनि ने लिखा था और प्राकृतभाषा के "जाम्बवती विजय" और "पाताल विजय" दो काव्य भी प्रणीत किये थे। परन्तु उस व्याकरण की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई। प्राकृत सर्वस्वकार मार्कण्डेय ने शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह जैसे प्राकृत वैयाकरणो को स्मरण किया है परन्तु पाणिनि को नही। सम्भवतः त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण के विषय में जिस तरह वाल्मीकि के कर्त्तृत्व की भ्रान्ति हो गई थी, उसी तरह चण्ड के प्राकृतलक्षण के विषय मे पाणिनि की भ्रान्ति हो गई हो। भरत ने अपभ्रंश के विषय मे जो कथन किये थे, पहले दिये जा चुके हैं।

अपभ्रंश भाषा के विषय में विशद रूप मे विचार करने का श्रेय हेमचन्द्र को है। उन्होने अपने व्याकरण सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद के ३२९ वें सूत्र से ४४८वें सूत्र तक अपभ्रंश के नियमो का निर्धारण किया है और प्रयोगों के उदाहरणार्थ अपभ्रंश काव्यो के उद्धरण भी दिये हैं। कुमारपाल चरित के अष्टम सर्ग में उनके स्वनिर्मित श्लोक भी अपभ्रंश भाषा का व्याकरणानुमत स्वरूप स्थापित करते हैं। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) जैनो के आचार्य थे और सिद्धराज तथा कुमारपाल

१. प्राकृतभाषाओं का व्याकरण—रिचर्ड पिशल के मूल का हिन्दी अनुवाद (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्) पृ० ७२।

जैसे राजाओं के गुरु।[1] वे संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के महान् विद्वान् थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी, वररुचि के प्राकृत प्रकाश और अपने काल तक प्रचलित अन्य स्रोतो से प्राप्त सामग्री के आधार पर उन्होने अपने विशाल ग्रन्थ की रचना की। अपभ्रश को प्राकृत के अन्य भेदो—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाचिक—के निरूपण के साथ अन्त मे स्थान दिया है। प्राकृत का यह षड्भाषाविभाग वैयाकरणो मे बहुत अधिक प्रचलित रहा। हेमचन्द्र को केवल अपने व्याकरण से ही सन्तोष नही रहा। प्राकृतभाषाओ मे, विशेषत अपभ्रश मे, प्रयुक्त देशी शब्दो के परिचयार्थ देशीनाममाला की रचना हुई। "नि.शेष देशीशास्त्रो के परिशीलन से प्रादुर्भूत कुतूहल—अर्थात् अहो कैसे अपभ्रष्ट शब्दपङ्कमग्न जन का उद्धार किया जाय, इस परोपकार की अभिलाषा से व्यग्र होकर देशीशब्द-संग्रह का निर्माण किया गया।"[2] यह हेमचन्द्र का ही प्रथम प्रयास नही था, इससे पूर्व पादलिप्ताचार्य आदि भी देशीशास्त्रो की रचना कर चुके थे। (धनपाल भी पाइअलच्छी (प्राकृतलक्ष्मी) को ९७२ ई० मे अपनी छोटी बहन सुन्दरी को पढाने के लिए धारा नगरी मे प्रस्तुत कर चुके थे।) हेमचन्द्र ने इस प्राकृत कोश का भी उपयोग किया। उन्होने देखा कि प्राचीन कोशो मे कही अर्थासमर्थकत्व है, कही वर्णानुपूर्वी का निश्चय नही है, कही पूर्वदेशी-विसवाद, कही गतानुगतिक पद्धति पर शब्दार्थ निर्धारण है, अत स्पष्ट वर्णानुपूर्वी का अनुसरण कर शब्दो और अर्थो का सम्यक् विभाजन कर देशीनाममाला या रयणावलि (रत्नावली) का प्रणयन किया।[3] उन्होने बताया कि जो लक्षण मे अर्थात् सिद्धहेमशब्दानुशासन मे प्रकृति प्रत्यय विवेचन द्वारा सिद्ध नही किये गये हैं या सस्कृत के अभिधान कोशो मे प्रसिद्ध नही है या गौणी लक्षणा से सिद्ध नही हो सकते हैं उन्ही शब्दो को उस सग्रह मे स्थान दिया गया है।[4] इसे स्पष्ट करने मे वे नही चूके हैं कि सम्पूर्ण देशविशेषो मे प्रसिद्ध अनन्त शब्दो का संग्रह करने के लिए वे प्रवृत्ति नही हुए है, वे तो केवल अनादि प्रवृत्त प्राकृतभाषाविशेष को ही देशी शब्द से गृहीत करते हैं और उन्ही के अव्युत्पन्न शब्दो का चयन करते हैं।[5] देशीनाममाला के कुछ शब्दो का ही कवियो मे प्रयोग प्राप्त है अन्य सब का आधार अन्वेषणीय है। अवश्य ही वे शब्द बोलचाल मे आते रहे होगे या काव्यो मे इधर-उधर बिखरे पडे होगे। कुछ शब्द द्राविड भाषाओ में भी उपलब्ध हैं। अस्तु—अपभ्रश के व्याकरण और उसमे प्रयुक्त देशी शब्द राशि का सचय कर हेमचन्द्र ने अपभ्रश भाषा के अध्ययन की प्रचुर सामग्री उपस्थित कर दी। अपने काव्यानुशासन में महाकाव्य का स्वरूप निर्धारण करते हुए "अपभ्रश भाषा निबद्ध सधिबद्ध अब्धिमथनादि"

---

१. कुमारपालचरित डा० पी० एल० वैद्य का सस्करण भूमिका, पृ० ७३ तथा पिशल, पृष्ठ ७१।
२. देशीनाममाला—कारिका २ की व्याख्या।
३. देशीनाममाला—कारिका २ की व्याख्या।
४. देशीनाममाला—कारिका ३।
५. देशीनाममाला—कारिका ४।

का और "ग्राम्य अपभ्रंश भाषानिबद्ध अवस्कन्धबद्ध भीमकाव्यादि" का उदाहरण दिया है। इस प्रकार न केवल परिनिष्ठित अपभ्रंश मे ही अपितु लोकप्रयुक्त ग्राम्य अपभ्रंश में महाकाव्यनिर्माण की सूचना दी है। अपभ्रंश मे कथा भी लिखी जाती थी, यह काव्यानुशासन से स्पष्ट है।

हेमचन्द्र की षड्भाषा पद्धति और बहुत कुछ सूत्रावली का अनुसरण कर त्रिविक्रम ने अपनी वृत्ति के साथ प्राकृत शब्दानुशासन या द्वादशपदी का निर्माण किया; संक्षेपार्थ कुछ पारिभाषिक शब्दावली जैसे (ह्रस्वार्थ ह, दीर्घार्थ दि, समासार्थ स इत्यादि का अवश्य प्रयोग किया।) यह एक नवीनता थी, यदि इसे नवीनता कहा जाय, क्योंकि उससे स्पष्टता मे कमी ही आ गई। त्रिविक्रम ने देशी शब्दो को अपने विभिन्न ६ सूत्रों के अन्तर्गत कर दिया, विशेषत: ३।४।७२ में। अपभ्रंश प्रकरण मे प्राय. हेमचन्द्रोद्धृत दोहे ही संस्कृत छाया के साथ दिये गये। त्रिविक्रम १३ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के वैयाकरण हैं। वे दिगम्बर जैन हैं और दाक्षिणात्य यथासभव आन्ध्र निवासी हैं। उन्होंने रात्रिभोजनवासी दोडि द्रविड शब्द को देश्य गिना है जो हेमचन्द्र की देशीनाममाला मे नही है और इससे दक्षिणात्य होने की और पुष्टि हो जाती है।[1]

सिंहराज का प्राकृतरूपावतार, लक्ष्मीधर की षड्भाषा चन्द्रिका और अप्पय दीक्षित का प्राकृत मणिदीप त्रिविक्रम का ही अनुसरण करते हैं। वे क्रमश. १५ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध, १५ वीं सदी के अन्तिम चरण और १६ वी सदी के प्रथम चरण के ग्रन्थ हैं। सभी समीपवर्ती हैं। त्रिविक्रम के सूत्रो का अनुक्रम प्रकरण के अनुसार परिवर्तित करके सिंहराज और लक्ष्मीधर ने अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। पाणिनीय सूत्रो पर काशिका वृत्ति की तरह त्रिविक्रम सूत्रो की वृत्ति है और भट्टोजी दीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी की तरह अन्य दो वैयाकरणो की। सिंहराज ने सुबन्त विभाग और तिङन्त विभाग में शब्दो और धातुओ के रूपो का विस्तार किया है। अनेक रूप तो केवल व्याकरण के नियमो के आधार पर ही सिद्ध कर दिये गए हैं, जिनके विषय मे पूर्ववैयाकरण मौन हैं और काव्यो मे प्रयोग का अभाव भी है। लक्ष्मीधर को इसका गर्व था कि उनकी षड्भाषा चन्द्रिका के बिना कविशार्दूल षड्भाषा कृष्ण रात्रियो में अपशब्द के महागर्त मे पड़ जाते हैं।[2] उन्हे त्रिविक्रम की वृत्ति बहुत गूढ लगी, अत: उसकी व्याख्या की आवश्यकता हुई।[3] सिद्धान्त-कौमुदी के अनुसरण पर प्रकरणो के विभाजन का अपभ्रंशभाषा की दृष्टि से यही लाभ है कि शब्दरूप धातुरूप आदि की सिद्धि पृथक् मिल जाती है। लक्ष्मीधर कृष्णरात्रि महागर्त से बचाने के लिये प्रवृत्त

---

१. श्री पी० एल० वैद्य—प्राकृतशब्दानुशासन की भूमिका, पृ० ३३।

२. अपशब्द महागर्ते षड्भाषाकृष्णरात्रिषु।
पतन्ति कविशार्दूलाः षड्भाषाचन्द्रिका विना ॥२१॥

३. वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधाः
षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥१६॥

हुए हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक प्राकृत ग्रन्थों से उनका परिचय नहीं है। गतानुगतिक न्याय से प्राकृत व्याकरण की रचना अवश्य कर दी है। अप्पयदीक्षित के लघु ग्रन्थ प्राकृत-मणिदीप मे भी त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर का अनुसरण किया गया है। स्वयं अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ का आधार इन दोनो को तो बताया ही है साथ में हेमचन्द्र, भोज, वररुचि आदि का भी नाम गिनाया है।

यह ध्यान देने के योग्य है कि तीनो वैयाकरण दाक्षिणात्य हैं। उनकी पुस्तकें द्रविड क्षेत्र के पुस्तकालयो मे उपलब्ध हुई हैं और कुछ तो मलयालम लिपि मे भी हैं। प्राकृत और अपभ्रश के विशेष अध्ययन की आवश्यकता दक्षिण मे क्यो उठी यह एक समस्या है। इसका एक समाधान है कि जैनधर्म प्रचार के साथ उसके धार्मिक ग्रन्थो के अध्ययनार्थ प्राकृतज्ञान की अपेक्षा हुई। जैनियो ने अर्द्धमागधी और आर्षप्राकृत के साथ अपभ्रश को भी विशेष महत्त्व दिया। परिणामत दक्षिण में प्राकृतभाषा के न रहते भी इतना प्राकृत व्याकरणो पर काम हुआ। दूसरा निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि भरत निर्दिष्ट दाक्षिणात्य प्राकृतभाषा अवश्य रही होगी और उसके कारण भी व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन की आवश्यकता हुई होगी।[1]

ग्रियर्सन ने त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज, अप्पय दीक्षित इत्यादि को प्राकृत वैयाकरणो का पश्चिमी सप्रदाय स्वीकार किया है।[2]

प्राच्य सप्रदाय का प्रवर्त्तक प्राच्यदेशवासी वररुचि को माना गया है। वररुचि के अनन्तर पुरुषोत्तम, लकेश्वर, क्रमदीश्वर, रामशर्मा तर्कवागीश और मार्कण्डेय ने उसका विस्तार किया।

११ वी शताब्दी के प्राच्य बौद्ध प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने अपभ्रश के विषय मे जो कथन किया है वह विशेषत उल्लेखनीय है। उन्होने 'शेषं शिष्टप्रयोगात्" (१७।९०) मे अपभ्रश भाषा के लिए शिष्टजनो के प्रयोग की प्रामाणिकता स्वीकार की है। जैसे लोकभाषा ही शिष्टजनग्राह्य होकर सस्कृत भाषा बन गई थी उसी प्रकार ११ वी शताब्दी के आते-आते अपभ्रश भी हीनजनो की भाषा न रहकर शिष्टवर्ग मे समादृत हो गई। १० वी शताब्दी मे महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने भी अपने समय मे प्रचलित लोकभाषा अर्थात् अपभ्रश भाषा को ध्यान मे रखकर ही कहा था "अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानार्थश्च"। पतजलि के लौकिक

---

१. तर्कवागीश ने दाक्षिणात्य के विषय में लिखा है—
दाक्षिणात्यपदसम्मिलित यत् सस्कृतादिभिरपि च्छुरित च।
स्वादुसारममृतादपि काव्य दाक्षिणात्यमिति तत्कथयन्ति। प्रा० क० २।२।३२
इससे प्रतीत होता है कि दाक्षिणात्य पदों से मिश्रित और संस्कृत से शबलित प्राकृत ही दाक्षिणात्य है।

2 The Indian Antiquary, Jan. 1922 The Apabhransa Stabakas of Ram Sarma (Tark Varish).

शब्द संस्कृत थे पर कैयट के लोकप्रयुक्त शब्द "अपशब्द" अर्थात् अपभ्रंश के ही थे। पुरुषोत्तम ने नागर, व्राचड और उपनागर के भेद से अपभ्रंश भाषा का परिचय १७ वें और १८ वें अध्यायो में दिया है।

मार्कण्डेय का प्राकृत-सर्वस्व अनेक प्राकृत बोलियो के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ का मुख्य आधार वररुचि और हेमचन्द्र हैं। १७वें और १८वें पाद मे अपभ्रश भाषा का विवेचन हुआ है। मार्कण्डेय उड़ीसा के निवासी थे और १७ वी शताब्दी के द्वितीय चरण में विद्यमान थे। अत. १० वें पाद मे प्राच्य भाषा का विवेचन उनके लिए स्वाभाविक ही है; "प्राच्या: सिद्धि. शौरसैन्या."। राम शर्मा तर्कवागीश ने लकेश्वर के आधार प्राकृत कल्पतरु की रचना की। अन्य भी अनेक व्याकरणो के नाम आते हैं, जैसे शुभचन्द्र का शब्द चिन्तामणि, कृष्ण पण्डित की प्राकृत चन्द्रिका, चन्द्रशेखर का भाषार्णव आदि।

इस प्रसंग मे दामोदर विरचित उक्तिव्यक्ति प्रकरण का उल्लेख आवश्यक है। पण्डित दामोदर गाहड़वाल वश के महान् राजा गोविन्दचन्द्र के (१२ वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध) सम्मानभाजन थे।[१] उन्होने तत्कालीन अपभ्रश उक्ति को संस्कृत मे परिवर्तित कर उसे दिव्यता प्रदान करने का गुरुतर भार लिया। उन्होंने कहा—"प्रतिदेश मे भिन्न जो यह सर्वसाधारण भाषा गावी गोणी इत्यादि है वही अपभ्रंश कही जाती है और वह सस्कृतभाषा का उच्छेद करके प्रवृत्त हुई है,···देश-देश में लोकद्वारा अपभ्रष्ट वाणी मे जो कुछ वस्तु-प्रतिपादन किया जाता है उसे ही यदि सस्कृत शब्दो मे कथन किया जाय तो उपादेय हो जाती है।[२] उनकी सम्मति है कि जो ही सस्कृतभाषा मे सुप्—तिङन्त पद हैं वे ही अपभ्रंश मे भी हैं, अर्थ मे थोडा भी भेद नही है। केवल अक्षरों में विपर्यय है। उसके कारण से वेष बनाने वाली नटी की तरह अपभ्रश से छिपी संस्कृत भाषा दिखाई नही देती। अक्षरों के अन्यथा हो जाने से किस अपभ्रश के स्थान मे कौन सा संस्कृत पद है इस निश्चय के बिना संकेतज्ञान संभव नही। इसलिये अपभ्रष्ट होने पर भी जो सस्कृत पद का अव्यभिचारी (स्थायी) धर्म है वही कथन करते हैं।···द्रविड देश मे उत्पन्न व्यक्ति मध्यदेश में रहने लगता है तो उसे उस भाषा का ज्ञान संकेतग्रहण से ही होता है···अतः अपभ्रश वेत्ता को संकेतग्रहण हो जाने पर संस्कृत समझने मे कोई अयुक्तियुक्तता नही।[३] सर्वसाधारणभाषा अपभ्रश ही थी यह दामोदर अच्छी तरह जानते थे। राजकुमारो को लोकभाषा के सहारे संस्कृत रूपान्तर द्वारा संस्कृत की शिक्षा देना उनका लक्ष्य था।[४] उस समय नैषधीयचरित के प्रणेता श्रीहर्ष राजकवि थे। राजसभा मे और

१. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—डा० मोतीचन्द का निबन्ध पृ० ७३।
२. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—कारिका ६ की व्याख्या।
३. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—कारिका ७ की व्याख्या।
४. उक्तिव्यक्ति बुद्ध्वा बालैरपि सस्कृतं क्रियते। उ० व्य०, कारिका २।

पंडितों में संस्कृत का आदर था। लोकभाषा के प्रति हीनभावना का समावेश था।[1] अत दामोदर को कहना पडा—"जिस संस्कृतभाषा को उच्छिन्न करके जो अपभ्रंश भाषा प्रवृत्त हुई है उसके स्थान मे जब वही संस्कृतभाषा फिर परिवर्तित करके प्रयुक्त होती है तब अपभ्रंशभाषा ही दिव्यता पा लेती है, जिस प्रकार पतित ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणीत्व को पा लेती है।[2] वे लोक की उक्ति (बोली) मे सस्कृत की अभिव्यक्ति का अन्वेषण करना चाहते है और अपभ्रंशभाषा से आच्छन्न संस्कृत को प्रकाश मे लाने के लिये प्रवृत्त होते हैं।[3] जिस उक्ति या बोली का विवेचन इस ग्रन्थ मे हुआ है वह कोशली या पूर्वी हिन्दी का पूर्वरूप है।[4] दामोदर ने इस भाषा के सुबन्त, तिङन्त इत्यादि रूपो का व्याकरण पद्धति से अच्छा विवेचन किया है। कारक और क्रियारूपो को स्पष्ट करने के लिये जो पूरे वाक्य दिये हैं वे उस समय की बोली का स्वरूप हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। बालशिक्षा के लिये जो लोकोक्तियाँ दी हैं वे और भी उस भाषा के समझने के लिये उपादेय हैं। मध्यदेश के अपभ्रंश के विषय मे यदि कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुआ है तो वह उक्तिव्यक्ति प्रकरण ही है और चूँकि वह तत्कालीन बोलचाल की लोकभाषा को प्रस्तुत करता है अत बहुत महत्त्वपूर्ण है।

साहित्य मे अपभ्रंश

आलकारिको और वैयाकरणो ने अपभ्रंश को भाषा के रूप मे छठी शताब्दी मे निश्चित रूप मे मान्यता दे दी थी। लक्षण ग्रन्थो का निर्माण सर्वदा लक्ष्य ग्रन्थो के पर्याप्त मात्रा मे प्रचलित हो जाने पर सम्भव होता है। भामह और दण्डी के सामने कुछ अपभ्रंश की काव्य कृतियाँ अवश्य रही होगी तभी उन्होंने अपभ्रंश काव्य की चर्चा की। अलकारशास्त्री अपभ्रंश के कुछ उदाहरण भी देते रहे हैं। यदि भरत से अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी से अपभ्रंशभाषा का काव्यार्थ प्रयोग मान लिया जाय तो कोई आपत्ति न होनी चाहिये। उकारबहुला अपभ्रंश भाषा का प्रयोग उसी के छन्द दोहे मे कालिदास ने विक्रमोर्वशीय मे किया है :—

> मइँ जाणिअँ मिअ-लोअणी णिसिअरु कोइ हरेइ।
> जाव णु णवतडिसामलो धाराहरु वरिसेइ (४। ८)

उपर्युक्त उदाहरण तथा चतुर्थ अक के अन्य अपभ्रंश पद्य कालिदास के हैं कि

---

१. "येयमपभ्रंशवागरचना पामराणा भाषितभेदास्तद् बहिष्कृत ततोऽन्यादश संस्कृत तु सर्वत्रैकम्। अपभ्रंश रचना को पामरभाषित कहते हैं। फिर उसी को "तद्धि मूर्खप्रलपितं प्रतिदेश नाना" मूर्खप्रलपित भी कहते हैं। उ० व्य०, कारिका १, व्याख्या।

२. उक्तिव्यक्तिप्रकरण-कारिका ६ की व्याख्या—देखिये चम्पा, अपभ्रंशभाषा—प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव। (परिशिष्ट)

३. उक्तिव्यक्ति प्रकरण कारिका १ की व्याख्या—अपभ्रंशभाषाछन्ना सस्कृतभाषा प्रकाशयिष्यामः।

४. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, अंग्रेजी भूमिका, पृ० २।

नही, इस पर बहुत विवाद रहा है। परन्तु कालिदास के समय मे लोक मे अपभ्रंश-भाषा प्रचलित हो चुकी थी यह मानने में आपत्ति न होनी चाहिये। कालिदास यदि विभिन्न प्राकृतों का नाटको मे उपयोग कर सकते हैं तो अपभ्रंश का क्यो न करें? पुरुरवा ने अपनी प्रमादावस्था मे जो संस्कृत में प्रलाप किया है उसीका विभिन्न नृत्यमुद्राओ मे नेपथ्य से लोकभाषा अपभ्रंश मे गान तत्कालीन जनता की तृप्ति के लिए बहुत सुन्दर आयोजन है। मालविकाग्निमित्र मे भी नृत्यपूर्वक गान का विधान है। इस परिपाटी का अनुसरण कालान्तर मे ज्योतिरीश्वर के धूर्त्त-समागम और उमापति के पारिजात-हरण नाटकों मे सस्कृत और प्राकृत के साथ मैथिली गीतो के समावेश में उपलब्ध हो जाता है। मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर ने विभाषा को अपभ्रश के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस तरह शाकारी, चाण्डाली, शावरी और टक्की (ढक्की) अपभ्रंश ही हैं।[1] शावरी इस नाटक मे प्रयुक्त नही है परन्तु राजश्यालक शकार शाकारी का, दोनो चाण्डाल चाण्डाली का और माथुर टक्की का प्रयोग करते हैं। राजा शाकारी और उसके दामाद का सवाद टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार अपभ्रश का है।

जर्मन भाषा मे "प्राकृत भाषाओ के व्याकरण" के लेखक पिशल के समय तक अपभ्रंश के बहुत कम काव्य प्रकाश मे आये थे। उसके बाद राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि के जैन पुस्तक भण्डारो और राजकीय पुस्तकालयों के अन्वेषण से अनेक सुन्दर कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं और प्रकाशित होती जा रही हैं।[2] ८वीं[3] सदी के कर्नाटक निवासी स्वयम्भू का महाकाव्य पउमचरिउ रामचरित्र को जैन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। संस्कृत में रविषेणाचार्य का पद्मपुराण और प्राकृत में विमल सूरि का पउमचरित पहले लिखे जा चुके थे। लोकभाषा अपभ्रंश मे उसकी पूर्ति स्वयंभू ने की। दूसरा महाकाव्य रिट्ठणेमि चरिउ है जिसका आधार महाभारत और हरिवंश पुराण हैं। इस ग्रन्थ को जैनियो का हरिवशपुराण कहा जाता है जिसमें कृष्ण-चरित्र है। स्वयंभू ने "स्वयंभू छन्दस" नाम का छन्दो पर एक ग्रन्थ भी लिखा जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश के ६० कवियों के उद्धरण दिये हैं। स्वयंभू ने अपनी भाषा को "देशीभाषा" नाम दिया है :—

दीहसमासपवाहावङ्किम सक्कय—पायय—पुलिणालङ्किय
देसीभासा उभय तडुज्जल कवि दुक्करघण-सद्द-सिलालय।[4]

सस्कृत और प्राकृत के दोनों पुलिनों से अलंकृत देशीभाषा के दोनो तटों से उज्ज्वल

---

१. पिशल—पृ० ४७ संदर्भ २४ और इण्डियन एण्टिक्वेरी, ग्रियर्सन का 'प्राकृत विभाषा' लेख।
२. विस्तृत परिचयार्थ देखिये अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़।
३. पउमचरिउ—श्री हरिवल्लभ भायाणी की अंग्रेजी भूमिका, पृ० १२।
४. पउमचरिउ, प्रथम सधि २ । ३, ४ । ।

रामकथा नदी बह रही है। इस रूपक में प्राकृत और संस्कृत से देशी भाषा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

दसवी सदी के अपभ्रंश महाकाव्यकार पुष्पदन्त का "तिसट्ठि महापुरिस-गुणालकार" या महापुराण बहुत विशालकाय ग्रन्थ है। उन्होने राष्ट्रकूट वंश प्रसूत राजा कृष्णराय तृतीय के मंत्री भरत के आश्रय मे रहकर मान्यखेट (हैदराबाद) में इसकी रचना की तथा इसी राजा के दूसरे मंत्री नन्न के आश्रय मे रहकर 'णायकुमार चरिउ" और "जसहर चरिउ" की भी रचना की। महापुराण मे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्त्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेव इन ६३ महापुरुषो की चरित्र गाथा अङ्कित है। अपनी भाषा को उन्होने भी देशीभाषा कहा है —

णउ हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसिण वियाणमि (म०पु० १।८)

परन्तु "सक्कय, पायउ पुणु अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ स पसंसइ। (म०पु० ५।१८।६।) मे संस्कृत और प्राकृत के साथ अवहंस अर्थात् अपभ्रंश का भी कथन कर ही दिया है। उस समय राजकुमारियो को इन भाषाओं का ज्ञान कराया जाता था।

भारतीय विद्वान् श्री सी० डी० दलाल ने पचम गुजराती साहित्य परिषद् मे अपने व्याख्यान मे अपभ्रंश महाकाव्य "भविसयत्तकहा" की ओर ध्यान खीचा था। उसका अशतः सपादन भी उन्होने किया पर उसे पूरा करने का और गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज मे प्रकाशित करने का श्रेय १९२३ में श्री पाडुरग दामोदर गुणे को मिला। इसी बीच जर्मन विद्वान् हरमन याकोबी ने १९१४ मे जैन भण्डार से इस ग्रथ को ढूंढ निकाला और १९१८ में ही प्रकाशित कर दिया। यह एक पहला सुसम्बद्ध अपभ्रंश महाकाव्य प्राप्त हुआ था जिसके आधार पर दृढ़तापूर्वक कहा जा सका कि अपभ्रंशभाषा काव्य के क्षेत्र मे वस्तुत. प्रयुक्त हुई, केवल आलकारिकों की कल्पना ही न थी। "पउमचरिउ" आदि काव्य बाद मे प्रकाश मे आये। इस महा-काव्य की भाषा मे हेमचन्द्र के सभी नियमों के प्रयोग देखे जा सकते हैं, यद्यपि रूपों की अनेकविधता तथा अनेक देशी शब्दो के प्रयोग, जो "देशीनाममाला" में नहीं हैं, उसे हेमचन्द्र से प्राचीन सिद्ध करते हैं। श्री गुणे ने "भविसयत्तकहा" के रचयिता धनपाल का समय युक्तिपूर्वक १०वी सदी सिद्ध किया है।[१] उकार-बहुलता के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है—

> अरहतु अणतु महंतु सतु सिउ संकरु सुहमु अणाइवंतु।
> परमप्पउ पहु पाडउ महत्थु परमिट्ठि परमकारणकयत्थु ॥

एक परमिट्ठि शब्द को छोड़कर शेष सभी १३ शब्द उकारान्त हैं।[२] अपनी भाषा के नाम के विषय मे कवि ने कुछ नही लिखा है पर वह स्पष्टत अपने काव्य को

---

१. भविसयत्तकहा—अंग्रेजी भूमिका, पृ० ३।
२. भविसयत्तकहा—१।१।

अपशब्द नही स्वीकृत करता। दुर्जन ही श्रेष्ठ कवियो मे अपशब्द की गवेषणा करते हैं।[1] पुरुषोत्तम ने अपभ्रंषभाषा को शिष्टसम्मत बताया ही है अतः अब अपशब्द का प्रश्न ही नही उठता।

८वीं से १०वी शताब्दी तक के परिनिष्ठित अपभ्रंश का सम्यक् परिचय इन तीनो महाकाव्यो के अध्ययन से मिल जाता है। अनेक खण्डकाव्य या चरितकाव्य भी इसके लिये उपयुक्त हैं; जैसे—पुष्पदन्त के णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ, कनकामर का करकडु चरिउ (१०६५ ई० मे बुन्देलखड में रचित) दिव्यदृष्टि माघ-कवि वंशज धाहिल का "पउमसिरीचरिउ"(११वी शताब्दी) हरिभद्र रचित "नेमिनाथ चरित" का अश सनत्कुमार चरित (अणहिल पाटन मे १२१६ मे प्रणीत)। सभी ने अपनी भाषा के नाम के विषय मे लिखने की आवश्यकता नही समझी, क्योंकि प्रत्येक पाठक उनकी अपभ्रंश भाषा से परिचित था, जो प्राय बोलचाल की भाषा थी।

✓मुक्तक काव्यो मे, जिनमे जैनधर्म के सदाचार और नीतिपक्ष का प्रतिपादन है, योगीन्द्राचार्य का "परमप्पयासु" (परमात्म प्रकाश) और मुनि रामसिंह का पाहुड दोहा जैन साधुओ की अपभ्रंश भाषा को समझने के लिये उपयोगी हैं। दोनो का काल दसवी सदी के आसपास है। "परमप्पयासु" का सपादन डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने बड़े पाण्डित्यपूर्ण रूप मे किया है। उनकी सम्मति मे तो इस ग्रन्थ का समय छठी शताब्दी है, पर भाषा की दृष्टि से यह ८वी सदी से १०वी सदी तक का कहा जा सकता है। पाहुड दोहा का बहुत सुन्दर सस्करण डा० हीरालाल जैन ने गवेषणा-पूर्ण भूमिका के साथ निकाला है।

सदेशरासक उपर्युक्त ग्रन्थों की तरह धार्मिक प्रवृत्ति का न होकर वस्तुत लौकिक प्रेम से सम्बद्ध खण्डकाव्य है। इसका रचयिता म्लेच्छदेशोद्भव मीरसेन आरद्द (जुलाहे) का पुत्र अब्दुल रहमान नाम का मुसलमान है। कहानी का क्षेत्र भी मुलतान (अब पश्चिमी पाकिस्तान मे) से स्तम्भतीर्थ (खम्भात) तक है। हेमचन्द्र का समकालीन यह कवि १२वी शताब्दी के अन्तिम चरण या १३वी सदी के पूर्वार्ध में विद्यमान था।[2] अपने से पूर्ववर्ती कवियो को नमस्कार करते हुए वह लिखता है—

अवहट्टय-सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खण छंदाहरणे सुकवित्त भूसियं जेहिं॥ १ । ६ ॥

संस्कृत, प्राकृत और पैशाची से भी पूर्व अवहट्ट (अपभ्रष्ट—अपभ्रंश) की गणना करके कवि इस भाषा को महत्त्व देता है। अपना परिचय देते हुए कवि ने अपने को "प्राकृत काव्य और गीतविषय मे प्रसिद्ध" बताया है। यहाँ "प्राकृत" शब्द व्याकरणशास्त्रियो की तरह व्यापक अर्थ में है जो अपने अन्दर अपभ्रंश को भी समा-

---

१. भविसयत्तकहा—अवसद्द गवेसइ वरकइहि दोसइ अब्भासइ महसइंहि । १ । ३ ।
२. सदेशरासक (सिंधी जैन ग्रन्थमाला)—"प्रिफेस", जिनविजयमुनि—पृ० १२ ।

विष्ट कर लेता है। संस्कृत टीकाकार प० लक्ष्मीधर मिश्र ने १।४ व्याख्या करते हुए "तेन सन्देशानांरासक —नामापभ्रशग्रन्थ कृतः" सदेशरासक को स्पष्ट अपभ्रश ग्रन्थ बताया। पश्चिमोत्तरीय अपभ्रश के अध्ययन के लिए यह काव्य विशेष उपयोगी है।

अपभ्रश के लिए इसी अवहट्ट शब्द का प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के "वर्ण रत्नाकर" (१३२५ ई०)मे मिलता है। उन्होंने षड्भाषाओ मे संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ पैशाची, शौरसेनी और मागधी को गिनाया है।[1] विद्यापति ने (चौदहवी शताब्दी का उत्तरार्ध १३५२-१४४८ ई०)[2] कीर्त्तिलता की भाषा के विषय मे लिखा है—

सक्कअ वाणी बुहअण भावइ पाइअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअणा सब जन मिट्ठा तें तैसन जंपउ अवहट्ठा ॥ १ । १९-२२ ।

इसमे देशी वचन और अवहट्ठ को एक साथ सम्मिलित किया गया है। ये दोनो एक हैं या पृथक् हैं। यदि पृथक् हैं तो दोनो का सामजस्य कैसे है ? इस पर मनीषियो मे विवाद रहा है। अगले परिच्छेद के लिये इस विचार को स्थगित करते हुए हमे इतना ही कथन करना है कि विद्यापति ने अपनी कविता को देशीवचन के साथ अवहट्ट कहा है। उनका "कीर्त्तिपताका"[3] ग्रन्थ भी अपभ्रश भाषा मे ही है। "प्राकृत पैङ्गलम्" के टीकाकार वशीधर ने इस ग्रन्थ की भाषा को अवहट्ट भाषा बताया है।[4] अपभ्रंश के अनेक काव्यो के अन्वेषण से पूर्व प्राकृत पैङ्गल के उद्धृत पद्य और हेमचन्द्र के अपभ्रंश अंश मे उद्धृत पद्य अपभ्रंश भाषा के नमूने समझे जाते थे।

देशीभाषा, अवहट्ट (ट्ठ), के अतिरिक्त अवहस, अवब्भंस शब्दो का प्रयोग भी प्राचीन पुस्तको मे मिल जाता है। उद्योतनसूरि की "कुवलयमाला कहा" मे अवहंस के विषय मे प्रश्न किया गया है कि वह क्या है—"ता किं अवहंस होइ ?" और उत्तर

---

१. पुनु कइसन भाट, संस्कृत, पराकृत,अवहठ, पैशाची, सौरसेनी, मागधी। भाषाक तत्त्वज्ञ, शकारी, अभिरी, चाडाली, सावली, द्राविली, औतकलि, विजातीया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्ण रत्नाकर पृ० ४४।

२. दि सान्ग्स अव विद्यापति ' डा० सुभद्र झा, पृ० ६२।

३. "कीर्त्तिपताका" का प्रकाशन डा० उमेश मिश्र ने इलाहाबाद से १९६० में किया है। इस संस्करण में मैथिली में अनुवाद भी दिया गया है। परन्तु पाण्डुलिपि के भ्रष्ट होने के कारण पाठ बहुत अधिक भ्रष्ट है। प्रबन्ध लेखक एक अन्य पाण्डुलिपि, छन्द-शास्त्र तथा पाठानुसन्धान की वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेकर पाठोद्धार कर रहा है। अनेक स्थलों पर आश्चर्यजनक पाठभेद, जो अर्थ-गर्भित और प्रसङ्गानुकूल हैं, इस तरह प्राप्त हो रहे हैं। देखिये भागलपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभाग की पत्रिका "चम्पा" १९६२ में प्रबन्धकार का "कविराज विद्यापति का अपभ्रंश पाण्डित्य" निबन्ध। (परिशिष्ट ४)

४. देखिये-चम्पा, "प्रथमो भाषा तरङ्गः प्रथम आद्य' भाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचित' सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थः।" (परिशिष्ट ५)

दिया गया है कि वह शुद्ध हो या अशुद्ध अप्रतिहतधारा में प्रवाहित होती हुई प्रणयकुपित प्रियमानिनी के संलाप की तरह मनोहर है।[1] कोई समय था जब संस्कृत कानो मे मधुर धारा बरसाती थी। राजशेखर को वही सस्कृत पुरुषवत् परुष लगी और प्राकृत महिला सी सुकुमार।[2] उद्योतन को अपभ्रंश ही प्रियतमा का मधुर प्रलाप प्रतीत हुई। महापुराण मे भी अवहंस शब्द आ चुका है। अवब्भंस शब्द का प्रयोग अल्फ्रेड मास्टर ने ढूँढ निकाला था।[3] प्राकृत व्याकरण के अनुसार अपभ्रष्ट >अवहट्ट (ट्ठ) में और अपभ्रंश>अवब्भस>अवहस में परिणत हो सकता है (प को व, भ को ह; र लोप होने पर भ को द्वित्व और पूर्व को ब आदेश या भ को ह) श्री शिव प्रसाद सिंह ने अपने ग्रन्थ "कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा" मे सवंश कवि स्वयभू का "अवहत्थ" प्रयोग भी ढूंढ निकाला है। परन्तु इसमे वे भ्रान्ति में पड़ गये हैं। पाठ है "अवहत्थेवि खलमरण णिरवसेसु पहिलउ णिरू वण्णापि मगह देसु" (पउमचरिउ-प्रथम सधि ४,१, श्री भायाणी द्वारा सपादित पृ० ५)। महाकाव्य की प्राचीन परिपाटी के अनुसार सज्जन प्रशसा और दुर्जन निन्दा करता हुआ तीसरे कडवक के अन्त मे कवि कहता है—निन्दक की अभ्यर्थना से क्या लाभ जिसे कोई भी अच्छा नही लगता। क्या "महाग्रह राहु कापते हुए भी पूर्ण चन्द्रमा को छोड़ता है"। अत वह अब "पूरी तरह खलजनो को किनारे करके पहले निश्चय ही मगह देश के वर्णन मे सलग्न हो जाता है।" अवहत्थेवि संस्कृत नामधातु अपहस्त से पूर्वकालिक प्रत्यय एवि (हेमचन्द्र के ८।४।४४०) से निष्पन्न है; अर्थ है हाथ से एक किनारे करके। कवि पहले भी उसे हाथ से धक्का (हत्थुत्थल्लिउ) दे चुका है। अपभ्रष्ट से अवहत्थ के विकास मे ष्ट का त्थ मे परिणत होना कठिन है। प्रकरण में अपभ्रश की चर्चा का स्थान ही नही।

अपभ्रश साहित्य के अध्ययन मे बौद्ध साहित्य का अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरहपा और कण्हपा के दोहाकोश अपभ्रश के प्राच्य क्षेत्र मे विस्तार और विकास को प्रदर्शित करते हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी तिब्बत यात्रा से लौटकर इन ग्रन्थो का संपादन किया। कालान्तर मे प्राप्त सामग्री के ही आधार पर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सरह दोहाकोश का सम्यक् संपादन किया है और उपलब्ध प्रमाणों से उनका समय ८वी शताब्दी का मध्यकाल निर्धारित

---

१. ता किं अवहंसं होइ ? त सक्कय पय उभय सुद्धासुद्ध पय सम तरंग रंगत वग्गिरं, पणय कुविय पियमानिनि समुल्लास सरिसं मणोहरम्। अपभ्रंशकाव्यमयी—श्री एल० बी गाधी (भूमिका)

२. परूसा सक्किअबधा पाउदबधो वि होई सुउमारो। पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहतरं तेत्तिअमिमाणं कपूरमंजरी १।८।

३. कि चिं अवब्भस-कआ दा। श्री शिवप्रसाद सिंह द्वारा उद्धृत (अल्फ्रेड मास्टर द्वारा (B.A. O.A.S.) भाग १३-२ में उद्धृत)।

किया है।[1] सरह को शान्तरक्षित (६९३-७९३ ई०) का प्रशिष्य और हरिभद्र का शिष्य बताया गया है। हरिभद्र राजा धर्मपाल (७७०-८१५) के समकालीन थे, परन्तु यह भी स्मरणीय है कि सरह के प्रशिष्य लुईपा धर्मपाल के सचिव थे। लुईपा अपनी ख्याति के कारण गणना मे तृतीय होने पर भी सिद्धो मे प्रथम कहे गये हैं। इस परम्परा को स्वीकार करने पर कण्हपा सरह के उत्तरवर्ती हैं। सिद्धो मे उनका नवाँ नाम है। कण्हपा के ३२ दोहो के छोटे ग्रन्थ दोहाकोश को भी महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने "बौद्धगान ओ दोहा मे" सपादित किया है। श्री शहीदुल्ला ने कण्ह का समय ७०० ई० निर्धारित किया है, परन्तु सिद्ध परम्परा से इसका मेल नही बैठता। श्री चाटुर्ज्या ने सरह का समय १२०० ई० बताया है। वस्तुतः कण्ह का समय १०००-११०० ई० के आस-पास रखना उचित होगा जैसा श्री बागची ने बताया है। प्रथम सिद्ध सरह से ९ वें सिद्ध कण्ह तक आते-आते इतना समय अपेक्षित होगा। इन दोनो दोहा ग्रन्थो की रहस्यवादिता और सन्ध्याभाषा का विद्वत्ता-पूर्ण अध्ययन श्री एम० शहीदुल्ला ने फ्रेंच भाषा मे "ले शां मिस्तीके" मे प्रस्तुत किया है।

शिलाङ्कित अपभ्रंश

शिलालेख किसी भी भाषा के अध्ययन के लिये प्रामाणिक सामग्री उपस्थित करते हैं, यह निर्विवाद है। म० भा० आ० प्राकृत के शिलालेख ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य भाग से लेकर ईसा पश्चात् चौथी शताब्दी तक की अवधि मे सम्पूर्ण भारतवर्ष मे इतस्तत उपलब्ध होते हैं।[2] चौथी शताब्दी के अनन्तर शिलालेख संस्कृत भाषा मे ही अङ्कित होने लगते हैं क्योकि उसी भाषा को राजाओ का और पण्डितो का आश्रय मिल गया। अपभ्रश का कोई भी शिलालेख अब तक प्रकाश मे नही आया था यद्यपि अपभ्रश शब्द का उपयोग वलभी नरेश धारसेन द्वितीय ने सातवी शताब्दी के अपने शिलालेख मे अवश्य कर दिया था। इधर एक शिलालेख, मे जो प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई मे सुरक्षित था, अपभ्रंश भाषा का उत्तरवर्ती रूप समझा जा सकता है। डा० भायाणी ने उसका अध्ययन "भारतीय विद्या" में (भाग १७, अक ३-४, पृ० १३०-१४६) प्रकाशित किया। इसी शिलालेख पर अपना कार्य डा० माताप्रसाद गुप्त ने "हिन्दी अनुशीलन" के धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक (१९६०) मे प्रस्तुत किया। डा० भायाणी इस लेख मे आठ नखशिखवर्णनो को आठ अपभ्रशोत्तर बोलियो मे वर्णित समझते हैं जिनमे से छ. नखशिख ही छ. बोलियो मे (अवधी, मराठी, पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, बगाली तथा मालवी के पूर्वरूपो मे)

---

१. दोहाकोश सरहपा. सपादक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना) भूमिका पृ० १२-१३। इस प्रबन्ध में सर्वत्र दोहाकोश के इसी संस्करण का अवलम्बन किया गया है।

२. "हिस्टारिकल ग्रामर आफ इन्स्क्रिप्शनल प्राकृत्स", डा० महेन्दाले भूमिका, पृ० १४।

उपलब्ध हैं और दो त्रुटित हो गये। डा० गुप्त सम्पूर्ण लेख को एक ही बोली में स्वीकार करते हैं, जिसे वे पुरानी दक्षिण कोसली कहते हैं। लेख के काल के विषय में दोनो महानुभाव सहमत हैं कि लिपिविन्यास के आधार पर उसे भोजदेव के "कूर्मशतक" सम्बन्धी धार शिलालेख का समीपवर्ती अर्थात् ११वी शताब्दी का माना जा सकता है। इस शिलालेख मे टंकित रोडा कवि प्रणीत "राउल वेल" मे अपभ्रंश के तत्त्व अवश्य हैं परन्तु भाषा के विवादास्पद होने के कारण प्रस्तुत प्रबन्ध मे उसका आश्रय नही लिया गया है। परिशिष्ट मे उन तत्त्वो का विवेचन उपस्थित किया गया है और उससे प्रबन्धान्तर्गत निष्कर्षों की ही पुष्टि होती है।

देशीभाषा और अपभ्रंश

प्रश्न उठता है कि स्वयभू और पुष्पदत्त जैसे कवियो ने अपनी भाषा को देशीभाषा कहा और विद्यापति ने भी देशीवचन के साथ अवहट्ट को नियोजित किया तो क्या देशीभाषा और अपभ्रंश एक है। डा० हीरालाल जैन ने "पाहुड दोहा" की भूमिका मे डा० जुले ब्लाख के संदेह का निवारण करने के लिये इस विषय पर विस्तार से युक्तियुक्त विवेचन किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "उपर्युक्त समस्त उल्लेखो का सार यही है कि अपभ्रंश को ही देशीभाषा और देशभाषा को अपभ्रंश नाम से साहित्याचार्य समझते और कहते आये हैं।" (पृ० ४०) या "पूर्वोक्त अवतरण इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि व्याकरणाचार्य जिस भाषा को अपभ्रंश कहते हैं उसी भाषा को उसमे रचना करने वाले देशीभाषा कहते हैं। (पृ० ४५) उनकी सम्मति मे विद्यापति 'देसिलवअना सबजनमिट्ठा त तैसन जपओ अवहट्ठा" मे "तैसन" से "अभिप्राय" वही का रखते हैं अर्थात् "देशीवचन सब जनों को मीठा लगता है अतः उसी अवहट्ठ का कथन करता हूँ", यह उनका अभिप्राय है।

उचित परिणाम पर पहुँचने के लिये अब तक जो प्रतिपादन किया गया है उसमे एकसूत्रता देखनी होगी।

१. भरत ने सस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त देशी भाषाओ का विवेचन किया है। संस्कृत और प्राकृत सामान्यवाची शब्द हैं। सस्कृत तो सर्वदेशव्यापी शिष्ट भाषा बनकर अभिजातवर्ग मे सीमित हो चली थी। उससे अपभ्रष्ट या विकृत भाषा जन सामान्य मे प्रयुक्त होने के कारण प्राकृत थी ही, उसके लिये ही निर्विशिष्ट "भाषा" शब्द का प्रयोग होने लगा था। प्रादेशिक विशेषताओ के कारण भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा देश विशिष्ट हो गई। जो प्राकृत जिस देश की थी उसका वही नाम पड़ गया जैसे मागधी, शौरसेनी आदि सात भाषाएँ।

२ भरत ने प्राकृत भाषा के अतिरिक्त "भाषा का अपभ्रंश" विभाषा को स्वीकार किया जो उस देश मे गह्वर-गुफाओ मे रहने वाले तथा प्रकृति के एकान्त स्थान जगल आदि मे रहने वाले प्राकृतवासियो की "उक्ति" अर्थात् बोली थी।

आभीरी अभी इसी स्थिति मे थी। इन विभाषाओ को अभी देशीभाषा का पूरा पद नही मिला था।

३. २-३ शताब्दी बाद इन विभाषाओ ने देशभाषाओ के साथ घुलमिल कर देशभाषा का ही नाम ग्रहण कर लिया और वस्तुत. बोलचाल की भाषा हो जाने के कारण भाषा पद पर आसीन हो गई। मागधी, शौरसेनी आदि अब प्राकृत भाषा के ही अन्दर पूर्णत. विलीन होकर साहित्यिक भाषा बन बैठी।

४ इसी स्तर पर ही भाषापदवाच्य अपभ्रश का अपना अस्तित्व स्थापित हुआ। बाण (६ ठी सदी) जैसे कवि ने अपने मित्र ईशान को भाषाकवि कहा है। भरत के समान-शब्द (तत्सम) और विभ्रष्ट (तद्भव) पदो से मुख्यत· निर्मित भाषा प्राकृत भाषा रही और देशी पदो से, जिनकी प्रकृति अव्युत्पादित थी, अत्यधिक सम्पन्न, प्राकृत के ढाँचे मे चलने वाली भाषा अपभ्रश हो गई। इसे अब देशीभाषा की सज्ञा दो कारणो से मिली—

१. विभिन्न प्रदेशो मे बोलचाल की विभिन्नता के कारण

२. देशी पदो के अत्यधिक समावेश के कारण

पहले कारण के अनुसार नमिसाधु, पुरुषोत्तम, मार्कण्डेय आदि ने अनेक विभाग किये हैं। दूसरे कारण के अनुसार हेमचन्द्र जैसे भाषा-विशारदो ने "देशीनाममाला" आदि मे देशीभाषा का लक्षण किया है—"अनादि प्रवृत्त प्राकृत भाषा-विशेष ही देशी हैं।" वे सब देशो मे प्रचलित अनन्त शब्दो को देशी शब्द मे परिगणित नहीं करते केवल प्राकृत क्षेत्र मे प्रयुक्त लक्षणादि विहीन अव्युत्पन्न प्रकृति शब्दो मे ही "देशीशब्द" को सीमित कर देते हैं।

इन देशी पदो का स्रोत द्रविड भाषाओ के अतिरिक्त आभीर, गुर्जर आदि म्लेच्छ जातियाँ हैं जिनका भारत मे प्रवेश, प्रसार और राज्य तथा समाज में प्रभुत्वपूर्ण स्थान इतिहास का विषय है।

पादलिप्त ने (५ वी शताब्दी मे) अपनी तरङ्गवती कथा का "देसिवयण" अर्थात् देशीवचन से निर्माण किया था। उनका देशीवचन से आशय देशीभाषा से ही है जो तरङ्गवती कथा मे प्राकृत है न कि अपभ्रश। वस्तुत. समय-समय पर देशी-भाषा या लोकभाषा साहित्यिक शिष्ट भाषा के साथ चलती रही। स्वयभू ने बड़े आदर के साथ भामह और दण्डी का नाम स्मरण किया है जिन्होंने अपने अलंकार शास्त्रों में अपभ्रश भाषा को काव्य मे स्थान दिया। अत. निश्चित ही स्वयंभू की देशीभाषा अपभ्रश भाषा है। उन्होंने इसे "सामण्णभास" (सामान्यभाषा) और नम्रता मे "गामिल्ल भास" (ग्राम्य भाषा) भी कहा है। उनका कथन है—

> ववसाउ तो वि णउ परिहरमि वरि रड्डावद्धु कव्यु करमि।३।९।
> सामण्णभास छुडु सावडउ छुडु आगम-जुत्ति का वि घडउ। १०।
> छुडु होन्तु सुहासिय-वयणाइं गामिल्ल-भास-परिहरणाइं। ११।

अर्थात् सामान्य भाषा यदि सावद्य (निन्दनीय) हो, यदि आगम-युक्ति कोई घट भी जाय, यदि ग्राम्यभाषा का चारों ओर से ग्रहण हास्य का वचन हो जाय तो भी मैं अपना व्यवसाय (उद्यम) नहीं छोड़ूंगा और रड्डाबद्ध काव्य करूंगा ही, भले ही मुझे व्याकरण भरतशास्त्र, पिङ्गलशास्त्र, अलकारशास्त्र का ज्ञान न हो। (३।५।८)। यहाँ ग्राम्यभाषा से अपभ्रंश का ग्राम्य रूप नहीं समझना चाहिये। परिनिष्ठित की तुलना में ग्राम्य भेद हेमचन्द्र विहित है। यहाँ "ग्राम्यभाषा" का प्रयोग और मनोवैज्ञानिक भाव १५वी शताब्दी के तुलसीदास के निम्न वचन मे झाँक रहे हैं—

भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी।

वे भी सस्कृत को छोड़कर "भाषानिबन्ध" लिखने चले थे।

महापुराणकार पुष्पदन्त तो अपनी भाषा को देशीभाषा कहने के साथ-साथ अवहंस (अपभ्रंश) का स्मरण कर ही लेते हैं। उनके समय तक "अपभ्रंशो भव्यः" हो गया था "शिष्ट" हो गया था अतः सकोच की कोई आवश्यकता भी न थी। उसी समय (१० वीं शताब्दी) "पासणाह चरिउ" (पार्श्वनाथ चरित) के प्रणेता पद्मदेव पूर्ववर्ती "देशिशब्दार्थ गाढ" काव्य की सृष्टि से आतंकित न हुए और उन्होंने देशी शब्दों में अपने काव्य का प्रणयन किया।[1] "णेमिणाह चरिउ" (नेमिनाथ चरित) के रचयिता लक्ष्मणदेव ने भी "सक्कय पायउ देस—भास" से नम्रतावश अपना अपरिचय दिखाकर देशभाषा मे ही अपना काव्य लिखा।[2] ध्यान देने की बात यह है कि भामह ने जो भाषा-त्रयी अर्थात् "सस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश" की प्रथा चलाई उसी का निर्वाह पुष्पदन्त में और लक्ष्मणदेव मे भी देखते हैं। भेद इतना ही है कि अपभ्रंश के स्थान पर उन्होंने क्रमशः अवहंस और देशीभाषा का प्रयोग किया। परिणाम यही निकालना पड़ेगा कि अपभ्रंश=अवहंस=देशीभाषा। यह ठीक है कि प्रारम्भ में अवश्य अपभ्रंश अवज्ञाद्योतक शब्द था पर धीरे-धीरे रूढ़ होकर उसी तरह भाषा के लिये प्रयुक्त हो गया जैसे प्राकृत शब्द प्राकृत भाषा के लिये। स्वयभू जैसे कवि अरुचि के कारण, जैसा कि डा० हीरालाल ने लिखा है, अपभ्रंश शब्द के प्रयोग से बचते रहे हों[3] यह कल्पना आवश्यक नहीं। भरत से चले आते देशीभाषा शब्द का प्रयोग उन्होंने करना उचित समझा। अब्दुर रहमान, ज्योतिरीश्वर, विद्यापति और प्राकृत पैंगल के टीकाकार वंशीधर ने स्पष्टतः भाषा के लिये अवहट्ट शब्द का निस्संकोच प्रयोग किया है।

---

१. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ
छंदालंकार विसाल पोढ। (पाहुड दोहा की भूमिका, पृ० ४४ से)

२. ण समाणमि छंदु न बंधभेउ
णउ हीणाहिउ मत्तासमेउ
णउ सक्कउ पायउ देस भास
णउ सद्दु—वण्णु जाणमि समास। (पाहुड दोहा की भूमिका, पृ० ४५)

३. पाहुड दोहा—डा० हीरालाल जैन, भूमिका पृष्ठ ४६।

देशी शब्द और देशीभाषा मे कुछ विद्वानो ने बहुत अधिक अन्तर करने का प्रयत्न किया है। देशीभाषा का तात्पर्य सामान्यत प्रादेशिक भाषा है जो समय-समय पर बदलती रहती है—वही कभी प्राकृत है, कभी अपभ्रश और कभी आधुनिक आर्यभाषा।[1] १३ वी शताब्दी के ज्ञानेश्वर ने अपनी मराठी को देशीभाषा कहा है। हिन्दी कवियो ने निर्विशिष्ट भाषा ही कह दिया। देशी शब्द भी समयानुसार प्राकृत और अपभ्रश मे अलग रहे हैं। देशी शब्द तत्सम और तद्भव से भिन्न अव्युत्पन्न रूढ शब्द है।[2] परन्तु किसी भाषा की सम्पत्ति शब्द ही होते है और उसके स्वरूप का निर्णय करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र मे "शब्द" का प्रयोग केवल एक पद के लिये नही होता था, वह पद और उससे निर्मित वाक्य और महाकाव्य अर्थात् भाषा का अभिधायक समझा जाता था। भामह, दण्डी, मम्मट और पडितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा "शब्द" की है।[3] महाभाष्यकार ने शब्दानुशासन तथा वैयाकरणो ने प्राकृत शब्दानुशासन आदि मे शब्द को व्यापक भाषा के अर्थ मे ही लिखा है। देशी भाषा को या प्रादेशिक भाषा को उसके विशिष्ट शब्द अलग करते हैं। किस तरह उन शब्दो को अव्युत्पन्न प्रकृति और प्राकृत क्षेत्र मे सीमित कर हेमचन्द्र ने उनसे बनी देशी भाषा का नामकरण किया यह हम देख चुके हैं। वस्तुत प्रादेशिकता के साथ रूढ देशी शब्दो के प्रयोग से विशिष्ट भाषा देशीभाषा है।

इस विचार-शृंखला के अनुसार विद्यापति ने देशी वचन का प्रयोग अपने समय की देशीभाषा या लोकभाषा के लिये किया है जिसका स्वरूप उनकी पदावली मे है। उस देशभाषा-मिश्रित अपभ्रश मे विद्यापति ने कीर्त्तिलता की रचना की इसे मानने मे कोई आपत्ति नही। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" मे लिखा—एक ही कवि विद्यापति ने दो प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है—पुरानी अपभ्रश भाषा का और बोलचाल की देशीभाषा का। इन दोनो भाषाओ का भेद विद्यापति ने स्पष्ट रूप से सूचित किया है—

देसिल वअना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जपओ अवहट्ठा॥

अर्थात् देशीभाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रश (देशी शब्द मिला हुआ) मैं कहता हूँ। विद्यापति ने अपभ्रश से भिन्न, प्रचलित बोलचाल की भाषा को "देशीभाषा" कहा है।[4] शुक्ल जी इसी अर्थ मे देशीभाषा का प्रयोग इतिहास मे आवश्यकतानुसार करते रहे है। शिवनन्दन ठाकुर

---

१. हि० आ० अ०—तगारे, भूमिका पृ० ७।

२. प्राकृतं तत्सम देश्य तद्भव चेत्यदस्त्रिधा। त्रिविक्रम भूमिका पृ० ७।

३. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि, रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द॰ काव्यम्।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रा० च० शुक्ल, सामान्य परिचय, पृ० ५।

ने "कीर्त्तिलता" की भाषा को मैथिल अवहट्ट बताया है।[1] निष्कर्ष यही निकलता है कि अपभ्रंश काल मे (६ से १२ शताब्दी) देशीभाषा का अर्थ अपभ्रंश है क्योकि वही लोकभाषा थी। कालान्तर मे देशीभाषा अपभ्रंश से पृथक् है।

अपभ्रंश और आभीर

भरत ने अपने "नाट्यसूत्र मे शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल और आन्ध्र देशोत्पन्न तथा वनेचरो की हीनभाषा को नाटक में विभाषा के नाम से स्मरण किया है।[2] इन लोगो की उक्ति की गणना सप्त भाषाओ मे नही की है और इनका भाषाश्रित भाषण नाट्य मे निषिद्ध किया है।[3] अभिनवगुप्त ने प्राकृत भाषा का अपभ्रंश (विकृत रूप) विभाषा को स्वीकार किया है और इसके वक्ताओ को गह्वरवासी बताया है।[4] भरत ने गौ, घोड़े, बकरी, भेड, ऊँट इत्यादि के झुण्ड के साथ पड़ाव मे रहने वाले व्यक्तियो की भाषा को "आभीरोक्ति" कहा है।[5] इन सब कथनों से यह स्पष्ट है कि भरत के समय (तीसरी शताब्दी में) आभीरो की उक्ति को विभाषा के तौर पर नाटक मे स्वीकृति मिल गई थी। ये आभीर कौन थे, कहाँ से आये थे, इनका देश कौन-सा था और कैसे इनकी बोली को इतना अपनाया गया कि वह छठी शताब्दी मे साहित्यिक भाषा समझी जाने लगी इत्यादि प्रश्न समाधान की अपेक्षा रखते हैं।

महाभारत में सात प्रसंगो मे आभीरो की या आभीर देश की चर्चा आई है। सभापर्व मे नकुल की दिग्विजय का वर्णन करते हुए "सिन्धुकूलाश्रित ग्रामणीय महाबली शूद्राभीरगण की" चर्चा है और उसे सरस्वती नदी तक पहुँचा हुआ बताया गया है।[6] युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे जब अनेक उपहार उपस्थित किये जा रहे थे उस समय सिन्धु तटनिवासी आभीर भी भेंट और रत्न लेकर आये थे। उनकी भेंट मे बकरी, भेड, गाय, सोना, गधा, ऊँट और फल से (अगूर आदि से) बनी मदिरा तथा कम्बल प्रमुख थे।[7] भरत ने आभीरोक्ति मे जिन आभीरो का निर्देश किया है वे यही हैं। वे उस घुमक्कड़ जाति के हैं जो समुद्र तट से या सिन्धु नदी के तट से चलकर सरस्वती

---

१. महाकवि विद्यापति—शिवनन्दन ठाकुर अवहट्ट लेख।
२. नाट्यशास्त्र १७।५६।
३. नाट्यशास्त्र १७।४९ और ४६।
४. नाट्यशास्त्र अभि टीका ४९ पर।
५. गवाऽजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्तिः शाबरी वा द्राविडी वनचारिषु ॥१७।५६
६. सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबला
शूद्राभीर-गणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ॥ सभापर्व ३२ अ०, ८।१० श्लोक।
७. ते वैरामा पारदाश्च आभीरा. कितवै: सह
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च।
अजाविक गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु
कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिता. ॥सभा० ५१ अ०।१२-१३ श्लोक।

तट तक पहुँच गई थी। यही जाति सरस्वती के किनारे-किनारे उसके विनशन प्रदेश मे—जहाँ वह राजस्थान की मरुभूमि मे सूख जाती है—निकल जाती है। बलराम अपनी तीर्थयात्रा मे उस विनशन तीर्थ मे भी गये थे जहाँ शूद्र आभीरो के प्रति द्वेष के कारण सरस्वती लुप्त हो गई थी।[१] आभीर जाति के प्रति उस समय के आर्यो के ये द्वेष वचन है—क्योकि अपने व्यवसाय और लूटपाट के कारण वे बदनाम थे। अर्जुन ने जब मूसलाघात से अवशिष्ट वृष्णि वशज तथा अन्धकुलोत्पन्न स्त्रियो को साथ लेकर पचनद मे प्रवेश किया तो "लोभोपहतचेता पापकर्मा आभीरो ने" मन्त्रणा करके अर्जुन पर चढाई कर दी और उनके देखते-देखते अनेक स्त्रियों का अपहरण करके ले गये।[२] इन्ही आभीरो के विषय मे मार्कण्डेय ने बताया है कि कलिकाल मे "ये असत्यभाषी और मृषानुशासी" राजा होगे। आभीरो के साथ आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज और वाह्लीक का नाम दिया गया है।[३] इन सब का साहचर्य बताता है कि आभीर सिन्धु नदी और समुद्रकूल से ही नही अपितु और दूर से भारतवर्ष मे आये थे और धीरे-धीरे यहाँ बस गये थे। भीष्म पर्व मे जनपदो की गणना मे "क्षत्रियोपनिवेश पह्लव, गिरि गह्वर, शूद्राभीर, दरद और काश्मीर" का एक साथ उल्लेख है। ये सब प्रदेश भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के है।[४] महाभारत ने सिन्धु क्षेत्र मे आभीरो के प्रवेशानन्तर ही विशेष चर्चा की है।

अनेक इतिहासकार आभीरो को शको से पूर्व या उनके साथ पूर्व ईरान से भारत मे आया बताते है।[५] ईरान और कन्धार के बीच अबीर वनप्रदेश आभीरो के पूर्व निवास का सकेत करता है। भिलसा और झासी के बीच मध्यप्रदेश का अहीरवाट इलाका समुद्रगुप्त के शिलालेख मे निर्दिष्ट "आभीरवाट" का स्मरण कराता है। आभीर राजस्थान से आगे बढते हुए पश्चिम-दक्षिण और दक्षिण-पूर्व मे फैलते गये। भारत का पश्चिमी भाग अपरान्त कहाता है। अपरान्त मे कोकण के उत्तरी भाग तक इनका विस्तार हो गया। उत्तर प्रदेश मे विन्ध्याचल के साथ मिर्जापुर मे "अहरौरा" बस्ती है, बरेली के पास अहरौला गाँव है, देवरिया जिले मे "अहरौली" मौजा है, इस तरह की नाम वाली और भी अनेक बस्तियाँ हैं जो "आभीर पल्ली" का रूपान्तर हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आभीरो के वशज ही अहीर हैं, गाय पालना और दूध-दही

---

१. ततो विनशन राजन् जगामाथ हलायुधः
शूद्राभीरान् प्रति द्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती ॥ शल्य पर्व ३७।१

२. ततस्ते पाप-कर्माणो लोभोपहतचेतस
आभीरा मन्त्रयामासु. समेत्याशुभदर्शना ।
मौसल पर्व ७।४७ से ६३ तक दर्शनीय

३. महा० वन पर्व १८८ अ०।३५-३६ श्लोक।

४. महा० भीष्म पर्व ४७।६७।

५. विवेचन का प्रमुख आधार भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित "द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी" का आभीर प्रकरण पृ० २२१ और भविसयत्तकहा की श्री पी० डी० गुने की अग्रेजी भूमिका पृ० ५६ है। अन्य उल्लेख यथास्थान निर्दिष्ट हैं।

का व्यवसाय करना उनका व्यवसाय है। वे आभीर और अहीर कालान्तर में मगध तक फैल गये। पतजलि के महाभाष्य में १।२।७२ सूत्र पर "शूद्राभीर" को लेकर एक रोचक विवाद किया गया है कि इस शब्द का एकवचन क्या सामान्यवाची शूद्र का विशेष भेद आभीर को बताता है या कुछ और। भाष्यकार ने बताया कि आभीर शूद्र से भिन्न जाति है।[1] महाभारतकार ने तो एक स्थान पर इस जाति को क्षत्रिय तक कह दिया है और परशुराम के भय से पर्वत कन्दराओ मे निवास करते-करते "ब्राह्मण-दर्शन" से वृषल बना दिया है।[2] मनुस्मृति ने कल्पना की कि ब्राह्मण से अम्बष्ठकन्या मे उत्पन्न सतान आभीर है।[3] अम्बष्ठ भी रावी और सतलुज के बीच मे रहने वाली गण जाति थी। आभीर को भी गण जाति कहा गया है। पुराणो के अनुसार आभीर राजा सातवाहन के बाद उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे निवास करते थे। पैरिलप्स और टालसी के अनुसार अबीरिया (आभीराणा देश) सिन्धु की घाटी काठियावाड है। साराश यही है कि ईसा पूर्व पहली दूसरी शताब्दी मे ईरान से आकर सिन्धु नदी के किनारे अपरान्त; पंचनद मे और फिर धीरे-धीरे सरस्वती तट के साथ राजस्थान तक फैलते हुए आभीर लोग उत्तर-पश्चिमी भूभाग पर बस गये। यही फिर पूर्व मे फैलते सुदूर मगध तक पहुँच गये। ये पशुपालक, योद्धा और पराक्रमी थे। अन्त मे अपने बल से राजा भी बन बैठे।

आभीरो का शिलालेखो मे उल्लेख ईसा की दूसरी शताब्दी से मिलने लगता है। सर्वप्रथम शिलालेख १८१ ई० का क्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम का उत्तरी काठियावाड के गुण्ड प्रदेश मे उपलब्ध हैं जिसमे आभीर सेनापति रुद्रभूति के एक बृहत् सरोवर खुदवाने का वर्णन है। महाभारत ने आभीरो को द्रोण निर्मित गरुडव्यूह की ग्रीवा मे—अगली कतार में—खडा दिखाया है। ये लडाकू और वीर थे ही, सेना मे उच्च स्थान प्राप्त करते रहे। धीरे-धीरे सेनापति ही न रहकर ये महाक्षत्रप और राजा भी बनने लगे। १८८-९० ई० के महाक्षत्रप ईश्वरदत्त के चाँदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ३०० ई० के पास माठरी पुत्र ईश्वरसेन का नासिक गुफा का शिलालेख मिलता है। यह उत्तर-पश्चिमी दक्खन मे सातवाहनो और शको के अनतर उस क्षेत्र का अधिपति है। इसका राज्यक्षेत्र उत्तरी महाराष्ट्र तो है ही पर उसका विस्तार अपरान्त और लाट देश तक सभव है जहाँ कलचुरी या चेदि सवत् प्रचलित रहा है। इस सवत् को २४८-४९ मे प्रारम्भ करने वाला ईश्वरसेन ही है। आभीर चतुर्थ शती के मध्य तक राज्य करते रहे जब वे कदम्ब राजा मयूरशर्मा से पराजित हुए और उनका राज्य

---

१. इह तावच्छूद्राभीरमिति। आभीरा जात्यन्तराणि।

२. प्रजा वृषलता प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात्
एवं ते द्रविडाभीरा पुण्ड्राश्च शबरैः सह
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षात्रधर्मिणः ॥
महाभारत आश्वमेधिक पर्व २९/१६

३. मनु० अ० १०।१५

अर्जुनायनो के हाथ चला गया। ३६० ई० के समुद्रगुप्त के प्रसिद्ध इलाहाबाद शिलालेख मे मालव जाति के साथ आभीर जाति का उल्लेख है जो गुप्तराज्य की दक्षिण-पश्चिमी सीमा से सटे मालवा और राजस्थान को अपने आधीन किये हुए थी। इन आभीर राजाओ ने अपनी आभीरोक्ति को राजाश्रय दिया होगा जिसका परिणाम है कि छठी शताब्दी मे आभीरोक्ति साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त कर लेती है। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे रहते आभीर जाति ने वहाँ की भारतीय भाषा को कामचलाऊ तरीके से सीखा होगा और उसमे अपने देशी शब्दो का—विशेषतः क्रियापदो का—समावेश किया होगा। हेमचन्द्र की देशीनाममाला मे आभीरपल्ली और पशुपालन से सम्बद्ध अनेक देशीशब्द[1] इसकी पुष्टि करते हैं। पहले वह केवल आभीरोक्ति या विभाषा रही बाद मे भाषा पद पर राजनीतिक कारणो से प्रतिष्ठित हुई। आभीरो की यह भाषा व्यापक होकर अपभ्रश नाम से सपूर्ण उत्तरी भूभाग मे फैल गई।

अपभ्रंश और गुर्जर तथा अन्य जनजातियाँ

गुर्जर जाति के साथ भी अपभ्रश का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भोज ने गुर्जरो के विषय मे लिखा है "अपभ्रशेन नान्येन स्वेन तुष्यन्ति गुर्जरा" अर्थात् गुर्जरों को अपनी अपभ्रश भाषा ही अच्छी लगती है। रामशर्मा तर्कवागीश ने पचीस अपभ्रश भेदो मे गौर्जरी को स्थान दिया है यद्यपि उसकी विशेषता सस्कृत शब्द-बहुलता बताई है। मार्कण्डेय ने भी अपनी भूमिका में सत्ताइस अपभ्रशोक्तियो मे गौर्जर का नाम भी गिनाया है। गुर्जरो का अपभ्रशभाषा के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि गुजरात की प्राचीनभाषा को नागर अपभ्रश या परिनिष्ठित अपभ्रश समझा गया है। अभीरी और गौर्जरी का शिष्ट वर्ग द्वारा परिष्कार नागर अपभ्रश समझना चाहिये। इतिहासवेत्ताओ ने गुर्जरो को आभीर जाति की एक शाखा स्वीकार किया है। आभीर पश्चिमोत्तर सीमान्त से भारत मे आये यह पहले निरूपित किया जा चुका है। गुर्जरो की भी यही स्थिति है।[2] पश्चिमी पजाब (जो अब पाकिस्तान मे है) में जेहलम नदी के किनारे गुजरात का जिला, गुजरानवाला और गूजरखान शहर उन

---

१. कुछ थोड़े से उदाहरण—छाण, छिप्पदूर=गोमयखण्ड=चिपरी या गोइठा। छिप्पालो=सस्यासक्त गौ=हरा खेत चरने वाला साड, छिइडओ=दधिसरः=छाली, छिप्पालुअ=पूंछ, छिप्पीर=भूसा, छिल्ल=झोपडी, छवडी=चर्म,छिहिडिभिल्ल=दही, छुद्दहीरो=बच्चा (क्षुद्राभीरू ?) छेलओ=छगा, छंछुइ=कपिकच्छू, छेत्तमोवणयं=जागकर खेत की रखवाली करना, छिल्लर=पल्लव=छीलर, हिछोली=छिछली नदी, झोट्टी=भैस, झोडप्प=चना का पौदा, दुद्धगंधिअमुहो=बच्चा (दुग्धगन्धितमुख. ?) दुद्धिणिआ, दुद्धिआ=दुग्धपात्र, दुद्धोलणी=दुही हुई गाय, जो फिर दुही जाय इत्यादि।

2 The Gurjaras of Rajputana and Kannauj—V. Smith, R A. S (1909) 'Gurjaras were an Asiatic horde of nomads, who forced their way into India alongwith or soon after the white Huns in either the fifth or the sixth century'.

गूजरों, गुर्जरों के प्रसार की दिशा प्रदर्शित करते हैं। आधुनिक गुजरात प्रान्त का यह नाम बहुत प्राचीन नहीं है। इससे पूर्व गुप्तवंश के पतनोपरान्त छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में राजस्थान में जोधपुर के समीपवर्ती क्षेत्र को गुर्जरों ने अपने आधिपत्य में लेकर गुर्जरत्रा या गुजरात नाम दिया था। १८वीं सदी में सहारनपुर को भी गुजरात कहा जाता था और ग्वालियर का एक जिला अब भी गूजरगढ़ कहा जाता है। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में अर्थात् पंजाब, उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग, विशेषतः हिमालय की तराई, पश्चिमी राजस्थान और गुजरात प्रान्त में अब भी गूजर लोग फैले हुए हैं। पहाड़ की तराई के गूजरों का पेशा अब तक गाय और भैंस का पालना भी है। छठी शताब्दी से राजस्थान और कन्नौज में इन्होंने आधिपत्य जमाया और प्रतिहार वंश के प्रसार के साथ शासनसूत्र अपने हाथ में लिया।[1] गुजरात में ये फैले और इनकी भाषा शिष्ट नागर रूप लेकर समादृत हो गई। आभीरों और गुर्जरों की तरह अन्य जातियाँ भी, जिनका उल्लेख भरत और उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने किया है, अपभ्रंश में योगदान देती रही हैं।

अपभ्रंश भाषा की प्रकृति

पिशल ने अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये—"मोटे तौर पर देखने से पता चलता है कि प्रामाणिक संस्कृत से जो बोली थोड़ा बहुत भी भेद दिखाती है, वह अपभ्रंश है। इसलिये भारत की जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का नाम अपभ्रंश पड़ा और बहुत बाद को प्राकृत भाषाओं में से एक बोली का नाम भी अपभ्रंश पड़ा। यह भाषा जनता के रात-दिन के व्यवहार में आने वाली बोलियों से उपजी और प्राकृत की अन्य भाषाओं की तरह थोड़ा-बहुत हेर-फेर के साथ साहित्यिक भाषा बन गई।"[2]

पिशल की यह स्थापना अब तक के विवेचन से पुष्ट ही होती है। इसमें दो अंश प्रधान हैं—१. संस्कृत से विभिन्नता, और २. जनभाषा या लोकभाषा तत्त्व। पहले तत्त्व के स्पष्टीकरण में यह प्रश्न उठता है कि अपभ्रंश की प्रकृति या मूल क्या है। सभी वैयाकरणों ने अपभ्रंश को प्राकृत का एक भेद स्वीकार किया है। प्राकृत नाम की व्युत्पत्ति में एक दो वैयाकरणों को छोड़कर सभी सहमत हैं कि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत ही है। वररुचि ने पैशाची और मागधी की प्रकृति शौरसेनी बताई है। परन्तु जब प्रश्न आया कि शौरसेनी की प्रकृति क्या तो उन्होंने कहा "प्रकृतिः संस्कृतम्"। शौरसेनी के प्रकरण को समाप्त करते हुए "शेषं महाराष्ट्रीवत्" के द्वारा शेष महाराष्ट्री प्राकृत की तरह भाषा की संघटना बताई। इस महाराष्ट्री के प्रयोग से ही यह निष्कर्ष निकलता है कि नवम परिच्छेद तक सूत्रों का सम्बन्ध महाराष्ट्री

---

1. The Classical Age—R. C. Majumdar (Bharatiya Vidya Bhavan), page 64.
2. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—पिशल, पैराग्राफ २८, पृ० ५७।

या सामान्य प्राकृत से है ।[1] इस परिच्छेद की समाप्ति पर "शष. संस्कृतात्" अर्थात् शेष प्रत्यय, समास, तद्धित, लिंग, वर्णादि विधि सस्कृत से ही समझनी चाहिये । शौरसेनी की प्रकृति सस्कृत और महाराष्ट्री के शेष नियम सस्कृत से निर्धारित कर वररुचि ने यह प्रदर्शित किया कि प्राकृत भाषाओ की प्रकृति सस्कृत ही है ।

हेमचन्द्र ने अथ प्राकृतम् ८ । १ । १ सूत्र की व्याख्या मे लिखा "प्रकृतिः सस्कृतम् । तत्र भव तत आगतं वा प्राकृतम् । सस्कृतानन्तर च प्राकृतस्यानुशासनम् सिद्ध-साध्यमान-भेदसस्कृतयोनेरेव तस्य लक्षण न देश्यस्य इति ज्ञापनार्थम् ।" उन्होने भवार्थ या आगतार्थ मे तद्धित प्रत्यय अण् करके प्राकृत की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की और इस प्रकार प्रकृति का अर्थ मूल अर्थात् सस्कृत ही कर दिया । एक वात विशेष उल्लेखनीय यह है कि वे प्राकृत के उसी अश का लक्षण देने के लिये प्रवृत्त हुए हैं जो सिद्ध और साध्यमान भेद से सस्कृत मूलक है, प्राकृत के देश्य या देशी अंश का लक्षण नही दे रहे हैं । ग्रन्थ की समाप्ति "शेष सस्कृतवत् सिद्धम्" से है ।

त्रिविक्रम ने देश्य शब्दो के तथा अन्य रूपसिद्धियो के प्रमाणार्थ प्रथम सूत्र "सिद्धिर्लोकाच्च" मे लोक व्यवहार का ही निरूपण किया और उसके वाद अपने लक्षण सूत्रो या अन्य शब्दानुशासनो को स्थान दिया । अपनी द्वादशपदी की समाप्ति पर "शेष सस्कृतवत्" से अवशिष्ट रूपो की सिद्धि सस्कृत की तरह वताकर सस्कृत को प्रकृति सिद्ध किया । तदनन्तर "झडगास्तु देश्या सिद्धा" लिखकर जो कार्य हेमचन्द्र ने एक पृथक् ग्रन्थ देशीनाममाला वनाकर किया था उसे इसी सूत्र की व्याख्या मे कर दिया । लक्ष्मीधर ने षड्भाषाचन्द्रिका के १ । १ । २ की व्याख्या मे लिखा अथ त्रिविधा प्राकृति भाषा । देश्या, तत्समा, तद्भवाचेति[2] । आद्या लक्षण निरपेक्षा सप्रदायादेव भवति ।···तत्समा सस्कृत समा···इय तु सस्कृत मार्गेणैव भवति । तद्-भवा सस्कृतभवा । सा च प्रकृतिभूतस्य सस्कृतस्य सिद्धावस्थापेक्षया साध्यावस्था-पेक्षया च जायमानत्वात् सिद्धा साध्या चेति द्विविधा भवति । द्विविधाया अपि सिद्ध्यर्थ-मिद शास्त्रमारब्धव्यम्" । प्राकृत भाषा का देश्य, तत्सम और तद्भव विभाजन करके लक्ष्मीधर पहले दो के लिये लक्षणो की आवश्यकता नही समझते । केवल तद्भव की सिद्धि के लिये लक्षण की आवश्यकता है । उस तद्भव प्राकृत की प्रकृति सस्कृत ही है ।

मार्कण्डेय, धनिक, सिंह देवगणिन्, प्राकृत चन्द्रिका, प्राकृतशब्द प्रदीपिका, कर्पूर मंजरी की सजीवनी टीका सभी ने हेमचन्द्र के निर्वचन को मानकर प्रकृति अर्थात् सस्कृत से निकली भाषा को प्राकृत स्वीकार किया है ।[3] ध्यान देने की वात है कि

---

१. काव्यादर्श में दण्डी ने कहा है 'महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।'
२. दण्डी ने भी कहा है—"तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेक प्राकृत क्रमः" ।
३. प्रकृतिः सस्कृतम् तत्र भव प्राकृतम् उच्यते । प्राकृत सर्वस्व १ ।
प्रकृतेरागत प्राकृतम् । प्रकृति संस्कृतम् । दशरूप टीका २ । ६० ।
प्रकृतेः सस्कृतादागत प्राकृतम् । वाग्भटालंकार २।२ की टीका ।
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् । प्राकृत च० पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट के ३४३ ७ में ।

वररुचि ने प्रकृति का अर्थ सस्कृत नही किया था, अन्यथा वे मागधी और पैशाची की प्रकृति शौरसेनी कैसे कहते ? उन्होने शौरसेनी की प्रकृति सस्कृत अवश्य कहा था। परन्तु इससे प्रकृति का अर्थ सस्कृत नही निकलता। वररुचि एक वैयाकरण और भाषा वैज्ञानिक की दृष्टि से यह बता रहे थे कि शौरसेनी और महाराष्ट्री भाषा की प्रकृति को, स्वभाव को, या भाषा संघटना को जानना है तो उसका आधार सस्कृत है। मागधी अपनी संघटना मे शौरसेनी की निकटवर्तिनी है। वररुचि के समय तक भाषा के सस्कृत और प्राकृत विशेषण सयुक्त हो चुके थे अत. सस्कृत भाषा का प्रकृति रूप मे निर्धारण ठीक ही है।

रूद्रट के काव्यालंकार २।१२ पर टीका करते हुए नमिसाधु ने "सकलजगज्जन्तूना" "व्याकरणादिभिरनाहितसस्कार सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः। तत्र भव सैव वा प्राकृतम्—पाणिन्यादि व्याकरणोदितशब्दलक्षणेन सस्करणात् सस्कृतमुच्यते।" लिख कर यह सम्मति दी कि सभी प्राणियो का व्याकरणादि के सस्कार से शून्य सहज वचन व्यापार प्रकृति है। उससे उत्पन्न या उसे ही प्राकृत कहना चाहिये। पाणिनि आदि व्याकरणोक्त लक्षणो से परिष्कृत सस्कृत कही जाती है। कुछ वैयाकरणों ने "प्राक्+कृत" निर्वचन के आधार पर सस्कृत से पूर्व बनी भाषा को प्राकृत कहा है।[1] गउड वहो के रचयिता वाक्पतिराज ने भी अत्यन्त व्यापक अर्थ मे प्राकृत का प्रयोग किया है। उन्होने सभी भाषाओ का मूल प्राकृत को ही स्वीकार किया।[2] हम पहले ही देख चुके हैं कि भरत और अभिनवगुप्त भी "प्रकृति अर्थात् असस्कार रूप से आगत" को प्राकृत बता चुके थे। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी लोकभाषा को प्राकृत और उसके परिष्कृत शिष्टसम्मत रूप को सस्कृत कहते हैं। अत उनके सामने समस्या आ जाती है कि प्राकृत की प्रकृति सस्कृत कैसे बन सकती है। वे प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्राकृतो की कल्पना कर प्रथम प्राकृत के ही सस्कृत रूप को सस्कृत कहते हैं। महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि प्राकृत को कालदृष्टि से सस्कृतोत्तरवर्त्ती द्वितीय प्राकृत कहते हैं और मानते हैं कि सस्कृत के साथ जो लोकभाषा चल रही थी उसी के ये रूप हैं।[3]

आपातत दोनो मत विरोधी मालूम होते हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों मे पूर्व-प्रतिपादित विवेचन के आधार पर सामजस्य स्थापित किया जा सकता है।

१. सस्कृत और प्राकृत भाषा के विशेषण हैं। दोनों का प्रयोग उस काल मे हुआ जब दोनो की पदसघटना स्पष्ट पृथक् हो गई थी। उससे पूर्व निर्विशिष्ट

प्रकृते संस्कृतायास्तु विकृति' प्राकृतीमता। नरसिंह की प्राकृत शब्द दीपिका प्राकृतस्य तु सर्वमेव सस्कृत योनिः। सजीवनी टीका। पिशल से उद्धृत।

१. पिशल के आधार पर डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल प्राकृत विमर्श में पृ० २ पर।

२. सयलाओ इय वाया विसन्ति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं॥

3. Linguistic Survey of India, Vol. I by G. Grierson

"भाषा" शब्द लोकभाषा के लिये ही प्रयुक्त था जो यास्क से पतजलि तक लोक में प्रयुक्त हो रही थी।

२. यही निर्विशिष्ट लोकभाषा टकसाली या प्रामाणिक बनकर कालान्तर मे सस्कृत कहलाई। इसी लोकभाषा की प्रकृति के आधार पर विकसित होकर प्राकृत-भाषा पनपी। अतः मूलभूत लोकभाषा या प्राकृत जन प्रयुक्त भाषा की दृष्टि से इसे प्राकृत कह दिया जाय अथवा उसके लिये पश्चाद्वर्ती रूढ शब्द संस्कृत का प्रयोग कर सस्कृत-प्रकृति-प्रसूत कह दिया जाय तो कोई विशेष अन्तर नही पड़ता। पिशल ने भी इसे दूसरे रूप मे स्वीकार ही किया है।[1]

३ प्राचीन वैयाकरण और आजकल के वे भाषावैज्ञानिक भी जो सस्कृत को प्राकृत की प्रकृति नही मानते जब प्राकृत भाषा का निरूपण करने लगते हैं या तत्सम और तद्भव से पृथक् देशी शब्द का विवेचन करने लगते हैं तो मूल सदा संस्कृत को ही स्वीकार करके चलते हैं। इसी को अभिनव गुप्त ने "सस्कृतापभ्रंशस्तुभाषा" कहा था।

४ इसी पद्धति मे प्राकृत से अपभ्रंश का निकलना समझना चाहिये जैसा कि अभिनव गुप्त ने "भाषापभ्रंशस्तु विभाषा" मे कहा या नारायण के गीतगोविन्द ५/२ की टीका मे "सस्कृतात् प्राकृतमिष्टम्, ततोऽपभ्रंशभाषणम्" उद्धरण है। लोक-भाषा की धारा का एक रूप सस्कृत रहा; वही फिर कालान्तर मे प्राकृत हुआ और समयान्तर मे अपभ्रंश हुआ। उक्तिव्यक्ति विवेककार तो अपभ्रंश मे छिपी संस्कृत का ही सकेतज्ञान करने के लिये अपने ग्रन्थ मे प्रवृत्त हुए हैं।

अपभ्रंश भाषा का वर्गीकरण

भाषाओ के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिये भाषा वैज्ञानिको ने पारिवारिक वर्गीकरण का आश्रय लिया है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति के द्वारा किसी भाषा-विशेष का परिवार, शाखा, और वर्ग मे स्थान निरूपित किया जाता है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान ने देश और काल की पीठिका मे इस विषय की अध्ययन विधि के प्रतिपादन द्वारा इसको और अधिक सुसबद्ध तथा विशद बना दिया है। भारतीय वैयाकरणों, आलंकारिको और साहित्यिको के विवेचन से भी कालानुक्रम और देश-निर्धारण पर प्रकाश पडता है। भारतीय भाषाओ के लिये निर्विशिष्ट भाषा का प्रयोग तात्कालिक बोल-चाल की भाषा के लिये है। वही भाषा विशेषणयुक्त होकर विशिष्ट काल का निर्देश करती है। वैदिक या छान्दस भाषा सबसे प्राचीन है, तदनन्तर लौकिकभाषा (पतजलि के शब्दो मे) या सस्कृतभाषा का काल है, प्राकृत का समय इसके बाद है—इन्ही के लिये भरत पारिभाषिक-शब्दावली अतिभाषा,

1 It is now generally admitted that classical Sanskrit from which the grammarians derive the Prakrit is the literary form of a Slightly different colloquial language, which is in fact the Parent of Prakrits, (Desinammala, Introduction I, Page 10).

आर्यभाषा और जातिभाषा है। प्राकृत के अनन्तर अपभ्रंश की स्थिति आती है जिसे अपने समय मे देशीभाषा भी कहा जाता रहा है। भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तानुसार कोई विभाषा, उक्ति या बोली विशिष्ट कारणो से भाषा का रूप धारण करती रही है। उपर्युक्त सभी भाषाएँ किसी समय लोक-प्रचलित विभाषाएँ रही होंगी और प्राकृत जन या जनसाधारण मे बोलचाल मे काम आती रही होगी। भाषा के विद्यार्थी के लिये यह सचमुच बड़ी समस्या है कि भाषा का वास्तविक बोलचाल का स्वरूप, जो उच्चारण और श्रवण का विषय है, उपलब्ध न होकर उसका साहित्यिक परिष्कृत शिष्ट रूप मिलता है। व्याकरण और अलकार-शास्त्र भी उसी भाषा का लक्षण विधान करते है। उसे इसी सामग्री मे से छानबीन कर भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करना होता है। वह सचेत रहता है तो अनेक सकेतो से उस साहित्यिक भाषा के लोकभाषारूप का भी ग्रहण कर लेता है। जो भाषा-वैज्ञानिक यह कह बैठते हैं कि वेद से लेकर अपभ्रंश के साहित्य तक मे जो भाषा मिलती है वह सर्वथा कृत्रिम है और लोकभाषा से विच्छिन्न है, वे यह भूल जाते है कि साहित्य मे प्रयुक्त भाषा कितनी भी परिष्कृत हो, उसका आधार बोलचाल की भाषा अवश्य रही है। यदि बँगला, गुजराती, मराठी या हिन्दी (खड़ी बोली) के साहित्य की भाषा को हम कह दें कि वह लोकभाषा नही है और सर्वथा कृत्रिम है तो कोई स्वीकार करने को प्रस्तुत न होगा। वही बात उपर्युक्त भाषाओ के विषय मे भी समझनी चाहिये।

काल की दृष्टि से विभाजन के अतिरिक्त देशगत विभाजन की ओर भी भारतीय मनीषियो का ध्यान रहा है। पाणिनि ने अपनी प्रामाणिक भाषा के विकल्पो को—अर्थात् लोक-सम्मत अनेक रूपो को—विभाषा, अन्यतरस्यां, वा, बहुलम् आदि शब्दो के द्वारा तो निर्धारित किया ही है, "प्राच्याम्" "उदीच्येषु" आदि के कथनो द्वारा विभिन्न देशप्रयोगो की ओर ध्यान भी खीचा है। वैदिक भाषा आर्यों के प्रसार के साथ साथ क्रमश. उदीच्य प्रदेश, मध्यदेश और प्राच्य प्रदेशो मे प्रसृत होती गई। ब्राह्मण ग्रन्थो मे उदीच्या भाषा की, जिसका क्षेत्र गान्धार और पचनद था, उत्कृष्टता और शुद्धता का कथन किया गया है।

तस्मादुदीच्या प्रज्ञाततरा वागुच्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्; यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति" (शाखायन कौषीतकी ७।६)।

अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त मे व्रात्य की बहुत अधिक प्रशसा की गई है। उसकी अभ्यर्थना और समादर के विना कोई शुभ कार्य निष्पन्न ही नही हो सकता। वहीं व्रात्य मनुस्मृति मे "सावित्रीपतित" और "आर्यविगर्हित" है। अथर्ववेद उत्तरकाल की रचना है जब आर्य प्राच्य देशो मे आकर बस गये थे और स्थानीय आदिमवासियो से अनेक प्रकार की प्रथायें और गुप्त जादू आदि सीख चुके थे। उन व्रात्यो पर कटाक्ष करते हुए ताण्ड्य ब्राह्मण ने कहा—

अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहु। अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति (१७।४)।

"बोलने मे जो कठिन नही है उसे भी बोलने मे कठिन कहते हैं। वे स्वय अदीक्षित हैं

पर दीक्षित वाणी (उदीच्या) को बोलते हैं।" जो उदीच्य के लिये अदुरुक्त है वही प्राच्य के लिये दुरुक्त हो गया। प्राच्य देशो मे छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध ने संस्कृत के स्थान पर देशीभाषा में ही अपने प्रवचन प्रारम्भ किये और उनके उपदेशो का सग्रह उन्ही की भाषा पालि तथा अर्धमागधी मे किया जाने लगा। अशोक ने अपने शिलालेखो की भाषा पालि ही रखी। मौर्यवंश की समाप्ति पर मगध पुन ब्राह्मणो के आधिपत्य मे आया और संस्कृत राजभाषा बनी। अश्वमेधयज्ञ कराने वाले पतजलि ने उदीच्य और मध्यदेश की शिष्टभाषा संस्कृत को ही लोकभाषा स्वीकार किया। गुप्तकाल मे सस्कृत का महत्त्व और बढ़ गया। परिणामत· प्राच्य क्षेत्र की प्राकृतो को, विशेषत. मागधी को, हीन दृष्टि से देखा जाने लगा और नाटको मे वह हीनपात्रो मे सीमित रह गई। यो संस्कृत में पाटलिपुत्र की जो ख्याति हुई, उसके विषय मे राजशेखर ने लिखा है—

"श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडि:
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिता. ख्यातिमुपजग्मु.।।का०मी० १० अ०

राजशेखर ने ख्याति सुनी कि शास्त्रकारो की परीक्षा पाटलिपुत्र मे होती है। इस परीक्षा मे शालातुरीय, उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश (आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान) के रहने वाले पाणिनि को भी, जिनकी भाषा उदीच्या थी, लाया गया।

उदीच्य और प्राच्य के मध्य मध्यदेश की स्थिति है। "पंचनद से पूर्व की ओर बढ़ते हुए सरस्वती नदी के तटवर्ती सारस्वतप्रदेश या ब्रह्मावर्त्त क्षेत्र मे आर्यों ने अपनी संस्कृति और भाषा को बहुत समृद्ध किया"। (वैवस्वत मनु इस प्रदेश के नेता रहे। मनुस्मृति मे इसी क्षेत्र के लिये कहा गया—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन: ।
स्व स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ।।

वैदिक भाषा का यह उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य भेद कालान्तर मे संस्कृत तथा उत्तरवर्ती भाषाओ मे भी बना रहा। देशी भाषा के विवेचन ने विभिन्न प्रदेशों का स्पष्ट उल्लेख समाविष्ट कर दिया। अलंकारशास्त्री या वैयाकरण जब संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीन भाषाओं का परिगणन करते हैं तब प्रादेशिकता को विचार में नही लाते। परन्तु ज्योंही उनके भेदो का विवेचन करने लगते है प्रादेशिकता का ध्यान चला ही आता है। भरत की सप्त भाषा गणना मे सभी नाम देश के आधार पर हैं। प्राकृतो के चार मुख्य भेद महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची में प्रथम तीन विभिन्न रूप मे देश के आधार पर ही नाम हैं, भले ही महाराष्ट्र की सीमा पर विवाद हो, पैशाची भी पिशाच देश पर ही आधारित है—यह पिशाच देश उत्तरी पश्चिमी सीमान्त है या पूर्वी उत्तरी इस पर विवाद है।

अपभ्रंश भाषा के प्रादेशिक भेदो के विषय में प्राच्य क्षेत्र के वैयाकरणो ने

गणना करने का प्रयत्न किया है। रामशर्मा तर्कवागीश और मार्कण्डेय ने इस विषय का विस्तार भी किया है। यद्यपि उस दिशा का निर्देश पुरुषोत्तम पहले कर चुके थे। पुरुषोत्तम ने अपभ्रंश के मुख्य भेद नागरक, ब्राचड, और उपनागर लिखे हैं।[१] तदनन्तर पाञ्चालादियों को सूक्ष्मान्तर तथा लोकगम्य बताकर, वैदर्भी, लाटी, लट्टी, कैकेयी, गौडी इत्यादि की भेदक विशेषता को एक-एक सूत्र मे निबद्ध किया है। अन्त में इसी प्रकार ढक्क, बक्कर, कुन्तल, पाण्डि, सिंघलादि भाषाओं को अनुमान करने के लिये कहा है।[२]

तर्कवागीश ने 'प्राकृत कल्पतरु' की तीसरी शाखा के दूसरे स्तवक के ३१ पद्यों में अपभ्रंश के जो नियम दिये हैं वे नागर अपभ्रंश के हैं। तीसरे स्तवक मे उन्होंने बताया है कि ब्राचड अपभ्रंश सिन्धुदेश में प्रसिद्ध है और उसकी सिद्धि नागर से हो जाती है। तदनन्तर ब्राचड की कुछ विशेषताएँ देकर उपनागर को पूर्ववर्णित दोनो भाषाओं का संकर बताया है। टाक्की विभाषा को उपर्युक्त तीनो भाषाओ के मिश्रण से टाक्की अपभ्रंश निर्धारित किया है। नागर ब्राचड आदि अपभ्रंश भेद ही कुछ विशेषताओं के कारण पांचालिका आदि २० अन्य भेदों में परिणत होते बताये गये हैं। उनके नाम हैं—

पाञ्चालिका, मागधी, वैदर्भिका, लाटी, औड्री, कैकेयिका, गौडी, कौन्तली, पाण्डी, सैंहली (मूल पाठ सैप्पली है, पर मार्कण्डेय के अनुसार सैंहली होना चाहिये), कलिंगजा, प्राच्या, आभीरिका, कर्णाटिका, मध्यदेश्या, गौर्जरी, द्राविडी, पाश्चात्यजा, वैतालिकी, काञ्ची। भारतवर्ष के विभिन्न भूविभागो के आधार पर ये नाम हैं। वैतालिक अवश्य किसी प्रदेश का नाम अभी तक ज्ञात नही है।[३] इस गणना के बाद तर्कवागीश ने लिखा है कि—तद्देशीय भाषापद संप्रयोग से और भी अपभ्रंश हो सकते हैं परन्तु उनका विशेष उल्लेख इसीलिये नही किया कि उन भेदों का निर्धारण कठिन है। मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व की भूमिका में "सूक्ष्मभेद व्यवस्थित" २७ अपभ्रंश

१. प्राकृतानुशासन के १७ वें अध्याय में १ से ६० सूत्र तक नागरक अपभ्रंश का, १८ वें अध्याय में १ से १३ सूत्र तक व्राचड का और १४, १५ सूत्र में नागर और व्राचड के सांकर्य से उपनागरक की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है।

२. प्राकृतानुशासन १८।१६-२३ सूत्र।

प्राकृत कल्पतरु ३।३।१३ पराण्यपभ्रंशभिदास्ति तत्त—
देशीय भाषा पदसम्प्रयोगात्
न ता विशेषादिह सम्प्रदिष्टा
भेदो यदस्यामतिदुर्विकल्पः॥

ग्रियर्सन ने तद्देशीय भाषापद से प्रयोग का तात्पर्य लिया है।
Classification, not according to special characteristics, but according to local dialects of the Desya words borrowed by it. Indian Antiquary, Page 5.

३. भरत के १७।५८-६२ श्लोकों में तकारबहुल भाषा को चर्मण्वती अर्बुद (चम्बल नदी—आबू पर्वत) प्रदेश की भाषा कहा गया है। तर्कवागीश की तकारबहुला वैतालिकी यही हो सकती है।

गिनाए हैं। इस सूची के नागर, व्राचड, उपनागर और टाक्क तर्कवागीश मुख्य अपभ्रंश मे गिन ही चुके थे। बर्बर, आवन्त्य, मालव, आन्ध्र और वैव पाँच नवीन हैं। तर्कवागीश की सूची मे मागधी और औड्री इससे भिन्न हैं। "वैव" कौन प्रदेश है यह निश्चय करना कठिन है, सम्भवत. षड्भाषाचन्द्रिका के २९ वें पद्य मे लक्ष्मीधर ने पैशाची का भेद "हैव" माना है, उसी का भ्रष्ट पाठ "वैव" हो। यह सब गणना भारत के ज्ञात भौगोलिक भूभागो के आधार पर ही की गई। भरत ने जो नाम अपने नाट्यशास्त्र मे दे दिये थे उनको भी कथंचित् समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुत इस तरह के अपभ्रंश के भूरिभेद रहे होंगे यह कल्पना तर्क-संगत नही प्रतीत होती। स्वय मार्कण्डेय इस सूची से सन्तुष्ट न थे। उन्होंने कहा

नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रय.।
अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मता ॥

नागर, व्राचड और उपनागर ये तीन ही अपभ्रंश हैं। यदि उपर्युक्त पद्धति पर चलें तो "सहस्रधा" भेद भी कहा जा सकता है।[1] प्राकृत वैयाकरणो के इस क्षेत्रीय विभाजन के आधार पर ही ग्रियर्सन जैसे व्यक्तियो ने आ० भा० आ० के मूल मे एक-एक अपभ्रंश की कल्पना कर ली है जिससे डा० चाटुर्ज्या ने अपनी असहमति प्रकट की है। इस विवेचन से इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि भारतवर्ष के विस्तृत भूभाग मे अपभ्रंश भाषा प्रचलित हो चुकी थी और उसमे स्थानीय विशेषताओ के अन्वेषण का प्रयत्न वैयाकरण करने लगे थे। नागर या परिनिष्ठित अपभ्रंश ही व्यापक रूप मे साहित्य का माध्यम बना हुआ था अत. उपलब्ध साहित्य मे उन क्षेत्रीय विशेषताओ का अन्वेषण असम्भव-सा है। ग्रियर्सन ने तर्कवागीश और भरत द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ की विशेषताओ की तुलना करके यही निष्कर्ष निकाला है कि उन दोनो मे कोई मेल नही है और उनका एक कथन भी परस्पर नही मिलता।[2] फिर भी प्रबन्ध मे यथास्थान उपलब्ध कुछ विशेषताओ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

अध्ययनार्थ आधार

प्रश्न उठता है कि यदि वैयाकरणो का विस्तृत क्षेत्रीय विभाजन अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य के अध्ययन के लिए कोई प्रबल आधार उपस्थित नही करता तो क्या आधार बनाया जाय। डा० गजानन वासुदेव तगारे ने साहित्यिक कृतियो के रचना-स्थान को आधार बनाकर अपभ्रंश का वर्गीकरण (१) पश्चिमी अपभ्रंश (२) दक्षिणी अपभ्रंश और (३) प्राच्य अपभ्रंश मे किया है। पश्चिमी अपभ्रंश के मुख्य कृतिकार कालिदास, जोइन्दु, रामसिंह, धनपाल, हरिभद्र, हेमचन्द्र और सोमप्रभ हैं। दक्षिणी

---

१. 'शेषादिशभाषाविभेदात् इति तेनैवोक्तत्वात्। एवंविधभेदहेतुकल्पने सहस्रधाऽपि वक्तु शक्यत्वात्।' मार्कण्डेय ने इसमें तेनैव द्वारा सम्भवत तर्कवागीश का निर्देश किया है।

२. Indian Antiquary, January, 1923.

अपभ्रंश के मुख्य कवि पुष्पदन्त और कनकामर दिये गये हैं यद्यपि कनकामर बुन्देलखंड के थे या विदर्भ के इस पर विवाद है। प्राच्य अपभ्रंश के मुख्य लेखक कण्हपा और सरहपा समझे गये हैं, यद्यपि स्पष्ट रूप में अवहट्ट भाषा में रचना करनेवाले विद्यापति भी हैं। श्री तगारे ने ५वी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक ही अपभ्रंश लेखकों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। इस वर्गीकरण पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सबसे बड़ी आपत्ति यही उठती है कि परिनिष्ठित या नागर अपभ्रश भाषा ही शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी बनकर पंजाब से बगाल तक और हिमालय की तराई से बरार और गुजरात तक फैली हुई थी। एक ओर पुष्पदन्त और स्वयभू की रचना तथा दूसरी ओर धनपाल और रामसिंह की रचना में भाषा की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर लक्षित नही होता। प्राच्य अपभ्रश के लेखको की भाषा भी पश्चिमी अपभ्रंश से पृथक् अस्तित्व नही रखती, भले ही कुछ प्राच्य विभाषाओ का उस पर प्रभाव हो। डा० शहीदुल्ला ने अपनी पुस्तक "लेशाँ मिस्ती के" की भूमिका मे बताया है कि प्राकृत के प्राच्य सम्प्रदाय के वैयाकरण मार्कण्डेय तर्कवागीश आदि द्वारा प्रतिपादित अपभ्रश के लक्षण कण्ह तथा सरह की भाषा मे उपलब्ध होते हैं और तिब्बती परम्परा के आधार पर उसे बौद्ध अपभ्रश कहना चाहिये। जैसा आगे हम उद्धरणो मे देखेंगे वैयाकरण प्रतिपादित ऐसा कोई लक्षण नही जो पश्चिमी अपभ्रश से उसे पृथक् करे। पुरुषोत्तम जैसे वैयाकरण के, जो "नमो बुद्धाय" लिखकर अपना ग्रन्थ प्रारम्भ करता है, प्राच्य विभाषा मे निर्धारित लक्षण कण्ह और सरह की भाषा मे नही हैं। डा० चाटुर्ज्या की तो सम्मति है कि प्राच्यक्षेत्र के कवियो ने अपनी उक्ति (बोली) का बहिष्कार कर अपभ्रशकाल की शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया।[1]

विद्यापति की कविता की भाषा अवहट्ट को भी डा० चाटुर्ज्या ने शौरसेनी अपभ्रंश का उत्तरकालीन रूप बताया है।[2] स्वय श्री तगारे को दक्षिणी अपभ्रंश के विभाजन मे आशका थी अतः उन्हे भूमिका बाँधनी पडी कि ये पाण्डुलिपियाँ गुजरात तक यात्रा कर आईं अतः उन पर पश्चिम प्रभाव पड गया हो यह असम्भव नही है।[3] शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी प्राकृत के अनुक्रम मे पश्चिमी, दक्षिणी और प्राच्य अपभ्रश की सभावना अवश्य उत्पन्न होती है भले ही उपलब्ध साहित्य से इसकी पुष्टि न हो। शिला लेखी प्राकृतो में डा० मेहन्दाले ने अध्ययनार्थ दक्षिणी, पश्चिमी, मध्यदेशीय और प्राच्यभेद स्वीकार किये हैं, यद्यपि प्राच्य के शिलालेख बहुत कम उपलब्ध हैं।[4] प्राचीन वैयाकरण उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य क्षेत्रो की बात करते हैं।

---

1. Possibly Saurseni was the polite language of the day when people employed a Vernacular, and in the Apabhransa period, eastern poets employed the Saurseni Apabhransa, to the exclusion of their local patois--The Origin and the Development of the Bengali language by Dr. S K Chatterjee, Page 91.
2. The Origin and the Development of the Bengali Language, Page 91.
3. Historical Grammar of Apabhransh. Page 18.
4. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits—Dr. M A. Mehandale Introduction, Page 15.

अत: अध्ययनार्थ पश्चिमी अपभ्रंश या शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश को ही मुख्य और आदर्श भाषा मानकर केवल क्षेत्रगत विशेषताओ के प्रदर्शनार्थ दक्षिणी, मध्य-देशीय और प्राच्य क्षेत्र का प्रयोग यथास्थान कर दिया जायगा। सदेशरासक उदीच्य क्षेत्र का अपभ्रंश ग्रन्थ है अत. तदर्थ पश्चिमोत्तर अपभ्रंश शब्द का उपयोग किया गया है।

यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि कालविभाजन अध्ययन मे थोड़ी ही सहायता कर पाता है क्योकि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' को छोड़ कर शेष सभी मुख्य साहित्य सामग्री १०वी से १२वी शताब्दी की है और उसमे विशेष अन्तर अन्वेषित करना अधिक लाभप्रद नही। प्राय: एकरूप ही समस्तकाल में उपलब्ध होते हैं। श्री तगारे के काल-विभाजन द्वारा निर्धारित सारणियो को देखने से यह धारणा और प्रबल हो जाती है। विद्यापति की कृति और दामोदर की रचना को साथ जोड़ लेने पर अवश्य कुछ विकास की सम्भावना १४वी शताब्दी तक आ जाती है। कई विद्वानो ने देश्यमिश्रित[1] अपभ्रंश, मैथिल अपभ्रंश[2], अग्रसरीभूत[3] अपभ्रंश के लिए या परवर्ती सक्रातिकालीन अपभ्रंश[4] के लिए ज्योतिरीश्वर विद्यापति, प्राकृतपैंगल टीकाकार वशीधर और अब्दुर्रहमान द्वारा प्रयुक्त अवहट्ठ शब्द का उपयोग समीचीन माना है। इस अवहट्ठ का काल १३वी-१४वी शताब्दी है, यो कुछ रचनाएँ १७वी शताब्दी तक होती रही हैं। इस तरह पूर्ववर्त्ती और दो भेद काम चलाने के कहे जा सकते हैं।

अपभ्रंश के अध्ययन की आवश्यकता, संपादित काय और प्रबन्ध की पद्धति

हिन्दी भाषा और साहित्य की विकास-शृंखला का सम्यक् परिचय बिना अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के सम्भव नही। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का विवेचन करते हुए प्रत्येक इतिहासकर अपभ्रंश साहित्य के वर्णन की अनिवार्यता अनुभव करता है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल मे 'अपभ्रंशकाल' को समाविष्ट किया है। उनकी सम्मति मे 'सिद्धो की उद्धृत रचनाओ की भाषा देश भाषा-मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य भाषा है।"[5] "सिद्धों मे सरह सबसे पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अत हिन्दी काव्यभाषा के पुराने रूप का पता हमे विक्रम की सातवी शताब्दी के अंतिम चरण मे लगता है।"[6] वे (१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता, और (४) कीर्तिपताका इन चार अपभ्रंश

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल—इतिहास अपभ्रंशकाल।

२ डा० बाबूराम सक्सेना—इवोल्यूशन आव अवधी, पृ० ८ कीर्तिलता भूमिका, १९२९, पृ० २३ तथा शिवनन्दन ठाकुर—महाकवि विद्यापति।

३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' की भूमिका—पृ० ७।

४. श्री शिवप्रसादसिंह—'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', पृ० ७।

५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—(संवत् १९९९ संस्करण) शुक्ल, अपभ्रंशकाल—पृ० २३।

६. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २३।

कृतियों को वीरगाथा काल में परिगणित करते हैं। अन्य वीरगाथाओं को देशी भाषा काव्य नाम से अभिहित करते हैं। शुक्ल जी से पूर्व प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी का नाम दे चुके थे। वे कहते हैं—'अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन है किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय मे कोई स्पष्ट रेखा नही खीची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी।'[1]

श्री राहुल सांकृत्यायन ने आदिकाल का नामकरण ही दो विरोधी प्रवृत्तियों का सामजस्य करके 'सिद्ध-सामन्त युग' किया। उनकी 'हिन्दीकाव्य-धारा' मे स्वयभू ही हिन्दी का सर्वोत्तम कवि है और पुष्पदन्त द्वितीय स्थान का अधिकारी है। उन्होने आठवी शताब्दी के सरहपा से लेकर तेरहवी शताब्दी के राजशेखर सूरी तक की अपभ्रंश कविताओं को पुरानी हिन्दी में सम्मिलित किया।

हिन्दी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' काव्यरूपो के उद्‌भव और विकास की कहानी कहते हुए अपभ्रंश साहित्य पर एक सर्वतोमुखी विहगम दृष्टि डालता है। उनके 'हिन्दी साहित्य' मे अब्दुर्रहमान के अपभ्रंश काव्य सदेशरासक को भी हिन्दी की प्रारम्भिक कृतियो में स्थान मिला है।

हिन्दी भाषा के इतिहास पर भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विस्तृत विवेचन करने वाले डा० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी भाषा के प्राचीन काल की सामग्री के विभाजन मे अपभ्रंश को द्वितीय स्थान दिया है।[2]

ऐसी स्थिति मे अपभ्रंश भाषा के स्वरूप को जानने की बलवती आकांक्षा होती है और इसे और अधिक प्रश्रय मिल जाता है। भाषाशास्त्रियो के इस मन्तव्य से कि भारतीय आर्य भाषाओं की विकास-सरणि में आ० भा० आ० से और अतएव हिन्दी से अव्यवहित पूर्व अपभ्रंश भाषा का स्थान है। व्यवहितिप्रधान हिन्दी की वर्णोच्चारण प्रक्रिया, रूपप्रक्रिया और अर्थप्रक्रिया पर अपभ्रंश का कहाँ तक प्रभाव है यह जानने के लिये अपभ्रंश भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित हो जाता है। अतएव इस प्रबन्ध मे उस अध्ययन को सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस दिशा में अब तक के किये गये प्रयासो की रूपरेखा निम्नलिखित है :—

१. अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य-ग्रन्थो की भूमिका मे उस ग्रन्थ की विशेषताओं के साथ अपभ्रंश का सामान्य परिचय। डा० हरमन याकोबी ने १९१८ मे

---

१. 'पुरानी हिन्दी', गुलेरी।

२. हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० वर्मा, भूमिका, पृ० ७६।

म्यूनिक से 'भविसयत्तकहा' को और तदनन्तर 'सणत्कुमार चरिउ' को विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ प्रकाशित किया। कालान्तर मे स्व० डा० पांडुरंग दामोदर गुणे द्वारा संपादित 'भविसयत्तकहा' का संस्करण विचारगर्भित प्रस्तावना के साथ बड़ौदा से निकला। मुनि जिन विजय जी और प० नाथूराम 'प्रेमी' अपभ्रंश साहित्य के जैन भण्डारो से अन्वेषण मे सतत प्रयत्नशील रहे और महत्त्वपूर्ण लेख लिखते रहे। उनकी प्रेरणा ने श्री आदिनाथ उपाध्याय, डा० हीरालाल जैन, डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, डा० हरिवल्लभ भायाणी इत्यादि विद्वानों मे अपभ्रंश ग्रन्थो के शोध की प्रवृत्ति जगाई और उन्होने परमप्पयासु, योगसार, णामकुमार चरिउ, करकंडु चरिउ, पाहुड दोहा; जसहर चरिउ, महापुराण; पउमचरिउ, पउमसिरिचरिउ, सन्देशरासक जैसी पुस्तको का सम्पादन उपादेय भूमिका के साथ किया। इस प्रसग में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम नही भुलाया जा सकता जिन्होने "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" मे सन्देशरासक पर आलोचनात्मक लेख लिखे जो कालान्तर मे "सन्देशरासक" की भूमिका के रूप मे प्रकाशित हुए। प्राच्य क्षेत्र के "बौद्धगान व दोहा" तथा "कीर्त्तिलता" के लिये डा० हरप्रसाद शास्त्री का नाम चिरस्मरणीय है। डा० राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित सरह दोहाकोश की भूमिका उस ग्रन्थ के अपभ्रंश पर अच्छा प्रकाश डालती है। अवधी भाषा के भाषावैज्ञानिक अध्ययन से प्रख्यात डा० बाबूराम सक्सेना का कीर्त्तिलता का हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादन और द्वितीय संस्करण मे विशद भाषा वैज्ञानिक विवेचन शोध विद्यार्थी के लिये अच्छी सहायता प्रदान करते हैं।[1] श्री शिवप्रसाद सिंह ने "कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा" मे अवहट्ट की मीमांसा की है।

२. प्राकृत व्याकरणो के सुसपादित सस्करण और उनकी भूमिकाएँ। मुनि जिन विजय जी के शब्दो मे भारतीय वैयाकरण आपिशिलि के अवतार पिशल ने प्राकृत व्याकरण पर विस्तार के साथ अपनी पुस्तक "ग्रामेटिक डर प्राकृत स्पार्कन्" मे विचार किया। इसी का अनुवाद "प्राकृतभाषाओ का व्याकरण" नाम से राष्ट्रभाषा परिषद् पटना ने प्रकाशित किया है। पिशल ने अपने समय मे अपभ्रंश की जो स्वल्प सामग्री उपलब्ध थी, उसी के आधार पर "माटेरियालियन सुर केण्टनिस डेस अपभ्रंश" ग्रन्थ प्राकृत व्याकरण के परिशिष्ट के रूप मे उपस्थित किया। "प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश" परिच्छेद मे वैयाकरण और व्याकरणों का परिचय दिया जा चुका है। पिशल के अतिरिक्त ग्रियर्सन, एल० निति—दोल्चि, डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, भट्टनाथ स्वामी आदि ने उन व्याकरणो के सुसपादित संस्करण अपनी भूमिकाओ के साथ निकाले हैं। डा० चाटुर्ज्या की "उक्तिव्यक्ति प्रकरण" की भूमिका उल्लेखनीय है।

---

१. इसी प्रबन्ध के "साहित्य में अपभ्रंश" परिच्छेद में इस विषय पर थोड़ा प्रकाश पड चुका है। विशेष विस्तार मुनि जिनविजय जी की "पउमसिरिचरिउ" की गुजराती भूमिका, श्री गुणे की भविसयत्त कहा की भूमिका और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के "हिन्दी साहित्य के आदिकाल" में द्रष्टव्य है।

३. स्वतन्त्र रूप मे भाषाओ के अध्ययन और प्रसंगतः अपभ्रंश पर विचार जैसे डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का "द ओरिजिन एण्ड डेवलपमैन्ट आव द बँगाली लैंग्वेज", डा० बाबूराम सक्सेना का "इवोल्यूशन आव अवधी", डा० जार्ज ग्रियर्सन का "लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया", डा० धीरेन्द्र वर्मा का "हिन्दी भाषा का इतिहास" इत्यादि ग्रन्थ। इस प्रसंग मे टर्नर, ब्लाख, याकोबी, महन्दाले इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

४. साक्षात् अपभ्रंश पर विचार। इस तरह का ग्रन्थ डा० गजानन वासुदेव तगारे का "हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश" है। इसमे समग्र अपभ्रश व्याकरण का ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से देशकाल माध्यम मे अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तगारे ने अनेक सारणी देकर विभिन्न कालो और देशो मे अपभ्रंश की विशेषता पर प्रकाश डालने का अच्छा प्रयत्न किया है। इसमे क्या कठिनता है यह "अपभ्रश-भाषा का वर्गीकरण" परिच्छेद मे स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रबन्ध मे यथास्थान आवश्यक आलोचना दी गई है। श्री तगारे ने ध्वनितत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का विवेचन तो किया है पर अर्थतत्त्व पर विचार नही किया है। हिन्दी मे श्री नामवरसिंह ने "हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग" नाम की सुनियोजित पुस्तक लिखकर अवश्य अपभ्रंश का विचार किया है। परन्तु उनके अध्ययन की सीमा नियन्त्रित है और लक्ष्य सीमित है। उनका अध्ययन भाषाविज्ञान की समग्रता की दृष्टि से नही है। डा० हरिवंश कोछड़ ने "अपभ्रंश के साहित्य" का अध्ययन प्रस्तुत किया है, भाषाविचार प्रासगिक है।

आवश्यकता थी कि अपभ्रंश पर उपलब्ध मूल साहित्य, व्याकरण और आलोचनात्मक भूमिकाओ तथा अन्य ग्रन्थो का आश्रय लेकर उस भाषा का वर्णनात्मक, तुलनात्मक और यथासभव ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। इस प्रबन्ध मे इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अपभ्रंश का ध्वन्यात्मक, रूपात्मक और अर्थात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अपभ्रंश के ध्वनि तत्त्व, रूपतत्व (सम्बन्धतत्त्व) और अर्थ-तत्व का व्याख्यायुक्त क्रमिक वर्णन उपस्थित करने के अतिरिक्त विकास शृंखला मे पूर्ववर्ती प्रा० भा० आ० और म० भा० आ० मुख्यतः संस्कृत और प्राकृत तथा उत्तरवर्ती आ० भा० आ० मुख्यत. हिन्दी के साथ तुलना उपस्थित की गई है। देश और काल की दृष्टि से यथासंभव ऐतिहासिक मीमासा भी की गई है। सभी खण्डो और अध्यायो मे यथास्थान मुख्य निष्कर्षों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। प्रबन्ध मे प्रयास यही है कि "नामूल लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते"।

द्वितीय खण्ड

ध्वनिविज्ञान
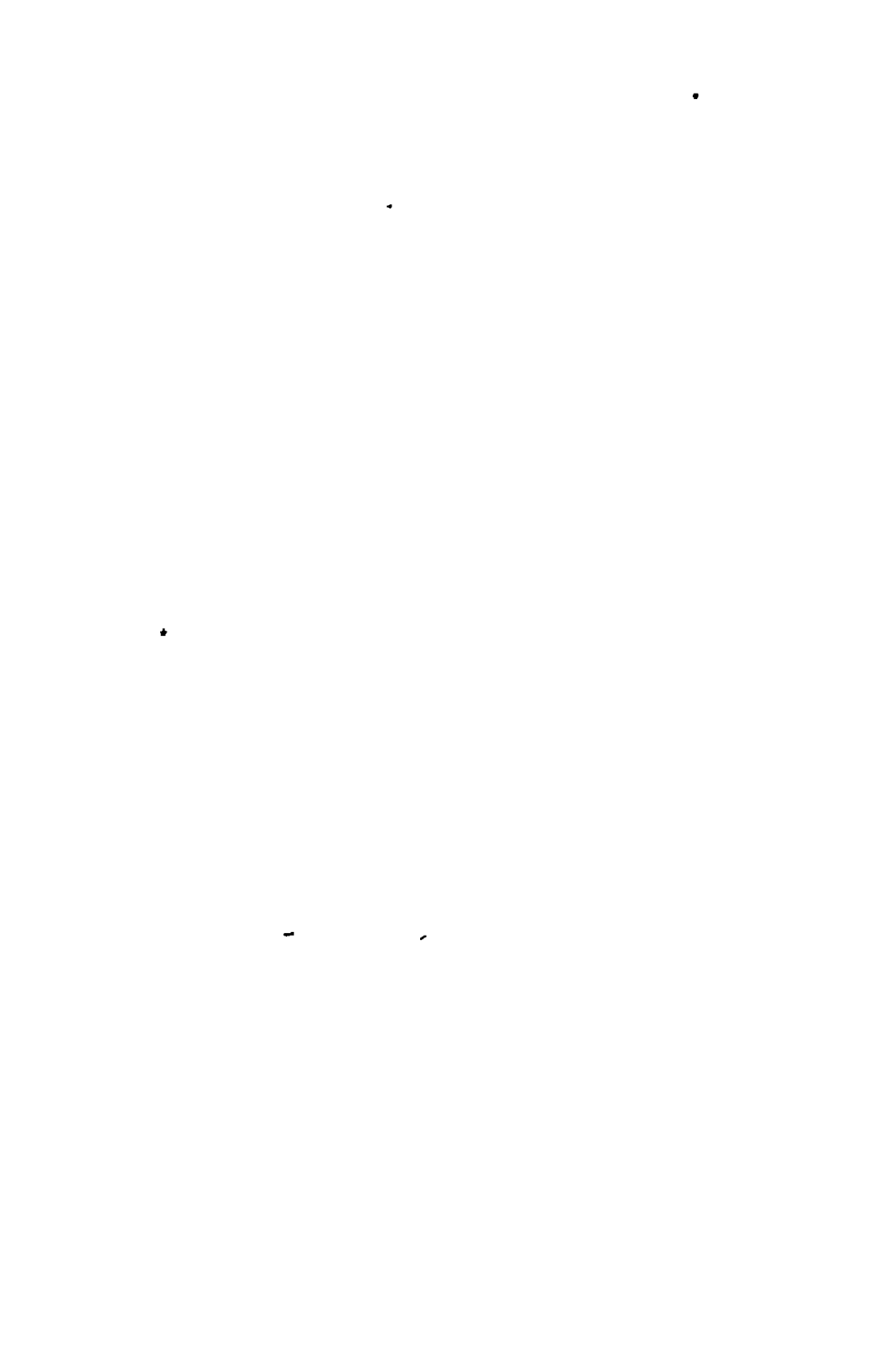
प्रथम अध्याय

स्वर

वर्णशिक्षा

भारतीय वर्णसमाम्नाय उच्चारण सम्बन्धी ध्वनिशास्त्रीय वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करता है। उसका वर्गीकरण प्राचीन काल से ही स्वर और व्यजन दो भागो मे किया जाता रहा है चाहे वह वैदिक व्याकरण प्रातिशाख्य में हो या संस्कृत व्याकरण के आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी प्रारम्भिक के महेश्वर सूत्र में हो या किसी भी आचार्य की वर्णोच्चारण शिक्षा मे हो। प्रा० भा० आ० मे १४ स्वर थे जो भरत की वर्णानुपूर्वी मे अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ थे।[1] 'प्राकृत युक्ति' से प्राकृत भाषा की वर्ण माला के विषय मे उन्होंने कहा —

> एओआरपराणि अ अंआरपरं अ पाअए णत्थि।
> वसआरमज्झिमाइ अ कचवग्गतवग्गणिहणाइं ॥
>
> ना० शा० १७।७

अभिनव गुप्त की व्याख्या के अनुसार ऐ, औ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, विसर्जनीय श, ष, ङ, ञ और न ये १२ वर्ण प्राकृत मे नहीं हैं। संस्कृत के १४ स्वरो मे से उपर्युक्त ६ स्वर निकाल देने पर प्राकृत स्वर ८ ही रह जाते हैं। भरत ने 'अंकारपर' अर्थात् विसर्ग को हटा कर यह ध्वनित किया कि संस्कृत वर्णमाला में प्राकृत तक आते-आते स्वरो के बाद अनुस्वार 'अं' और विसर्ग 'अः' का भी समावेश हो गया था। प्राकृत मे विसर्ग का अभाव हो गया। हेमचन्द्र ने भी ऋ, ॠ, लृ, ॡ-ऐ-औ-ङ-ञ-श-ष विसर्जनीयप्लुतवर्जो वर्णसमाम्नायो लोकादवगन्तव्य.[2] मे भरत की स्थापना को ही दुहराया। प्राकृत से अपभ्रश में आते हुए किसी अन्य स्वर की कमी नहीं हुई। ह्रस्व ऐ (ए) और ह्रस्व औ (ओ) की वृद्धि अवश्य हुई।

पाणिनि के सूत्रो मे 'आकृत्युपदेशात्सिद्धम्'[3], के अनुसार अवर्ण मे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, निरनुनासिक, सानुनासिक, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से

---

१. स्वरश्चतुर्दश कादीनि व्यजनानि—भरत ना० सू० अध्याय १४।

२. हेम० ८।१।१ की प्रकाशिका वृत्ति, हेमचन्द्र के अतिरिक्त त्रिविक्रम की १।१।१ पर वृत्ति और लक्ष्मीधर की चन्द्रिका तथा अन्य प्राकृत व्याकरण इसे ही पुष्ट करते हैं।

३. महाभाष्य प्रथमाह्निक।

(३×२×३=१८) भेद समाविष्ट होते हैं। वैदिक संस्कृत मे इन सबका प्रयोग था। लौकिक संस्कृत मे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का उच्चारण समाप्त हो गया। यज्ञो मे ही वेदमंत्रों के पढने में 'एक श्रुति' होने से इन उच्चारणों का अभाव हो चला था।[1] भरत के काल तक प्लुत की भी समाप्ति हो गई। संस्कृत की अभिवादन-प्रत्यभिवादन-प्रक्रिया की पूर्व स्थिति नही रह गई जिसमे प्लुत का प्रयोग होता था।[2] संस्कृत की ही सरलीकरण-प्रक्रिया को प्राकृत और अपभ्रश ने बनाये रखा। वर्णमाला मे स्पष्टत ह्रस्व और दीर्घ का पृथक् परिगणन कर दिया गया। इस सरलीकरण पद्धति मे ६ और स्वर उच्चारण में नही रहे। देवनागरी लिपि में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ को अलग लिखने के लिए कोई प्रतीक नहीं। अतः लिपि की दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रश मे कोई भेद नहीं। यह भी वस्तुत विचारणीय है कि आधुनिक ध्वनिग्रामविज्ञान (Phonomics) के अनुसार उनको अलग वर्ण गिनना भी चाहिये कि नही। यह विज्ञान यदि अर्थभेदकारी उच्चारण न हो, केवल मात्रा, लहजा-सुर या काकु का ही भेद हो तो उसे पृथक् वर्ण नही परिगणित करता।[3] फिर भी चूंकि वैयाकरण अपभ्रश की प्रवृत्ति मे ह्रस्वीकरण का विशेष प्रभाव ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ मे देखते हैं, उनके नियम और उदाहरण देते हैं, छन्द शास्त्र की परिभाषा में वे ह्रस्व ही समझे जाते हैं, और आधुनिक प्राच्य भाषाओं मे उनका उच्चारण सुरक्षित है अतः ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ को सभी अपभ्रश के आधुनिक विद्वान् पृथक् परिगणित करते हैं।[4]

इस प्रकार अपभ्रंश स्वर निम्नलिखित हुए :—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऐ (ह्रस्व ए), ए, औ (ह्रस्व ओ), ओ। इनके अनुनासिक और निरनुनासिक दोनों रूप हैं। इस वर्णमाला में विशेष एकरूपता आ गई है। यदि अ, इ, और उ के ह्रस्व और दीर्घ दोनो रूप हो सकते हैं तो ए और ओ के भी क्यों न हो। पालि वैयाकरण मोग्गलायन इन्ही १० स्वरों को पालि में भी स्वीकार करते हैं और इसी ह्रस्व दीर्घ क्रम से। काच्चायन ने ८ ही स्वर स्वीकार किये थे। मोग्गलायन ने ह्रस्व एकार और ह्रस्व ओकार का पृथक् अस्तित्व अनुभूत कर लिया था जो अपभ्रंश मे पूर्णत. दृढ़ हो गया।[5] मोग्गलायन ने अनुस्वार को 'निग्गहीत' नाम से व्यंजन के अन्त में 'अ' संकेत देकर समाविष्ट किया।

---

१. यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु पा० सू० १।२।३४।
२. प्रत्यभिवादे शूद्रे। पा० सू० २।८।८३, तथा ८।५।८४ और ८५।
३. अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन में अर्थभेद प्राप्त नहीं हुआ।
४. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—पिशल, (अनुवादक—डा० हेमचन्द्र जोशी), अध्याय २, संदर्भ ४५; हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश—डा० तगारे, पृ० ३६; उक्तिव्यक्ति प्रकरण—डा० चाटुर्ज्या, भूमिका १-४। यह ध्यान देने योग्य है कि मूल भारोपीय भाषा में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ प्रयोग में थे। अपभ्रंश में उनका पुनरुज्जीवन है।
५. अआदयो तितालीस वण्णा १।१, पुब्बो रस्सो (ह्रस्वो) १.४. परो दीघो १.५.

ऋ का प्रयोग

प्रत्येक उच्चारण स्थान से जिस प्रकार विभिन्न वर्गीय व्यंजन उच्चारण होता है उसी प्रकार स्वर का भी। स्वर मे श्वास वायु अबाधगति से मुखविवर से निकल जाती है और व्यंजन मे उसे कथचित् अवरोध का सामना करना पडता है। मूर्धन्य वर्णों मे इस तरह उच्चरित स्वर ऋ है जो वैदिक और लौकिक संस्कृत में भी स्वल्प प्रयोग का विषय रहा है।[1] ऋ का उच्चारण प्राकृत भाषा मे समाप्त हो गया अत. वैयाकरणो ने वर्णमाला मे इसका परिगणन नही किया। पूर्ववर्ती व्यंजन और उत्तरवर्ती स्वर के उच्चारण-प्रभाव के अनुसार ऋ अन्य स्वर मे परिवर्तित होता गया। वैयाकरण ऋकार का सामान्यत अकार[2] मे वर्णविपर्यय करते है परन्तु अपवाद रूप मे ऋष्यादिगण[3] मे इकार मे और ऋत्वादिगण[4] मे उकार मे। केवल ऋ, जिसके साथ कोई व्यंजन न हो या जिस पर किसी अन्य स्वर इकार या उकार आदि स्वर का प्रभाव न हो, 'रि' के रूप मे उच्चरित होता है। आधुनिक आर्यभाषाओ विशेषत. हिन्दी मे यही प्रवृत्ति है। यह उच्चारण इतना प्रबल हो गया था कि १०वी शताब्दी मे श्रीमत्कर्णदेव के गोहरवा के दान ताम्रपत्र मे ऋ के स्थान पर सस्कृत मे र का प्रयोग अभिलिखित किया गया है यथा गृहे के स्थान पर ग्रहे।[5]

अपभ्रश मे भी ऋ की वही स्थिति है। परन्तु अन्य प्राकृतो की अपेक्षा इसके कुछ प्रयोग अधिक प्राप्त होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकभाषा मे कही-कही ऋ अवशिष्ट रह गया था। हेमचन्द्र ने ८।४।३२९ तणु और तृणु, सुकिदु और सुकृदु के उदाहरणो मे, ८।४।३३६ के अपभ्रश दोहे के 'गृहृण्णइ' प्रयोग मे, ८।४।३५० अपभ्रंश दोहे के 'घृण' प्रयोग मे ऋकार रहने दिया है। सिन्धु देश मे प्रसिद्ध व्राचड के अपभ्रश विषय मे राम शर्मा तर्कवागीश ने नियम बनाया 'भृत्यापरेषु र—ऋताविह तु प्रकृत्या' (३।३।२) और मार्कण्डेय ने (१८।१) भृत्यादिगण मे भिच्च <भृत्य णिच्च <नृत्य, किच्च <कृत्य, और किच्चा <कृत्या का परिगणन किया। इस प्रकार भृत्यादिगण से अन्यत्र ऋकार का उच्चारण व्राचड मे होता है यह दोनो का अभिमत है। अतएव पिशल ने ४७वें सदर्भ मे लिखा "अपभ्रश प्राकृत मे रह गया है। अधिकाश अपभ्रश बोलियो मे, सभी प्राकृत आचार्यो का नियम है, ऋ नही होता।"[6] तगारे ने भी अपभ्रश मे ऋ की कथचित् स्थिति स्वीकार की है, परन्तु उसका प्रयोग प्राय:

---

१. महाभाष्य द्वितीयाह्निक में ऋलृक् सूत्र की व्याख्या पर कैयट लिखते हैं—'ऋकारस्य स्वल्पप्रयोगः।'

२. ऋतोत् प्रा० प्र० १।२७।

३. इदृष्यादिषु प्रा० प्र० १।२८।

४. उदृत्वादिषु १।२९।

५. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड ११, पृ० १४०।

६. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—पिशल, पृ० ९६।

तत्सम शब्दो मे ही माना है।[1] पउमचरिउ, महापुराण, भविसयत्तकहा आदि महाकाव्यो मे, दोहा कोश, परमात्म प्रकाश, पाहुड दोहा आदि नीति-काव्यो मे और संदेशरासक जैसे खण्ड काव्यो मे ऋ का अभाव ही है। विद्यापति की कीर्तिलता मे अवश्य ऋ का प्रयोग उपलब्ध होता है यद्यपि उसकी स्तम्भतीर्थ प्रति और नेपाल प्रति मे इस विषय मे उल्लेखनीय अन्तर है। पूर्व प्रति मे ऋ का वर्णविकार है जबकि नेपाल प्रति ने उसे बनाये रखा है। उदाहरणार्थ भिंगी और भृंगी शब्द लिया जा सकता है। सम्भवत यह लिपिकारो पर स्थानीय प्रभाव के कारण हो। विद्यापति तत्सम शब्दो का व्यवहार अपने अपभ्रंश काव्यो मे अच्छी तरह करते हैं अत भृंगी इत्यादि का प्रयोग अस्वाभाविक नही। कीर्तिलता मे ऋण, शृगार, शृगाटक शब्द का स्पष्ट प्रयोग है। परिणाम निकलता है कि संस्कृत तत्सम या कुछ तद्भव ऋण शब्दो को छोड़ कर अन्यत्र अपभ्रंश मे ऋ का वर्णविकार हो जाता है अत सामान्यतया अपभ्रंश मे ऋ का अभाव ही है।

वर्णविकार का स्वरूप निम्नलिखित है :—

१. अ मे—कण्ह <कृष्ण, तण <तृण, तण्हा <तृष्णा, गहिय <गृहीत, मउ <मृदु, अड्ढिमत <ऋद्धिमत, बड्ढि <वृद्धि, कय <कृत, आदि।
२ इ मे—किव <कृपा, किपाण <कृपाण, किमि <कृमि, किसाणु <कृशानु, णिव <नृप, पिहु <पृथु, मिग <मृग, मिच्चु <मृत्यु आदि।
३. उ मे—वुट्ठि <वृष्टि, वुड <वृद्ध, पुसिअ <स्पृष्ट, पुच्छिअ <पृष्ट, मुइग <मृदग, मुअ <मृत, माउहर <मातृगृह आदि।
४. ए मे—गेहत्थ <गृहस्थ, गेह्णिवि <गृहीत्वा।
५ अर मे—हरिसिऊ <हृष्ट, मरेवि <मृत्वा, पियर <पितृ, भायर <भ्रातृ।
६ रि मे—रिसि <ऋषि, रिण <ऋण, रिया <ऋचा, रिद्धि <ऋद्धि।[2]

लृकार का प्रयोग

लृ का प्रयोग वैदिक भाषा मे ही विरल था। ऋक् प्रातिशाख्य मे बताया गया कि "पद के आदि और अन्त मे लृकार स्वरो मे परिगणित नही होता।"[3] उसका संस्कृत में अभाव ही हो गया। लृ दन्त्य स्वर है। दन्त्य वर्णो मे जिह्वाग्र दन्त को स्पर्श कर वायु का अवरोध करता है और उस अवरोध के मुखविवर से निकला वर्ण व्यंजन का रूप लेता है। बिना इस अवरोध के या अत्यधिक स्वल्प अवरोध के निकलने वाला वर्ण ही लृ स्वर का रूप ले सकता है। इसकी सम्भावना उच्चारण की दृष्टि से विरल है। अतः इस स्वर की समाप्ति हो गई। यह सरलता से लृ+ऋ मे,

---

१. हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश—डा० तगारे, पृ० २६।
२. णायकुमार चरिउ—डा० हीरालाल जैन, भूमिका, पृ० ४६।
३. पदाद्यन्तयोर्नल्कारः स्वरेषु 'ऋ० प्रा० १।९' पदस्यादौ अन्ते च लृकार वर्णं स्वरेषु न गृह्यते। पदमध्ये तु भवेदिति वेदितव्यम्' व्याख्या।

तदनन्तर ऋकार के वर्णविकार मे परिणत हो गया। पाणिनि ने ऋ लृ क् इस महेश्वर सूत्र मे लृ स्वर की गणना अवश्य की परन्तु महाभाष्यकार ने कहा कि लृकार का प्रयोगक्षेत्र स्वल्पतर है; और जो प्रयोग क्षेत्र है भी वह 'क्लृपि' धातु मे ही है। क्लृप धातु का लृ होना असिद्ध ही है।[1] वस्तुतः इस धातु से बने रूप 'कल्पते' 'कल्पना' आदि में वह स्वर रहता ही नही। महाभाष्यकार के समय मे लृ का सर्वथा प्रयोग नही रहा अत. उन्हें यदृच्छा, अशक्तिज अनुकरण और प्लुतादि के लिए ही[2] लृ का पाठ सूत्र मे उचित लगा। प्राकृत मे तो वररुचि ने सीधा नियम 'लृत क्लृप्त इलि.' (१।३३) दे दिया कि क्लृप्त मे लृ को इलि हो जाता है। अतएव भामह ने टिप्पणी की कि इस प्रकार आदेशान्तरो के विधान कर देने से प्राकृत मे ऋकार लृकार नही होते हैं।[3] अन्य प्राकृत वैयाकरणों ने भी इसी बात को दुहराया। क्रमदीश्वर (५,१६) के अनुसार अपभ्रंश मे या तो क्लृप्त रूप ही रह जाता है या यह कत्त रूप धर लेता है। परन्तु भामह आदि के उद्धरणो से और अपभ्रंश साहित्य मे क्लृप्त प्रयोग के अभाव से क्रमदीश्वर का कथन खण्डित हो जाता है। लृकार के अभाव की भावना इतनी बद्धमूल हो गई थी कि १०वी शताब्दी के कर्णदेव के दानपात्र मे सस्कृत मे भी क्लृप्त के स्थान पर कुप्त अभिलिखित किया गया, यथा—कुप्तमासीन्मुहूर्तंम्। (१. २८)

ऐ और औ

ये दोनो स्वर भी अपभ्रंश मे जाते रहे। महाभाष्यकार ने ए, ओ, ऐ और औ को सन्ध्यक्षर बताया है।[4] अ+इ=ए, अ+उ=ओ, अ+ए=ऐ और अ+ओ=औ। सस्कृत मे संधि की प्रवृत्ति शनैः शनै धीमी पड़ती गई। सस्कृत मे पहले कोई दो स्वर समीप मिल ही नही सकते थे। यदि कही मिलते थे तो समझना चाहिये कि कोई अन्य सन्धि कार्य लोप आदि पहले हो चुका है या विशेष भ्रान्ति मिटाने के लिए उन स्वरो का पृथक् उच्चारण अनिवार्य है या प्रकृतिभाव है। प्राकृत में व्यजन लोप और विवृत्ति का परिणाम हुआ कि स्वरो का सान्निध्य एक सामान्य नियम बन गया। ऐसी स्थिति मे ऐ को अए और औ को अओ मे पृथक् कर के बोलना अस्वाभाविक नही। दूसरी प्रवृत्ति ह्रस्वीकरण की भी चली हुई थी। जिसके परिणामस्वरूप ए को इ और ओ को उ (प्रा० प्र० ३।३४) कर दिया जाता था। इस प्रकार ऐ>अए<अइ उच्चारण हो गया जैसे वैदेह का वइदेह, वैशाख का वइसाह (प्रा० प्र० १।४२)। यहाँ इनका संध्यक्षरत्व भी नहीं रह गया समानाक्षरत्व या

---

१. लृकारस्याल्पीयाश्चैव प्रयोगविषय.। यश्चापि प्रयोगविषयः सोऽपि क्लृपिस्थस्यैव। क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम्। महाभाष्य द्वितीयाह्निक।

२. यदृच्छाऽशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थ.। महाभाष्य द्वितीयाह्निक।

३. तदेवमादेशान्तरैव मतात्प्राकृते ऋकार लृकारौ न भवत.। १।३३ पर भामह वृत्ति।

४. एओङ्, ऐऔच्—इमानि सन्ध्यक्षराणि। महाभाष्य द्वितीयाह्निक।

मूलस्वरत्व की बात तो दूर रही। ह्रस्वीकरण के कारण ऐ>ए और औ< ओ भी (प्रा०प० ११३५,४१) हो गये।

ऐ और औ का वर्णविकार निम्नलिखित है :—

ऐ का (१) ए या इ मे—बेरि<वैरिन्, केलास<कैलाश. इरावय<ऐरावत,
(२) अइ मे विघटित—वइस<वैश्य, सइव<शैव, वइरि<वैरिन्, दइव<दैव, गइवेय<ग्रैवेय, वइवस<वैवस्वत, अइरावय<ऐरावत, वइयायरण<वैयाकरण।

औ का (१) ओ या उ मे—गोरि<गौरी, दोहित<दौहित्र, कोऊहल<कौतूहल, कोसंबी<कौशम्बी, कोडिण्ण<कौण्डिन्य, गोत्तम<गौतम, सुक्ख< सौख्य, जुव्वण<यौवन, ढुक्क<ढौकित।
(२) अउ मे विघटित—कउल<कौल, गउर<गौर, सउच<शौच, पउलोमी<पौलोमी

ह्रस्वीकरण

बलाघातशून्य स्वर को ह्रस्व करने की विशेष प्रवृत्ति अपभ्रंश मे है। हेमचन्द्र ने अपने सूत्र ८।४।४१० मे बताया कि ककारादि व्यंजनो मे स्थित ए और ओ के उच्चारण मे प्राय. लाघव हो जाता है। उदाहरणार्थ 'सुधें चिन्तिज्जइमाणु' मे तृतीयान्त धें का उच्चारण लघु है, 'तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो' मे षष्ठ्यन्त हो का लघु उच्चारण है। इस लघु उच्चारण का प्ररिणाम है कि अपभ्रंश मे ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का उसी प्रकार पृथक् अस्तित्व स्वीकृत किया गया जिस प्रकार ह्रस्व अकार, इकार और उकार का। यह ह्रस्व ए और ओ मात्रा मे भी एकमात्रिक ही रह गये।

अपभ्रंश काव्यो में इन लघूच्चरित ह्रस्व वर्णों का प्रचुर प्रयोग है। छन्द-शास्त्र की गणना मे भी वे एकमात्रिक ही हैं। पिंगलाचार्य ने तो अपभ्रंश मे लघु उच्चारण के लिये लिखा :—

"जइ दीहो बिअ वण्णो, लहु जीहा पढइ होइ सो वि लहू" (१।८) यदि दीर्घ वर्ण भी जिह्वा द्वारा लघूच्चरित होता है तो उसे लघु ही कहना चाहिये। इस ह्रस्वीकरण को प्रकृतिभाव के साथ सस्कृत मे पाणिनि ने शाकल्य आचार्य द्वारा अनुमत बताया है। 'पदान्त इकार, उकार, ऋकार, लृकार असवर्ण स्वर के परे होने पर प्रकृतिभाव को प्राप्त करते है और ह्रस्व हो जाते हैं, जैसे चक्री +अत्र=चक्रि अत्र।[1] वस्तुतः पूर्वाक्षर पर बलाघात पदान्त स्वर मे उच्चारण की क्षीणता को जन्म देता है। धीरे धीरे यह क्षीणता दीर्घ को ह्रस्व बना देती है। वैदिक यत्रा और तत्रा भी सस्कृत मे यत्र और तत्र का रूप धारण करते हैं। अपभ्रंश मे यह प्रवृत्ति 'पदान्ते

---

१. इकोसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। पा० सू० ६।१।१२७

उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् । हे० ८।४।४४१ सूत्र में निर्धारित है। इसमें सानुस्वार स्वरों का ह्रस्वीकरण विहित किया गया है। प्राकृत मे सयोग परे होने पर ह्रस्व हो जाता है[1] । जैसे आम्रम् > अम्बं, ताम्रम् > तम्ब, मुनीन्द्रः > मुणिंदो, चूर्णः > चुण्णो, नरेन्द्र.> नरिन्दो, अधरोष्ठक > अहरुट्ठ आदि। यह नियम अपभ्रंश मे भी प्रचलित रहा। जैसे बहिल्ल, विट्टाल, कोट्ट > कुट्ट, कुट्टल्ली इत्यादि मे।

श्रीभायाणी ने सदेश रासक की भूमिका मे इस विषय पर विचार करते हुए आल्सडार्फ का अनुसरण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि अपभ्रंश की अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषावैज्ञानिक विशेषता अन्त्य स्वरो के ह्रस्वीकरण का नियम है। सभी शुद्ध अपभ्रंश शब्द (स्त्री प्रत्ययान्तो को भी अन्तर्गत करके) सर्वदा ह्रस्व स्वर मे समाप्त होते हैं—इस प्रबल प्रवृत्ति का अपवाद दो ही कारणो से होता है। १. प्राकृताभास और २. गौण सकोचन-हेतुक दीर्घीकरण। दूसरे कारण से उत्पन्न ह्रस्वविरोधी प्रवृत्ति विकासक्रम मे अपनी जड़ जमाती गई। कर्त्ता और कर्म के बहुवचनान्त प्रयोग—गाहा, भणिया आदि; आकारान्त स्त्रीलिंग एकवचनान्त प्रयोग—गवसिया, घल्लिया आदि ; ईकारान्त स्त्रीलिंग प्रातिपदिक—विहसती, जपंती इत्यादि; प्रवर्धित उकारान्त प्रातिपदिक—निंवू, भारू आदि मे दीर्घ-स्वर इसी सकोचन के कारण हैं।

अ

कण्ठस्थानीय, अवृत्तमुखी, शिथिल, मध्य, विवृत स्वर है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्रधान स्वर अ अग्र स्वर है, जिसमे जिह्वाग्र उच्चारण प्रक्रिया मे भाग लेता है। वैदिक भाषा से अपभ्रंश तक यह मध्य स्वर हो गया है, जैसा कि उत्तरवर्त्ती हिन्दी मे है। अ के उच्चारणविषय मे संस्कृत व्याकरण मे विवृत और सवृत का प्रश्न उठाया गया है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के अन्तिम सूत्र "अ अ" में विवृत अकार को सवृतता प्रदान की है। इस सूत्र के आधार पर भट्टोजी दीक्षित ने यह ज्ञापक निकाला है कि अ व्याकरण की प्रक्रिया-दशा मे विवृत है परन्तु प्रयोग दशा में सवृत है। "अ इ उ ण्" की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने बताया कि "न लोक मे और न वेद मे अकार विवृत है। तो क्या है ? संवृत है।[2] यह ठीक है कि पाणिनि के काल में अ लोकप्रयोग मे सवृत था और महाभाष्यकार के अनुसार उससे पूर्व भी ऐसा रहा होगा परन्तु वह लोक में कथचित् विवृत अवश्य था केवल प्रकृत्युपदेश से सवर्ण विधान के लिये ही वर्णसमाम्नाय मे अ का विवृत पाठ नहीं रहा होगा। अवधी, भोजपुरी आदि बोलियो मे अ का विवृत उच्चारण भी उपलब्ध है।[3]

---

१. ह्रस्व. सयोगे (हेम० ८।१।८४)

२. नैव लोके न च वेदे अकारो विवृतोऽस्ति कस्तर्हि ? सवृत । नैव लोके न च वेदे दीर्घ प्लुतौ संवृतौ स्तः। कौ तर्हि-विवृतौ। म०भा० द्वितीयाह्निक

३. देखिये हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास। डा० उदयनारायण तिवारी पृ० १२१

अ के संस्कृत मे सवृतोन्मुखी उच्चारण का परिणाम था कि प्राकृत मे सौन्दर्य का सुन्देर, वल्ली का वेल्ली(प्रा०प्र० १।५) और तदनन्तर पक्व का पिक्क और अंगार का इंगाल (प्रा० प्र० १।३) हो जाता है—सवृत अ>ए> (ह्रस्वीकरण) >इ। अपभ्रंश मे ऋकार के स्थान पर इकार की प्रवृत्ति मे भी यही कारण सहायक है। ऋ>अ>इ जैसे तृण>तिण, अकृत>अकिय।

अ के प्रयोग के उदाहरण:—अयाण<अज्ञान, अग्गिम<अग्रिम,<कुलहर<कुलगृह, उअय<उदय, गवेसय<गवेषक, इत्यादि।

दीर्घ आ का ह्रस्वीकरण आघात के कारणो से भी होता है। जैसे धण<धन्या (हेम०) तह>तथा (भ० क०) (वर० १।१०) चमर<चामर, अवत्थ<अवस्था (सं० रा०) आदि। परन्तु कष्ट के लिये कठ और वस्तु के लिये वथु का या भद्र के लिये भल का प्रयोग विचारणीय है। कष्ट >कट्ठ (सं० रा०)>काठ, वस्तु>वत्थु>वाथु और भद्र>भल्ल>भाल स्वाभाविक विकास का क्रम है। संयुक्त व्यंजनो के समीकरण से एक व्यंजन रह जाने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व का मात्रापूर्त्यर्थं दीर्घ उच्चारण होता है। श्री चाटुर्ज्या ने इसको प्राकृत प्रभाव कहकर प्राकृत ऋण शब्द स्वीकार कियाहै।[1] इसकी व्याख्या अर्थ विज्ञान के आधार पर भी की जा सकती है। सस्कृत काष्ठ>काठ और कष्ट>काठ दोनो में उच्चारणैक्य है। अर्थभेद के लिये काष्ठ शब्द का काठ रूप स्वीकृत किया गया और कष्ट का कठ रूप। इसी तरह भल्ल>भाल और भद्र>भाल>भल, वास्तु>वाथु और वस्तु>वाथु>वथु में भी समझना चाहिये।

आ

कण्ठस्थानीय, स्वल्पवृतमुखी, शिथिल, पश्च, विवृत स्वर है। इसके उच्चारण मे ह्रस्व अ से केवल मात्रा का ही भेद नही है, जिह्वाश्च का उपयोग और अपेक्षाकृत अधिक मुख का खुला रहना भी अन्तर उपस्थित करते हैं। मात्रालाघव से यह ह्रस्व अकार मे परिणत हो जाता है। अन्य स्वरों मे मात्रा की प्रबलता के कारण विकार नही होता है। सदा>सइ, यदा<जइ आदि मे अन्तिम आकार ह्रस्वीकृत होकर इ मे उच्चरित होता है, साक्षात् आ का इ नही होता।

आ के प्रयोग :—जाणमि (दो० को०) अप्पाण (दो० को०)आछ(उ०व्य०) आपण (उ० व्य०)

इ-ई

तालुस्थानीय, अवृत्तमुखी, दृढ, अग्र, सवृत स्वर हैं। दोनो मे मात्रा का भेद है। इ लघु है और ई दीर्घ

कभी कभी ह्रस्व इ और ए आपस मे परिवर्तित होते पाये जाते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण मे छाटेहिं (५१।१६) के साथ छाटेहें (२२।११), दिवस के लिए देवस (६।२६) और जर्णे (१०।७) के साथ जणि और जणि (१०।६, १०।११)

---

१. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, भूमिका पृष्ठ ५

के प्रयोग मिलते हैं। ह्रस्व ए को और हल्का उच्चारण अर्थात् मुखविवर का सकोच इ में परिणत कर देता है। ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति, विशेषत पूर्व स्वर पर आघात, दीर्घ ई को ह्रस्व मे परिणत करता है। अपभ्रंश काल से यह प्रवृत्ति हिन्दी मे अभी तक वर्तमान है। इसी उच्चारण के अनुरूप पाणि (दो० को० उ० व्य० ४६।३१)=पानी<पानीय, कलिहारि (उ० व्य० ४६।१३)=कलिहारी, भिषारि, मट्टि (दो० को०) कापडि, कुटुम्बि, इत्यादि हैं। फिर भी दीर्घ ईकार के प्रयोग अहेडी (आखेटिक), पोथी, छाडी (दो० को०) इत्यादि मे पर्याप्त हैं।

उ और ऊ

ओष्ठस्थानीय, पूर्णवृत्तमुखी, दृढ़, पश्च, संवृत स्वर हैं। पूर्व वर्ण ह्रस्व है और उत्तर वर्ण दीर्घ। उकारबहुला अपभ्रंश मे उ की प्रधानता सर्वविदित है। रूपविज्ञान मे प्रत्ययो के निर्माण मे इसका बड़ा हाथ है। दीर्घ ऊ के प्रयोग पूतु, रूठ, रूख, सूआ, गोरू इत्यादि मे प्राप्त हैं।

एँ

कण्ठतालव्य, अवृत्तमुखी, शिथिल, अग्र, अर्धविवृत स्वर है।

ए

कण्ठतालव्य, अवृत्तमुखी, दृढ, अग्र, अर्धसवृत स्वर है। ए के उच्चारण मे मुखविवर के कुछ और खुल जाने पर तथा मुख की मांसपेशियो के शिथिल कर देने पर मात्रालाघव से ह्रस्व ए का उच्चारण हो जाता है। ह्रस्वीकरण प्रकरण मे इसे स्पष्ट किया जा चुका है। ह्रस्व ए का प्रयोग अपभ्रंश मे उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। लेखन पद्धति मे ह्रस्व और दीर्घ ए को पृथक् करने के लिये अलग सकेत नही हैं। अतः उच्चारण ही या छन्द की मात्रा ही इनके स्वरूप को निर्धारित करती है। कीर्त्तिपताका मे प्राय ह्रस्व ए का प्रयोग है, उदाहरणार्थ—

रतिभाव भारेँ रोमाञ्च अञ्चिचॅल पाव परसिअ नायके,
निअ भवअ भंगि कटक्खेँ नरइ मम्म भेदिअ सायके।
घन साभर चन्दन कुंकुम अगुरु नएँन कज्जलेँ भूसिआ,
मनमोह कारन अअने सिरिअ निम्मले केवल दूसिआ।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे प्राचीन कोसली के निदर्शनो में एँ का अच्छा प्रयोग है। अवधी, भोजपुरी और मैथिली मे इसकी पूरी स्वीकृति है "गोरवें मान", "भाडें माँज", "पुतवन्तेँ करें" आदि उदाहरण हैं। दीर्घ ए का प्रयोग—"सुरतले जगदेव" (कीर्त्तिपताका)

ओ : कण्ठोष्ठ्य, वृत्तमुखी, शिथिल, पश्च, अर्धविवृत स्वर है।

ओ . कण्ठोष्ठ्य, वृत्तमुखी, दृढ, पश्च, अर्धसवृत स्वर है।

उत्तरवर्ण के उच्चारण मे शिथिलता आने पर और कुछ मुखविवर को अधिक खोल लेने पर मात्रालाघव से ह्रस्व ओ का उच्चारण होता है। ह्रस्वीकरण की प्रक्रिया से इसकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हेमचन्द्र ने ४।४१० मे इसका उदाहरण "वसु हउं कलि-जुगि दुल्लहहों" दिया है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे ओँद (३६।१०),

ओड़ (२१।१४) आदि हैं। दीर्घ ओकार के टोप (स्तूप), रसोइ (रसवती), परोटा इत्यादि उ० व्य० मे हैं, कीर्तिपताका मे—गोखण्डि परिपण्डि, विवेकसओं हैं।

सन्ध्यक्षर

दो स्वरो की सधि से बनने वाले वर्ण सन्ध्यक्षर कहे जाते हैं। सन्ध्यक्षर मे दोनो स्वर अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खोकर एकाकार हो जाते हैं और सांस के एक झटके मे उच्चरित होते हैं। ऐ और औ के विवेचन मे यह देखा जा चुका है कि वे किस प्रकार सन्ध्यक्षरत्व से विघटित होकर प्राकृत काल मे अइ और अउ में परिणत हो गये थे। ऐ या तो ह्रस्वीकरण पद्धति से ए हो गया था (ऐत एत्। प्रा० प्र० १।३५) यथा सेलो, तेल्लोक या उसका सधिविघटित ह्रस्वीकृत रूप अइ (दैत्यादिष्वइ। प्रा० प्र० १।३६) हो गया था यथा दइच्चो, वइरं आदि[1]। इसी प्रकार औ या तो ओ (औत् ओत्। प्रा० प्र० ३।४१) तथा जोव्वण, कोसम्बी आदि या अउ (पौरादिष्वउ। प्रा० प्र० १।४२) हो गया था। उच्चारण मे दोनो घटक स्वरो की ध्वनि बनी रहती है। पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्र मे फिर धीरे धीरे अइ को सरल स्वर ऐ और अउ को सरल स्वर औ मे विकसित होते देखा जाता है, परन्तु प्राच्य क्षेत्र में अबतक अइ और अउ अस्तित्व रखते हैं।[2] उक्ति व्यक्ति प्रकरण में दोनो स्थितियाँ हैं ऐ भी है और अइ भी, अउ भी है और औ भी जैसे :—सइ (२०।२०) के साथ सैं (२०।२१) नइ (२२।१०) के साथ नै (४७।८), बइसार (८०।२५) के साथ बैस (५०।२६), सहसौ (९।२८)=सहसउ, हौं (१६।७) के साथ हउं (९।२८) लौंडी (३५।१६) के साथ लउड आदि।

इन दो रूपो की व्याख्या वस्तुतः दो पृथक् उच्चारणों को स्वीकृत करने की अपेक्षा लेखन पद्धति से ही समझनी चाहिये। अइ को ऐ और अउ को औ भी पुराने सस्कार से लिख दिया जाता था। डा० बाबूराम सक्सेना ने कीर्त्तिलता (द्वितीय सस्करण) की भूमिका में पृष्ठ २७ पर स्वरो के विवेचन के अन्त मे यही निष्कर्ष निकाला है। "ऐ और औ कही कही सयुक्त स्वर की भाति लिखे गये हैं, परन्तु वस्तुत मूल स्वर अँइँ अँउँ हैं।" यहाँ सयुक्त स्वर संध्यक्षर के अर्थ में प्रयुक्त है। कीर्तिलता में ऐ के प्रयोग ऐसो, दैवह, पै, पैठि और लै हैं। औकार के प्रयोग औका, चौदह, चौरा, तौ, तौन, तौलन्ति, दौरि, और हौं हैं। वस्तुत इनमे ऐ= अइ और औ=अउ समझना चाहिये। ऐस=अइस, दैव=दइव इत्यादि, औका= अओका, चौदह= चउदह इत्यादि। तगारे ने संध्यक्षर पर विचार की भी आवश्यकता नही समझी क्यो कि वह प्राकृत काल मे ही नष्ट हो गया था।[3]

१. हेमचन्द्र ने ऐ का अपवादात्मक स्थान (अयौवैत्) (८।१।१६९) सूत्र में दिया है। अयि>अइ >ऐ। उदाहरण ऐ वीहेमि। अइ उम्मत्तिए। वस्तुत अइ की लेखन पद्धति ऐ की व्याख्या करती है।

२. देखिये उक्ति व्यक्ति प्रकरण की अग्रेजी भूमिका पृ० ७ पर श्री चाटुर्ज्या की सम्मति।

३. हि० आ० अ०—तगारे पृ० ३९

स्वर संयोग और संधि

सन्ध्यक्षरो के मूल स्वरो के अतिरिक्त भी अनेक स्वरो का संयोग अपभ्रंश मे उपलब्ध होता है। संयोग से तात्पर्य है कि दो या अधिक स्वरों की इस प्रकार की समीप स्थिति जिसमे सधि कार्य न हो और दोनो स्वर उच्चरित हो। "पर सन्निकर्ष सहिता" सधि का यह लक्षण यास्क और पाणिनि मे एक सा है।[1] इसका तात्पर्य है कि वर्णो का उच्चारण की दृष्टि से अत्यधिक सान्निध्य, जिसमे जिह्वा के एक स्थान से सहसा दूसरे स्थान पर गति करने से दोनो वर्णों की ध्वनि मे विकार उत्पन्न हो जाय। सस्कृत भाषा बहुत संहिता-प्रधान भाषा रही है और उसके उच्चारण में एक वर्ण के बाद दूसरा वर्ण और एक पद के बाद दूसरा पद "कालाव्यवाय"[2] से शीघ्र उच्चरित होता था और परिणाम था सधि और समास। अतएव संस्कृत मे दो स्वर कभी समीपवर्ती न होगे।

ऋग्वेद में अन्त पद विवृत्ति के चार ही उदाहरण हैं:—पुरएता, तितउना, प्रउग और नमउक्तिभि।[3] इनमें से भी पुर+एता, नमः+उक्तिभि. मे स्पष्ट रूप मे अवग्रह की स्थिति है और वस्तुत विसर्ग का लोप होकर सन्धि हो चुकी है अतः उद्वृत्तता है। तितउ और प्रउग दो ही शब्द रह जाते हैं जिसमे दो स्वर समीप हैं। ये दोनो शब्द इसका सकेत देते हैं कि ये किसी तात्कालिक उक्ति (बोली) के शब्द हैं। सधि के अपवाद यलोप, प्रकृतिभाव आदि विरल ही हैं और सकारण हैं। निर्निमित्तक सधि का अभाव सस्कृत मे नही है। धीरे धीरे उच्चारण की "दुरुक्तता" अन्य जनजातियो का सपर्क, स्पष्टता और सौकर्य आदि हेतुओ से संधि मे शिथिलता आने लगी। लोग आराम से धीरे-धीरे जब भाषा बोलते है तो सहिता का विच्छेद होने लगता है। अतएव उत्तरवर्ती सस्कृतभाषावेत्ताओ ने—

> सहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयो:
> नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

यह नियम बनाया। एकपद का, धातु और उपसर्ग का तथा समास का उच्चारण एक साथ होता है, परसन्निकृष्ट होता है अत. सधि आवश्यक समझी गई पर

---

१ निरुक्त १।१७।, पाणिनि १।४।१०९।

२. ऋक् प्रातिशाख्य ने सहिता की व्याख्या की है।
सहिता पदप्रकृति., पदान्तान्
पदादिभि सदधदेति सा।
कालाव्यवायेन ....(ऋ० प्रा० २।२)
पदप्रकृतिः सहिता (निरुक्त १।१७।

३. पुर एता तितउना प्रउग नम उक्तिभिः
अन्त-पद विवृत्त्यो तोऽया पदसधिषु। ऋ० प्रा० २।५
पुरएता (ऋ० ६।४८।७) तितउना (ऋ०१०।७१।२)
प्रउग (ऋ० १०।१३०।३) नम उक्तिभि .(ऋ० ८।४।६)

वाक्य के उच्चारण मे वक्ता को स्वाधीनता दे दी गई कि वह चाहे तो संधि करे अर्थात् मिलाकर बोले। प्राकृत काल मे भाषा की स्वाभाविक विकासप्रक्रिया मे उच्चारण-शैथिल्य और मुखसौकर्य के कारण शब्दमध्यवर्त्ती अनेक असयुक्त क्षीण व्यंजनो का लोप हो चला "क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः" (प्रा० प्र० २।२) वररुचि के इस सूत्र मे उस काल की स्थिति स्पष्ट अंकित है। मउल, साअर, वअण, आगअ, विआण, गआ, सुउरिस, वाऊ, दिअह आदि रूप प्राकृत में आने लगे। कुछ स्थानों पर तो व्यंजन लोप से अर्थभेद भी कठिन हो चला। भरत ने इसी को नाट्यशास्त्र में लक्षित किया और कहा—"यस्तु मृत. सोऽपि मओ यश्च मृगः सोऽपि हि तथैव" मअ <मृत और मअ <मृग। संयुक्ताक्षरो मे पूर्ववर्त्ती क, ग, ड, त, द, प, प, और स का और पश्चाद्वर्त्ती म, न, और य का तथा सर्वत्र ल, व, और र का लोप होकर समीकरण होने लगा तब सधि के नियम शिथिल हो चले। प्राकृत शब्दो मे अनेक स्वर समीपवर्त्ती होने लगे। अइआवलय <अतिआकुलित (स० रा० ११३), अइउन्हय <अतिउष्ण (सं० रा० १३२), आइ <आदि (कु० पा० १।२।) आउ <आयु (कु० पा० १।१०) अइरि <आचार्य (दो० को० स०) इत्यादि उदाहरण लिये जा सकते हैं जिनमे वर्ण लोप और संधिविच्छेद दो तीन स्वरो की समीपता के कारण हैं। अनेक स्वरो का लगातार उच्चारण सरल नही है। स्वर मे श्वास वायु का मुख विवर मे गत्यवरोध नही होता अत. एक स्वर के स्पष्ट उच्चारण के बाद ही दूसरा स्वर उच्चरित हो सकता है। अत. स्वल्प परिश्रम का परिणाम स्वरलोप या स्वरपरिवर्तन भी हो सकता है। वररुचि ने यह प्रवृत्ति देख ली थी अतएव सधि मे स्वरलोप और स्वरविशेष को बहुल (अनियमित) विहित कर दिया (प्रा० प्र० ४।१)।

स्वरो की इस प्रकार की समीपता में तीन स्थितियाँ संभव हैं—

१. विवृत्ति[1] या सधि का अभाव। उद्वृत्त स्वर परे होने पर स्वरो मे सधि नहीं होती यह हेमचन्द्र ने स्पष्ट नियम निर्धारित किया। व्यंजनसंपृक्त स्वर व्यंजन के लोप हो जाने पर जब अवशिष्ट रह जाता है तब उसे उद्वृत्त स्वर कहते हैं।[2] मउल, साअर आदि पूर्वोक्त शब्द या निसा-अर, रयणी-अर आदि इसके उदाहरण हैं। यण् सन्धि और अयादि सधि का प्राकृत मे निषेध है।[3]

२. उच्चारण के परम सान्निध्य से सधि का विधान। हेमचन्द्र ने सधि मे व्यवस्थित विभाषा का विधान किया। प्रयोगानुसार जहाँ संधि देखी जाय वहाँ सधि समझी जाय अन्यत्र उसका अभाव।[4] सुन्नार (सुन्नआर) <स्वर्णकार, भडार-

---

१. स्वरान्तरं तु विवृत्ति ऋ० प्रा० २।१
२ स्वरस्योद्वृत्ते (हेम० ८।१।८)
३. हेमचन्द्र ८।१।६ और ८।१।७
४. पदयोः संधिर्वा (हेम० ८।१।५)

(भडारअ) <भडारय <भंडारक, बढ़ावा (वढावअ) <वढ़ावय <वर्धापक, ओचुम्बइ <अउचुम्बइ <अवचुम्बति आदि मे सधि है।

३ यश्रुति, वश्रुति इत्यादि के रूप मे श्रुत्यागम। एक उच्चारण से दूसरे उच्चारण मे जाते हुये श्वास वायु के निकलने से अकस्मात् कोई हल्की ध्वनि आ पड़ती है और श्रोता को सुनाई देती है उसे श्रुति कहते हैं। यह श्रुति धीरे धीरे वक्ता श्रोता संप्रदाय मे बढते बढते स्पष्ट वर्णात्मक रूप ले बैठती है। अपभ्रश भाषा मे यश्रुति प्रधान है। क, ग, ज, इत्यादि व्यजनो के लोप होने पर अर्थात् उद्वृत्त अवर्ण के परे होने पर पूर्व अवर्ण के साथ अघुप्रयत्नतर यकार श्रुति हो जाती है।[1] सकल > सअल > सयल, सागर > साअर > सायर, नगर > नअर > नयर, मृगाङ्क > मअङ्क > मयंक, रत्न > रअण > रयण, लोचन > लोअन > लोयण इत्यादि उदाहरण है। अपभ्रश मे यह नियम प्राय. निरपवाद है।[2] इ-ई और उ-ऊ के परे होने पर यश्रुति नही होती जैसे आइ, आउ आदि मे। परन्तु धीरे धीरे यश्रुति के प्रयोग का प्रसार होता गया और भविसयत्त कहा, पउम चरिउ, पउम सिरी चरिउ आदि ग्रन्थो में इसका प्रचुर प्रयोग है। जैन लेखको ने दो स्वरो के विच्छेद को दूर करने के लिये सर्वदा यश्रुति का उपयोग किया है। भ० क० मे प्राय: सभी स्वरो के योग मे यश्रुति उपलब्ध है :—कलयल <कलकल, अन्धयार <अन्धकार, अणेय <अनेक, लोय <लोक, अणुराय <अनुराग, आहोय <आभोग, अवियल, अविचल <आयरिय <आचरित, तेय <तेज, अकियत्थ <अकृतार्थ, अमय <अमृत, पसूयएहि, <प्रसूनकै इत्यादि। यही स्थिति अन्यत्र जैन ग्रन्थो मे है।

यह यश्रुति अपभ्रश के लिए सर्वथा नवीन नही थी। सस्कृत मे अकारान्त प्रथमा बहुवचन के विसर्ग को स्वर, अन्त.स्थ और वर्गो के अन्तिम तीनो वर्णों के परे होने पर य का आगम यश्रुति ही है। वस्तुत. विसर्ग का अभाव हो जाता है और बीच मे य श्रुति के रूप में आती है। जहाँ उसका पूर्ण श्रवण नही वहाँ य का लोप प्रदर्शित किया जाता है जैसे—देवा + इह > देवायिह या देवा इह।[3] इसी प्रकार इ को इयङ् आदेश[4] यश्रुति है। प्राकृत में वह अधिक विस्तृत हुई और अपभ्रश में पूरी तरह ग्राह्य हो गई। अपभ्रश में भी पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्र मे, विशेषत: जैन लेखको मे, बहुत मान्य हुई पर प्राच्य क्षेत्र मे अपेक्षाकृत न्यून। दोहाकोश, कीर्तिलता और कीर्तिपताका मे यश्रुति का विरल प्रयोग है जैसा स्वरसयोग के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

---

१. अवर्णो यश्रुति :—हेम ८।१।१८०

२. सन्देश रासक-भायाणी, भूमिका पृ० ६

३. पा० ८।३।१७ शाकटायन के अनुसार (८।३।१८) यह यश्रुति "लघु प्रयत्नतर" होती है "यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारण." भट्टोजी दीक्षित।

४. पा० ६।४।७७ एकाचर (एकाच्) और सयोग पूर्व में इ को इय और उ को उव होता रहा है। अनेकाचर और असयोग में आघात का अभाव शीघ्रोच्चारण द्वारा सामान्य सधि प्रस्तुत करता है। (पा० ६।४।८२)

वश्रुति यश्रुति की तरह देश और काल दोनो दृष्टियो से व्यापक नही है। उसका स्वल्प प्रयोग है। संस्कृत में उ के स्थान पर उवङ् इसी वश्रुति का रूप है। वश्रुति मे ओष्ठस्थानीय वर्णों की समीपता, समीकरण या कभी कभी असमीकरण भी कारण बनते हैं।[1]

अंसुव (अश्रु), कंचुव (कंचुक,) पसुवइं (पशुकानाम्), जुवल (युगल), उल्लोव (उल्लोक), दूव (दूत)—भ० क०:, मन्दोवरी (मन्दोदरी), थोवम् (स्तोक), उवर (उदर), उवहि (उदधि), हुवासण (हुताशन), वुव्वुव (बुद्बुद), भुव (भुज), मुरव (मुरज)—(प० च०) आदि मे उकार या ओकार का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। उवजुव उपयुत का समीकरण और उवय उदक का असमीकरण है। पहले मे प को व कर देने पर उकार के बाद भी वकार हो गया और पिछले मे द और क के लोप होने पर दोनों स्थानो मे यश्रुति का साम्य उयय मे से हटाने के लिए उ से प्रभावित व हो गया, आवइ (अयाति), सिवाल (शृगाल), मल्लिव (मल्लिक), चिन्तवइ (चिन्तयति), प० च० आदि मे इसका प्रसार है। अब भी बोलियो में आवे और आये, जावे या जाये, घोडवा या घोडिया मे दोनो श्रुतियाँ हैं। यह ठीक है कि शिष्ट भाषा मे यश्रुति ही समर्थित रह गई है।

जब न तो संधिविधान हो और न यश्रुति या वश्रुति का आश्रय लिया जाय, भले ही उसकी संभावना हो, पर विवृत्ति या उद्वृतता के कारण दो या अधिक स्वर समीप आ कर उच्चरित हो तो स्वरसंयोग की स्थिति उपस्थित होती है। यह स्वरसंयोग अपभ्रंश में निम्न रूपो मे प्राप्त है।

अअ : नअ < नव—की० प०, पअ < पच, पअट (प्रवर्तित), नअन < नयन —उ० व्य० मअन, रअन, पअ < पद—की० ल०, नअर < नगर।

अआ : पआन < प्रयाण, पआरे < प्रकारेण, पआसओ < प्रकाशयामि, परउअआरे < परोपकारे—की० ल०।

अइ : अइ < अति, अइट्ठ < अदृष्ट, अइरावय < ऐरावत, अइहव (देशी शब्द—वाद्यविशेष)—भ० क०, भणइ < भणति—दो० को०, की० प०, प० सि० च० आदि अइस < ईदृश,—की० ल०, आवइ < आपद्,—प० च०।

अई : चडई < चटकिका, भई < भूत—उ० व्य०।

अउ : अउव्व < अपूर्व, रउरव < रौरव—भ० क० अउताक < ? की० ल० करिअउ < कृतम्, गउ < गत.—की० ल० पल्लानिअउं < पर्याणितः।

अऊ : अऊर < अपूर—भ० क०, पिअऊ < पिबतु—की० प०।

अए : भए < भूताः, पएंत < पचत., गए (गता)—उ० व्य०; कए < कृत्वा, गए < गत्वा—की० ल०; नएर < नगर, पए < पदेन, पसंसए (प्रशंसते)।

---

1. भविसयत्त कहा—श्री पाण्डुरंग दामोदर गुणे की अंग्रेजी भूमिका पृ० १२

अओ : अवसओ <अवश्यम्, अओका <अपरक, एक्कओ <एकक, जइसओ <आदृशो, द्वारओ <द्वारकः, पुरिसओ <पुरुषक ,—की० ल० ।

आअ : आअत <आयत्त—की० ल०, अउराअ <अपराक—की० प०, काअ <काया—दो० को० स०, गगासाअरु <गगासागर—दो० को०, आअर <आकर, धाअ <ध्याय, उचाअ <उच्चार्य (ते) उ० व्य० ।

आआ : आआ <आया <आयात —की० प०, काआ <काया—दो० को०, राआ <राजा—की० ल०, पुरिसाआरो <पुरुषाकार —की० ल० ।

आइ . आइ <आदि—दो० को०, आइअ <आयात., रिसिआइ <रिष्ट्वा—की० ल० ; जाइ, जाइअ, जाइआ <याति,यात ,ढलवाइक <'ढाल'वाहक—की० ल०, आइ, पराइ ।

आई : राईव <राजीव—स० रा०, जमाई <जामातृ, पराई <परकीया, अघाई (अघायित्वा)—उ० व्य० ।

आउ : काउ (कदाचन), राउल <राजकुल, गाउँ, गाँउ <गावुँ <ग्राम, नाउ (नापित) —उ० व्य० ; आउच्छि <आपृच्छ्य, आउण्णय <आपूर्ण, राउ <राजा —की० ल० ।

आऊ : आऊरिअ <आपूरित—प० च० ।

आए : आएस <आदेश दो० को०, वाएँ <वातेन, पाएं <प्राप्तेन, न्हाएं <स्नानेन, धाए <ध्यायति—उ० व्य० ; राए <राजा, उपाएं <उपायेन, कोहाए <कोपिता , नाएर <नगर—की० ल० ।

आओ राओ <राजा—की० ल० ; पसाओ <प्रसारः ।

इअ : इअ <इत., इअर <इतर—की० ल० ; इअ <इति—दो० को; हिअ <हृदय, पाविअ <प्रापित, सामिअ <श्रामित—उ० व्य० ।

इआ . अविआणिअ <अविजानित—प० च०, पिआज (दे० श०), पिआरिओ (प्रिया), पीठिआ <पृष्ठिका—की० ल० ।

इउ : घिउ <घृत, उ० व्य०, रिउ <रिपु ।

इए : घिए <घृतेन, हसिए देशी० श० हसिया, वणिएकर <वणिज-कार, किएसि (कृत-आसीत्), पिए, पीए—उ० व्य० ।

इओ : पिआरिओ (प्रिया)—की० ल० ; निओय <नियोग—भ० क०, परिओस <परितोष—भ० क० ।

ईअ : जीअना <जीवन, जीअउ <जीवतु—की० ल०

ईआ . पूरीआ <पूरितः—की० ल० ।

उअ : उअपिट्ठ <उपपीठ, उअल < उत्पल—दो० को०। वुरुअ <विरूप, रुअ, रूआ=रूई, मुअ <मृत, हलुअ < लघुक,—उ० व्य०, घुअ < ध्रुव—की० ल० ।

उआ : उआर <उपकार—दो० को, सुआर <सूपकार, गुआलें <गोपालेन, कुआरू < कुवारू, < कुमार—उ० व्य०, करुआ < कटुक—की० ल०; पिउआ (प्रियका), वटुआ <बटुक, हुआसन <हुताशन ।

उइ : दुइ, दूई <दूवे <द्वे, भुई <भूमि—उ० व्य०, उइय—प० च० ।

उए : उएस <उपदेश—दो० को, वुरुए—उ० व्य० ।

ऊअ : भूअ <भूत—की० ल०, जूअ <द्यूत— भ० क० ।

ऊआ : जूआं—की० ल०, दूआ (फा० दुआ)—की० ल०, सूआ <शुकः—उ० व्य० ।

ऊई : लूई (उल्मुकेन)—उ० व्य० ।

ऊउ : कूउ <कूपम्—उ० व्य० ।

एअ : उव्वेअ <उद्वेग—की० ल० पेअसि <प्रेयसि ।

एआ : पेआज (दे० श०)—की० ल० ।

एइ : देइ <ददासि, पसरेइ <प्रसरेइ <प्रसरेत्—की० ल०, तेइ, तेइं < तेन हि, केइ, केइ <केन हि, देइ <दत्वा—उ० व्य० ।

एउ : जनेउ <दे० श०—की० ल०, देउ <देव, जेउ <जिय (यद्वत्)— उ० व्य० नेउर <नूपुर ।

एऊ : केऊर <केयूर—भ० क० ।

एओ : घरेओ <घृतो—की० ल०, पूरेओ <पूरितः, सारेओ < सारित. ।

ओअ : लोअ <लोक, लोअण <लोचन, लोअन्तर <लोकान्तर, जोअण्डा < भोजन—की० ल०, सहोअर <सहोदर, सुयोअण <सुयोजन, सोअर <सहोदर, होअ <भूत—की० ल०, सोअ (स्वपिति), गोअ (गोपयति)—उ० व्य ।

ओआ : धोआ <धौत —की० ल०, घोआराह (फा० भोजन गृह)—की० ल० सोआव <स्वापयति—उ० व्य० ।

ओइ : ओइनि (देसी नाम)—की० ल०, लोइ <लोक, होइ <भवति—की० ल० ।

ओई : जोई (युवति), रसोई (रसवती)—उ० व्य० ।

ओउ : होउ (भवतु)—उ० व्य० ।

ओए : जोए <जाया—की० ल०, जोएसर <योगेश्वर—भ० क० ।

अइआ : अइआवलय <अत्याकुलक—प० च०, अइआर <अतिचार—भ० क० ।

अइउ . अइउन्हय <अत्युष्णक—प० च० ।

अउअ : मउअ <मृदुक—भ० क० ।

आइउ : पोमाइउ <पामोइउ <प्रमोदित—भ० क० ।

इअअ : ठिअअ <स्थितक, रहिअअ <रहितक—दो० को०, कहिअअ <कथितक—दो० को० पिअअय <प्रियतम—विक्र० ।

इअइ : लक्खिअइ <लक्ष्यते—दो० को ।

इअउ : ठिअउ <स्थितको, ठविअउ <स्थापितको, णिम्मिअउ <निर्मितः ।

इअओ : दीविअओ <दीपितकः—विक्र० ।

इओअ : विओअ <वियोग—प० च० ।

ईअउ : ठीअउ <स्थितः ।

उआअ : उआअ <उपाय—दो० को ।

उअइ : मरुअइ <मरुत—सं० रा०, रुअइ <रोदिति—भ० क० ।

उआए उआएँ <उपाय—दो० को० ।

एउअ : पेउअ=सालणक विशेष—प० च० ।

ओइअ : इदोइअ <इन्द्रगोपक—सं० रा० ।

ओइअओ · विच्छोइअओ=विक्षोदितकः=वियुक्त —विक्र० ।

अनुस्वार और स्वर अनुनासिकीकरण

भरत ने प्राकृत मे स्वरो की गणना मे "अंकार" को स्थान दिया था ।[1] यह "अंकार" स्वर के अनुनासिक रूप और अनुस्वार के परिगणनार्थ है । वररुचि ने पाणिनि की सज्ञा अनुस्वार को न स्वीकार कर "अंकार" की लेखन पद्धति को ध्यान में रख उसे बिन्दु कहा है ।[2] हेमचन्द्र ने पाणिनि का "मोऽनुस्वार" सूत्र ही पूर्णत ८।१।२३ मे ग्रहण कर इसकी फिर अनुस्वार संज्ञा कर दी है । त्रिविक्रम ने पुन बिन्दु सज्ञा को स्वीकार किया ।[3] भरत और वररुचि के "अंकार" और बिन्दु की लिखने की शैली में अनुनासिक स्वर और अनुस्वार मे भेद करना कठिन है । चन्द्रबिन्दु का अनुनासिकस्वरार्थ और केवल बिन्दु का अनुस्वारार्थ प्रयोग विज्ञ और सावधान लेखक अवश्य करते रहे हैं जैसे पउमचरिउ पाण्डुलिपियो के लेखक । अनुस्वार वस्तुत. नासिक्य व्यजन वर्णो का विकार है और उसका उच्चारण भी पश्चाद्वर्ती व्यजन पर अधिक आश्रित रहता है, अत. मोग्गलायन जैसे लेखको ने इसे व्यंजनो में स्थान दिया है । अर्धमागधी की वर्णमाला में भी अनुस्वार व्यजनों की

---

१. देखिये प्रबन्ध पृष्ठ स० ४४

२. मो बिन्दु प्रा० प्र० ४।१२

३. बिन्दुलू । प्रा० श० १।१।४०

समाप्ति पर है।[१] प्राचीन शुक्ल यजु. प्रातिशाख्य "व्यजनं कादि" १।४७ सूत्र मे "अं इत्यनुस्वार एतदन्तम्" व्याख्या मे अनुस्वार को व्यजन मे ही परिगणित करता है, परन्तु ऋक् प्रातिशाख्य व्यंजनो की समाप्ति पर "अ ≍क≍प अ इति वर्ण राशि. क्रमशश्च" १।१० मे अनुस्वार का पाठ करके "अनुस्वारो व्यजन वा स्वरो वा' (१।११) इस कथन से अनुस्वार को व्यजन या स्वर अभिधान करने का विकल्प देता है। व्याख्याकार ने अनुस्वार मे कुछ व्यंजनधर्म अर्धमात्रकालता और सयोग इत्यादि को निरूपित किया है और कुछ स्वरधर्मों को भी जैसे ह्रस्व, दीर्घ आदि उच्चारण।[२] ऋक् प्रातिशाख्य ने अनुस्वार और विसर्ग को पूर्व स्वर का अग स्वीकार किया है।[३] भरत ने इसी "अकार" पद्धति को स्वीकार कर अनुस्वार को स्वरो के अन्त में स्थापित किया है। वस्तुत. किसी भी स्वर के उच्चारण के अनन्तर जब जिह्वा अनुस्वार के उच्चारण मे शीघ्र प्रवृत्त होती है तो नासिकाविवर मे श्वास ले जाने के लिये अलिजिह्वा (कौआ) को उठाना पडता है। इस स्थिति में आकर स्वर उच्चारण के समाप्त होते होते अनुनासिक होने लगता है अतः अनुस्वार के साथ स्वर का अनुनासिकीकरण सम्बद्ध है। स्वरानुवर्त्ती अनुस्वार स्वर को प्रभावित करता है इसका निषेध नही किया जा सकता। प्राकृत और अपभ्रश मे अनुस्वार के पूर्ववर्ती स्वर बहुधा अनुनासिक होते देखे गये हैं।[४]

वैदिक और संस्कृत भाषा मे पदान्त मकार को व्यजन परे होने पर अनुस्वार कर दिया जाता है, परन्तु स्वर परे होने पर नही।[५] प्राकृत मे यह सामान्य विषय बन गया।[६] यह ठीक है कि सस्कृत प्रवृत्ति का भी कही कही स्वर परे होने पर पालन होता रहा।[७] सस्कृत मे अपदान्त नकार को स्वर, अन्त स्थ और नासिक्य वर्णों को छोड़कर अन्य व्यजनो के परे होने पर अनुस्वार हो जाता है। वररुचि ने अपने समय की स्थिति को ध्यान मे रखकर प्राकृत मे नकार और ञकार को व्यंजन परे होने पर बिन्दु (अनुस्वार) मे परिणत किया।[७] हेमचन्द्र ने इस प्रवृत्ति को ङकार और णकार मे भी पाया।[८] इस प्रकार प्राकृत और अपभ्रश तक आते आते वर्ग के सभी

---

१. अर्धमागधी कोश. श्री रत्नचन्द्र सपादित.

२. "अं" इत्यनुस्वारो वर्णसमाम्नाये पठ्यते, स काश्चित् स्वरधर्मान् गृह्णाति, काश्चिच्च व्यंजनधर्मान्। यथा-ह्रस्वत्व, दीर्घत्वमुदात्तत्वमनुदातत्व स्वरितत्वमिति स्वरधर्मा, तथा अर्धमात्राकालता स्वरवशेनोदात्ततानुदात्तता स्वरितता सयोगश्चेति व्यजनधर्माः। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में उदात्त अनुदात्त और स्वरित उच्चारण रह ही नहीं गये अतः अनुस्वार को व्यजन में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति प्रबल हुई।

३. अनुस्वारो व्यजनं चाक्षराङ्ग, स्वरान्तरे व्यंजनान्युत्तरस्य।

४. त्रिविक्रम ने इस प्रवृत्ति को अच्छी तरह पहचान लिया था अतः उसने परिभाषा में ही "सानुनासिकोच्चार ङित्, ।१।१।२६ सूत्र रखकर ङित् चिन्ह सानुनासिक उच्चारणार्थ निर्दिष्ट कर दिया

५. मोऽनुस्वारः पा० ८।३।२३।

६. मोऽनुस्वार. हेम० ८।१।२३ या प्रा०प्र० ४।१२ या त्रिवि० १।१।४०।

७. वा स्वरे मश्च। हेम० ८।१।२४ या प्रा० प्र० ४।१३।

८. नञोर्हसि प्रा० प्र० ४।१४ ५६ ङ-ञ- ण नो व्यंजन। हेम० ८।१।२५ या त्रिवि० १।१।४१

अन्तिम वर्णों को अनुस्वार करने की प्रवृत्ति हो गई। अतएव अपभ्रंश मे अनुस्वार का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे है। उदाहरणार्थ—

जंबीर सुहंजण नायरंग (स० रा० २।६१)

तं तुंग तवगु पिक्खवि पंजणि जिणवरहो (भ० क० ६।४)

संस्कृत मे अपदान्त अनुस्वार ऊष्मवर्णरहित व्यजन परे होने पर परसवर्ण भी हो सकता था।[1] प्राकृत और अपभ्रश मे भी वही स्थिति रही।[2] पउम चरिउ ने अपदान्त मे परसवर्ण का प्राय: निरपवाद प्रयोग किया है, और पदान्त मे अनुस्वार का। उदाहरणार्थ—

मन्दारकुन्दिन्दु—सिन्दूर—सिन्दीहिं ३।१।७।

सिरिखण्ड, कोरण्ट, जम्बू, जम्बिरि, णारङ्ग, कङ्केल्लि, कञ्चण, कोञ्ज, में न, ण, म, ङ०, ञ सबका परसवर्ण है।[3]

इसके विपरीत भ० क० और सदेश रासक मे अनुस्वार का प्रयोग है। उदाहरणार्थ—मयरद, भोगतरिउ, अवसडणु, कंठु, कंपणु, थंभइ, सिंगारि, पंकय, रजइ, संजोए, (पृ० १४)

दोहा कोश मे भी परसवर्ण विधान है। जैसे—परिभुञ्जण, णिरन्तर, चङ्ग, हिण्डइ, निम्व (पृ० ३०)

विद्यापति ने कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका मे परसवर्ण ही रहने दिया है। तुरग, चतुरग आदि कुछ स्थलो में अपवाद हैं जो लेखक के प्रमाद से भी सभव हैं।

ऊष्म वर्णों के परे होने पर अनुस्वार कभी परसवर्ण नही होता यद्यपि उसका अपभ्रंश मे उच्चारण "न" की तरह है। सभी अपभ्रश ग्रन्थ इसे निरपवाद स्वीकार करते हैं और लेखक भी इसके लिखने मे भ्रान्ति मे नही पड़ते।

व्यंजनलोप होने पर क्षतिपूर्त्यर्थ तत्पूर्ववर्त्ती स्वर के अन्त मे भी अनुस्वार आगम हो जाता है और इसी कारण स्वर को दीर्घ नही होता। जैसे—वंक (वक्र) असु<अश्रु, कुंवल<कुड्मल, विंछि<वृश्चिक, दशन<दर्शन, पंठ<पृष्ट, पंखि<पक्षिन्, णियसण<निवसन् मजार<मार्जार, इत्यादि। इन सभी उदाहरणो मे प्रा० भा० आ० मे किसी अनुनासिक वर्ण की उपस्थिति न होने पर भी सहसा अनुस्वार का आगम हो गया है। यह प्रवृत्ति आदि म० भा० आ० जैसे पालि और प्राकृत[4] से ही

---

१. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः पा० ८।४।५८,

२. ययि तद्वर्गान्त: प्रा०प्र०४।१७ वर्गेऽन्त्योवा, हेम० ८।१।३० या त्रिवि० १।१।४७

३. इस प्रसग में श्री भायाणी का नोट पृ० ५६ पर दर्शनीय है। पाण्डुलिपियों में सर्वदा अनुस्वार का प्रयोग है। भायाणी ने उन्हें वर्गानुनासिक किया है यह अनुचित है। इस तरह पश्चिमी अपभ्रंश में अनुस्वार ही प्रधान प्रवृत्ति है, यही सिद्ध होता है।

४. वक्रादिषु। प्रा० प्र० ४।१५ वक्रादावन्त. हेम० ८।१।२६

आरम्भ हो गई थी। ग्रियर्सन ने अनेक आ० भा० आ० के आकस्मिक अनुस्वारमय स्वरयुक्त शब्दो का मूल म० भा० आ० मे ढूंढ निकाला है।[1]

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा मे विभिन्न देशो की पाठप्रणाली का विवेचन करते हुये लिखा है—

ततः पुरस्तात्कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे।
ते महत्यपि सस्कारे सानुनासिकपाठिन ॥ अ० ७।

वह उत्तरापथ के वक्ताओ मे सानुनासिक पाठ की प्रबलता पाता है। कितना भी व्याकरण का संस्कार रहे वे निरनुनासिक को भी सानुनासिक कर देते हैं। यही प्रवृत्ति आकस्मिक अनुस्वार को उपर्युक्त उदाहरणो मे जन्म देती रही है, अनुस्वारान्त स्वरों को सानुनासिक बनाती रही है, और धनपाल तथा अब्दुल रहमान जैसे कवियों मे अनुस्वार को परसवर्ण होने से रोकती रही हैं। इसके अतिरिक्त जैन कवि और लेखको को अर्ध मागधी के अनुस्वार-नियम ने भी प्रभावित किया है।[2] अर्ध मागधी मे समास मे आकस्मिक अनुस्वार हो जाता है।[3] प्राच्य अपभ्रंश में अपदान्त अनुस्वार का या वर्गानुनासिकता के अभाव का यही कारण है।

स्वरानुनासिकीकरण पदान्त मे निम्न अवस्थाओ मे प्राप्त होता है-

(१) शब्दरूप-निर्माणार्थ प्रयुक्त प्रत्ययो में :—

क -हं, -हिं, हुं .—संबन्ध बहुवचन, करण-अधिकरण बहुवचन, अपादान बहुवचन (अकारान्तो से)-सबन्ध बहुवचन। रामहं, रामहिं, रामहुं ; गिरिहं, गिरिहिं, गिरिहुं।

यह विशेष ध्यान देने की बात है कि अनुस्वार बहुवचन का द्योतक है। उनके एकवचन रूप-ह,-हि और-हु है। अनुस्वार द्वारा बहुवचन बनाने की पद्धति आ० भा० आ० मे इसी तरह आई है। इस प्रकार अनुस्वार केवल ध्वनि विज्ञान का ही नियम न होकर रूप विज्ञान का भी विषय है।

ख—इं नपुंसकलिंग शब्दों का बहुवचन—कमलइं, कमलाइं, वारिइं; महुइं, महूइं।

ग—एं करण का एकवचन रामे, गिरिएं।

---

१. Spontaneous nasalization in the Indo Aryan Languages-J.R.A.S. (1922) Page 381.

२. ङ ञ ण न् and म् when followed by mutes of their class are always replaced by the Anuswar अर्धमागधी कोश अंग्रेजी नोट सं० ३ पृ० १०।

३. In compound, an anuswar is often inserted when the next member begins with a vowel अपय+अपय=अपयमपय, दीह+अद्धा=दीहमद्धा। अर्धमागधी कोश, अंग्रेजी नोट, सधि प्र० पृ० २४।

घ—उं स्वार्थिक क प्रत्ययान्त नपुंसकलिंग शब्द के कर्त्ता कर्म मे एकवचन—तुच्छउं, फलउ ।

ङ—हाँ सर्वनाम अकारान्त शब्द का अपादान एकवचन—जहाँ, तहाँ, कहाँ ।

च—हिं सर्वनाम अकारान्त सप्तमी एकवचन
जहिं, तहिं ।

२. धातुरूपनिर्माणार्थं प्रयुक्त प्रत्ययो मे :—

क—उं वर्तमान काल उत्तम पुरुष एकवचन
कड्डउं, किज्जउ ।

ख—हुं वर्तमान काल उ० पु० बहुवचन
लहहुं, जाहुं ।

ग—हिं वर्तमान काल प्रथम पुरुष बहुवचन
धरहिं, करहिं ।

घ—एवं, अणह, अणहिं—तुमर्थं ।
भुञ्जेवं, भुञ्जणह, भुञ्जणहिं ।

ङ—इएव्वउ, एव्वउ—तव्यार्थं ।
करिएव्वउ, सहेव्वउ ।

३. सर्वनाम शब्दरूपो की रचना —

ध्रुं (यत्), त्र (तत्), काइं, तुहुं, तुम्हहं, पइं, तइं, हउं, मइं, इत्यादि

४. अव्यय—ताउं (तावत्), जाउं (यावत्), मं (मा), माणउं (मनाक्), सहुं (सह), एम्वहिं (इदानीम्,) केहिं, तेहिं, रेसिं, अवसें, नं(इवार्थ) ।

निरनुनासिकीकरण

अपभ्रंश में अनुनासिकीकरण के विपरीत कुछ उदाहरण हैं जिनमें प्रा० भा० आ० के अनुनासिक का लोप हो गया है। जैसे—वीसा<विंशति, तीसा<त्रिंशत्, सक्कय<संस्कृत, सीह<सिंह ।[1]

श्री भायाणी ने संदेशरासक के पाठो मे अनुनासिकीकरण का गणनात्मक विवेचन किया है और इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि निरनुनासिक करने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक है।[2] अधिकरण और करण मे-हिं और-हि के प्रयोग का अनुपात २ ३ है। इसी प्रकार वर्त्तमान प्र० पु० ब० व० मे-हिं के प्रयोग ६ और हि के प्रयोग १९ हैं तथा-इं के प्रयोग शून्य और-इ के ११ । इसी तरह हउ, तुहु, मइ आदि के प्रयोग भी हउं, तुहुं, मइं के साथ हैं। प्राच्य अपभ्रंश में निरनुनासिकीकरण अपेक्षाकृत अधिक है ।

स्वर परिवर्त्तन

प्राकृत वैयाकरणो ने अपभ्रंश भाषा में प्रा० भा० आ० के स्वरों में परिवर्त्तन

---

१. हेमचन्द्र ८।१।२८-२९

२. संदेश रासक भूमिका पृ० ३ ।

की विविधता और बहुलता देखकर "स्वराणां स्वरा. प्रायोऽपभ्रंशे" (हेम० ८।४।३२९) जैसे नियम बनाये और किसी स्वर के स्थान पर किसी भी स्वर के हो जाने की संभावना बताई है।[1] हेमचन्द्र ने तो अपभ्रंश व्याकरण का प्रारम्भ ही उपर्युक्त सूत्र से किया। त्रिविक्रम (३।३।१) सिंहराज, लक्ष्मीधर और मार्कण्डेय ने भी उसी बात को दुहराया।

(क) स्वरो मे परिमाण (मात्रा) का परिवर्तन—

(१) दीर्घ को ह्रस्व करना—ह्रस्वीकरण प्रकरण मे यह विवेचित हो चुका है कि पूर्वाक्षर पर स्वराघात के कारण पदान्त अक्षर निर्बल हो जाता है और परिणामत अन्तिम स्वर ह्रस्व उच्चरित होने लगता है या सपूर्ण अक्षर क्षीण होकर लुप्त हो जाता है। आ, ई, ऊ, ए और ओ क्रमश अ, इ, उ इ और उ हो जाते हैं।

यथा—आ > अ स्त्रीलिंग—धण <धन्या, रेह <रेखा, पिअ <प्रिया, पराइय <परकीया, सझ <सध्या, भुक्ख <बुभुक्षा, अवेज्जा <अविद्या, जीह < जिह्वा।

पुल्लिग—अक्खय <अक्षता, अप्प <आत्मा,

ई > इ स्त्रीलिंग—अडवि <अटवी, नइ <नदी, नाडि <नाडी, <नायरि <नागरी, नायस्री <नागश्री, रयणि <रजनी।

पुल्लिग—परमेट्ठि <परमेष्ठी, ससि <शशी।

ऊ > उ स्त्रीलिंग—वहु <बधू

ए > विगुप्पइ <विगोप्यते, अम्हि <अस्मे, तुम्हि < *तुष्मे

ओ > उ मुक्खुज्जुय = मोक्षोद्यत।

उपान्त्य स्वर प्राय उसी तरह सुरक्षित रहते हैं तथापि कुछ स्थलो मे दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है—

आ > अ रहङ्ग <रथाङ्ग, मिअक <मृगाङ्क, पाहण <पाषाण,

ई > इ पुडरिय <पुडरीक, वामिय <वामित = वामीकृत, गुहिर <गभीर,

प्रेरणार्थक आव प्रत्यय दीर्घस्वरान्त अथवा संयोगान्त धातुओ के योग मे अव रूप धारण करता है—

ठविय, सठविय (√ठा) <संस्थाप्य, णिम्मविय (√णिम्मा) <निर्माप्य, विंभविय (√विंभ), उल्हविय (√उल्ह)

शब्द का प्रथम स्वर उत्तरवर्ती व्यजन के द्वित्व होने पर यदि यह निष्कारण भी हो तो ह्रस्व ही रहता है या ह्रस्व कर दिया जाता है—

अम्ब <आम्र, गत्र <गात्र, पब्भार <प्राग्भार, जम्बावइ <जाम्बवती, अत्थान <आस्थान, वग्घ <व्याघ्र, लगूल <लांगूल, मग्ग <मार्ग, अक्खाण <आख्यान,

---

१. हेमचन्द्र इसी तरह प्राकृत धातुओं के विषय में। "स्वराणां स्वराः"; ८।४।२३८ कह चुके हैं।

अग्घाइय <आघ्रात, अच्चरिय <आश्चर्य, अज्ज <आर्या, इक्खण <ईक्षण, पिक्खइ <प्रेक्षते, सिट्ठि <श्रेष्ठिन्—भ० क० निच्च <नीच, णित्त <नीत, तिण्ण <त्रीणि ।

निष्कारण भी ह्रस्व कहीं-कहीं विरल दृष्टिगोचर होता है—

नथ <नाथ, अहाण <आभाणक, पलित्त <पालित, जइ <यथा, खइअ <खाइअ <खादिता

छन्दोनुरोधार्थ भी दीर्घ को ह्रस्व किया जाता है—

गधमोद <गधामोद, सियल <शीतल, वहिरयंति <वहीरयति <वधीरयन्ति; हुय <हूय <भूत, कवालिय <कापालिक, अल <आल <ज्वाला-सदेश रासक[1]।

(२) ह्रस्व का दीर्घीकरण—यह सामान्य नियम नहीं है। विशेष स्थलों में ही यह कार्य होता है। आ० भा० आ० की पश्चिमी अर्थात राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि मे आकारान्त प्रातिपदिकों की स्थिति इसी के अन्तर्गत है।

अन्त्य स्वर —ढोल्ला, सामला.

उपान्त्य स्वर—बम्भचार <ब्रह्मचर्य, सोक्खखानि <सौख्यखनि.

उपान्त्य स्वरों से पूर्ववर्ती स्वरों मे, विशेषत सर्वप्रथम स्वर मे, मात्रिक परिवर्त्तन नहीं के बराबर है। प्रथम स्वर के उच्चारण मे वक्ता सावधान रहता है। मुखसौकर्य का प्रभाव उत्तरवर्त्ती स्वरों पर पड़ता है। प्रथम स्वर पर प्राय आघात भी पड़ जाता है अत परिवर्त्तन की सभावना कम रहती है। तथापि कुछ उदाहरणों में छन्दोनुरोधार्थ या आकस्मिक मिथ्या-सादृश्य-निबन्धन ह्रस्व को दीर्घ कर दिया जाता है —

आलकियउ <अलंकृतक, पावास <प्रवास, पासाहण <प्रसाधन, संगाइ < संगति, कुणाइ <कुणइ <क्वणति; हीय <हिय <हृत; अग्गीहर <अग्गिहर < अग्निगृह।

इस तरह दीर्घ करने का उदाहरण दूसरी शताब्दी पूर्व मथुरा से प्राप्त जैन. शिलालेख मे है—

"समनस माहरखितास आंतेवासिस वछीपुत्रस सावकस
उतरदासक (1) स पासाद तोरन"[2]

यहाँ माहरखितास <माघरक्षितस्य और आंतेवासिस <अन्तेवासिन. में ह्रस्व को दीर्घ है। आपस्तम्ब ने, जो ६वीं शताब्दी ई० पू० के हैं, अपने धर्मसूत्र में पर्यन्तम् के स्थान पर पर्यान्तम् प्रयोग किया है। वैदिक प्रयोग भी इस प्रकार के उपलब्ध हैं।

प्राकृत के नियमानुसार सयुक्ताक्षरों के समीकरण हो जाने पर और एक व्यजन के अवशेष रह जाने पर सयोगपूर्व स्वर को पूर्ववत् गुरु मात्रा बनाये रखने के

१. सदेश रासक—श्री भायाणी की भूमिका पृ० ८, अनुच्छेद १७।
२. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड २, पृ० १९८।

लिये दीर्घ कर दिया जाता है। कभी,कभी यह मिथ्यासादृश्य के आधार पर असंयुक्ताक्षर शब्दो मे भी आकस्मिक हो जाता है।

(1) संयुक्ताक्षर शब्द—कासु < कस्स < कस्य, जासु < जस्स < यस्स, तासु < तस्स < तस्य, कायव्व < कर्त्तव्य, दाहिण < दक्षिण, दाढा < दंष्ट्रा अथवा < दग्ध., गाव < गर्व, फास < स्पर्श, लाभइ < लभ्यते, आभास < अभ्यास।

(2) असंयुक्ताक्षर शब्द—गाल < गल, पायड < प्रकट, पारोह < प्ररोह, कालिङ्ग < कलिङ्ग, सापत्त < सपत्नी, आले < अलम्, अणोवम् < अनुपम, पोत्थम् < पुस्तक, पम्रोहण < प्रवहण, वोहित्थ < वहित्र, सोवासिणि < सुवासिनी—भ० क०

(ख) स्वरो मे गुण का परिवर्त्तन—

(१) अ > इ : णिमिसिद्ध < णिमिसद्ध < निमिषार्धम्, ससिहर < शशधर, ईखोड < अक्खोड < अक्षोट, कोसिल्ल < कोसल्ल < कौशल्य—स० रा०; परिं < परम्, अवंसि < अवश्यम्, सइं < सयम् < शतम्, माइ < माया < माता, उक्खिण < उत्खन, सिविण < स्वप्न, इगाल < अगार—णा० च०।

(२) अ > उ अजुलि < अंजलि, पउदडउ < पयदडक < पददण्डक, पउहर < पयधर < पदधर—सं० रा०।

(३) अ > ओ पोम < पद्म, पोत्थ < पुस्तक।

(४) आ > उ . पुंडु < पाण्डु।

(५) इ > अ विरहणि < विरहिणी, धरत्ति < धरित्ति < धरित्री, दयवर < द्विजवर, णिवड < निविड, वसण < वसिण < वशेन, सिवण < सिविण < स्वप्न, नदणी < नदिनी, सरि < सिरि < श्री, विवह < विविध।

उपर्युक्त उदाहरणो मे प्राय असमीकरण की प्रवृत्ति है। उच्चारण मे दो इकारों को बचाने के लिये एक को अकार कर दिया गया है। इस प्रक्रिया मे प्रथम और अन्तिम स्वर यथावत् रह जाते हैं, मध्यवर्ती स्वरो मे परिवर्त्तन होता है।

(६) इ > उ : उच्छु < इक्षु।

(७) उ > अ पलट्टिहि < पलुट्टिहि, उत्तंग < उत्तुंग, चउग्गणी < चतुर्गुणी, कुसम < कुसुम, णिवडब्भर < णिवडुब्भर < निविडोद्धुर, सलिलब्भव < सलिलुब्भव < सलिलोद्भव, रहसच्छल < रहसुच्छल < रभसोच्छल, सूरग्गल < सूरुग्गउ < सूरोद्गम, सुकुलग्गय < सुकुलुग्गय < सुकुलोद्गम।

इन उदाहरणो मे ह्रस्वीकरण और उदासीन स्वर की प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है।

उकारान्त रूप जब किसी अन्य शब्द के संक्षिप्त रूप के साथ समस्त हो जाते हैं तो उकार अकार मे बदल जाता है।

इक्क-इ <इक्कु+इ <एकम्+अपि, अन्न-इ <अन्नु+इ <अन्यत्+अपि, पुण-वि <पुणु + वि पुन +अपि[1], जेत्थइ <जेत्थुइ <जेत्थुजि, तेत्थइ <तेत्थुइ <तेत्थजि, तासइ <तासुइ <तासुजि[2]; जि=एव[3]

"सु" भावप्राबल्यार्थ विशेषणो के साथ पूर्वोपयुक्त होने पर "स" मे परिणत हो जाता है। यह प्रवृत्ति आ० भा० आ० मे भी कुछ शब्दो मे बनी हुई है। संदेश-रासक मे अनेक प्रयोग उपलब्ध हैं।

सविलक्ख, सलोल, सकोमल, सकसाय, सलिज्जर इत्यादि।

इस तरह के प्रयोग सचकित (पचाख्यानक मे), ससभतो <सुसभ्रान्ता. (समराइच्च कहा मे) सशकिय (पाइअसद्दमहाण्णवो मे) उपयुक्त हो चुके हैं। हिन्दी मे सपूत जो कुपूत का विरोधी है स्पष्ट बताता है कि सुपुत्र >सपूत है। इसी तरह सकाल और सकुशल शब्द हैं।

(८) उ >इ · पुरिस <पुरुष।

(९) उ >ओ गोछ <गुच्छ—णा० च०।

(१०) ऊ >ए णेउर <नूपुर—णा० च०।

(११) ए >इ · सयुक्ताक्षरपूर्व निरपवाद —

पिक्खइ <प्रेक्षते, इक्क <एक्क, सिज्ज <सेज्जा <शय्या, विगुप्पइ < विगोप्यते।

अन्यत्र विरल—इम <एम, जिम <जेम, तिम <तेम, किम <केम, इहु < एहु <एष, हिमत <हेमन्त, ह्रस्वीकरण की प्रवृति से व्याख्या की जा सकती है।

(१२) ओ >उ . सयुक्ताक्षर पूर्व निरपवाद—मुत्तिय <मोत्तिय <मौक्तिक, जुन्ह < <जोन्हा <ज्योत्स्ना, कदुट्ट <कदोट्ट, कुंज <कोंज <क्रौञ्च, जुव्वण < जोवन <यौवन।

अन्यत्र विरल—विउय <विओइ <वियोगी, सुसतिय <सोसतिय <शोषयन्तिका, णिउइय <णियोजित <नियोजित,

(१३) औ >आ गारव <गौरव—णा० च०।

स्वरलोप

आदि स्वरलोप—रण्ण <अरण्य, रविन्द <अरविन्द, वलग्गी <अवलग्ना, हउ <अहकम्, हेट्ठा <अधस्तात्, वइसइ <उपविशति, वट्ठइ <उपविष्ट, भ० क०, वक्खर <उवक्खर <उपस्कर—वलोइय <अवलोकित, वलग्ग < अवलग्न—णा० च०।

---

१. संदेशरासक भूमिका पृ० १०

२. भ० क० भूमिका पृ० १२

३. हेम ८।४।४२०

मध्यस्वरलोप—दो अव्यवहित स्वरो का संकोचन और एक पूरे अक्षर का लोप —

एमाइ <एवमाइ <एवमादि,एमेव <एवमेव,भविसत्त <भविसयत्त <भविष्यदत्त, पियार <पिययर <प्रियवर, वद्धावा <वद्धावय <वर्धापय, पडिलिउ < पडिअलिय <प्रति अलीक, पडु ंज <पडिउज <प्रतियुज्, पडुत्तय <पडिउत्तय <प्रतिवृत्तक,

प्रति के इ का लोप असवर्ण स्वर के परे होने पर समास मे हो जाता है यह अर्धमागधी का नियम है। यही अपभ्रंश मे भी लागू है।[1]

अन्त्यस्वरलोप— -अ,-अअम् का या तो पूरा लोप हो जाता है या लघुरूप हो जाता है। अन्तिम अक्षर का पूरा लोप भी इसी के अन्तर्गत है—

उज्झा <उवाज्झा <उपाध्याय, खेती <खेत्तिय <क्षेत्रिय, सयडी <सगडिय <शकटिका, एउ <एवम्, ध्रुउ <ध्रुवम्, सच <सचय, इदि <इन्द्रिय, ए <एअ <एतद्, अणवर <अणवरअअ <अनवरतक, जिनाला <जिनालय, पदीवा <पदीवय <प्रदीपक,

श्री तगारे ने अपभ्रंश के करण कारक एँ मे इसी प्रक्रिया को स्वीकार किया है।[2] एँ <एन (संस्कृत), टर्नर ने इसे विभक्ति प्रत्ययो की क्षीणता बताया है।[3]

स्वरसंकोचन या उद्वृत्त संधि

१. (क) अय >(अअ) >आ—स्वार्थिक शब्दो के पुल्लिग या न० लि० जैसे :-
तूरा <तूरय <तूरक, तडुला <तडुलय <तडुलक, भडारा <भडारय < भट्टारक, महिसा <महिसय <महिषक,

वस्तुत 'क' का लोप होने पर विना यश्रुति का समावेश किये उद्वृत्त संधि द्वारा यह कार्य निष्पन्न समझना चाहिये।

हेत्वर्थ अय—गवेसा <गवेसय <गवेषक, पसाहा <पसाहय <प्रसाधक,उत्तारा <उत्तारय <उत्तारक, हक्कारा <हक्कारय <हक्कारक (आकारक)

मौलिक अय—जिनाला <जिनालय

उपर्युक्त नियम के मिथ्यासादृश्य द्वारा निष्पन्न।

(ख) बहुवचन रूप मे—
दड्ढा <दड्ढय <दग्धका, बड्ढ <वड्ढका <वर्धका

२. इय >ई. ईकारान्त स्त्रीलिंग स्वार्थिक कप्रत्ययान्य—मजरी <मजरिय <मंजरिक, मजरी ह्रस्वीकरण नियम से मजरि हो जाता है, पुन स्वार्थ क प्रत्यय

---

१. पिशल १६३ अनुच्छेद।
२. हि० ग्रा० अ०—पृ० ५०
३. Phonetic Weakness of Terminational Elements in Indo Aryan—J.R.A S. (1927) Pages—227-39.

लेकर मजरिय और फिर सकोचन से तत्समतुल्य। स्त्रीलिंग ईकारान्त शब्द छायती, झपती, कुणती, चउग्गुणी आदि अपभ्रंश मे इसी तरह समझे जा सकते हैं।

३. इय > ई · मिथ्यासादृश्य के आधार पर वर्तमान क्त प्रत्ययान्त—चढी < चढिय (चढिता), तुट्टी < तुट्टिय < त्रुटिता, पाली < पालिय < पालिता, पडिल्ली < पडिल्लिय (पडिल्लिता)।

४. अआ > आ सुन्नार < सुन्नआर < सुवर्णकार, सहार < सहआर < सहकार, अधार < अधआर < अधकार

५. इई > ई तीयय < तिईयय < तृतीयक

६. अउ > ओ तो < तउ < तत, सामोर < सम्मउर < संबउर < शाम्बपुर, मोर < मऊर < मयूर,

स्वरागम और स्वरभक्ति

आदि स्वरागम—उच्चारणसुविधार्थ शब्द के आदि मे स्वरागम की प्रवृत्ति अपभ्रंश मे स्वल्प है। आ०भा०आ० मे यह प्रवृत्ति अधिकतर मध्यदेशीय या प्राच्यदेशीय है। सयुक्त ऊष्म वर्ण के उच्चारण से पूर्व शब्दवर्ती स्वरानुसार स्वरागम या पुरोहिति का उदाहरण—

इत्थि < स्त्री (पा० दो०), इत्थिय < स्त्री (भ० क०)

मध्य स्वरागम—प्रा० भा० आ० मे पश्चिम क्षेत्र मे, विशेषत पजाब मे, मध्य-स्वरागम की प्रधानता है। अपभ्रंश से चली हुई यह प्रवृत्ति है। प्राकृत में इसे युक्तविकर्ष और वैदिक प्रातिशाख्य मे स्वरभक्ति कहा गया है। दो संयुक्ताक्षरो के उच्चारण की कठिनता को दूर करने के लिये इसका आश्रय है।

जैसे—वरिस < वर्ष, वरिसइ < वर्षति, किरिआ < क्रिया, किलिण्ण < क्लिन्न—भ० क०; वरिस < वर्षा, वरिसद्ध < वर्षार्ध—प० च०; अच्चरिय < आश्चर्य, स० रा०, सारङ्ग < शार्ङ्ग—प० च०, सिवण < स्वप्न, किसण < कृष्ण—सं० रा०, सरि < श्री,—स० रा०, सयत्थ < स्वार्थ,—भ० क०, हरिस < हर्ष, किलेस < क्लेश,—भ० क०, हरिसिय < हर्षित, सुहुम < सूक्ष्म,—भ० क० सुकिलि < शुक्ला,—उ० व्य०।

अन्त्य स्वरागम—म० भा० आ० मे सस्कृत शब्दो के अन्तिम व्यजनो का या तो लोप हो गया था या स्वर का आगम हो गया था और शब्द स्वरान्त हो गये। वही प्रवृत्ति अपभ्रंश मे भी बना रही। जैसे—सरय < शरद्, सरय < सरस्, सरयसिरि < शरत्+श्री, सुत्त < स्रोतस्—भ० क०

इस स्वरागम (Epenthesis) के उदाहरण किरिया, हरिसिय आदि मध्यस्वरागम

के अन्तर्गत हैं। अपश्रुति (Ablaut) ह्रस्वीकरण और स्वरपरिवर्तन से गतार्थ हो जाती है।

स्वराघात

स्वराघात वस्तुत. भाषण प्रक्रिया का अङ्ग है जो किसी जीवित और व्यवहार में आनेवाली भाषा मे सम्यक्तया विवेचित किया जा सकता है और अपने विभिन्न रूपो मे विभाजित किया जा सकता है। वैदिक भाषा के विषय मे प्रातिशाख्यो और व्याकरणो द्वारा यह भली भाँति अवगत हो जाता है कि वह भाषा पूर्णतया सुर (Pitch) के आधार पर स्वराघात-प्रधान थी। उच्च, सम और निम्न सुरो को उदात्त, स्वरित और अनुदात्त कहा जाता था। वेद के प्रत्येक शब्द का बडी बारीकी से स्वरविधान किया गया है। ब्राह्मण-काल मे यह स्वराघात शिथिल हो चला। वैदिक यज्ञो में विशेषत. जब नियत समय मे उनको समाप्त करना हो—स्वरविधान शिथिल कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि सस्कृत भाषा में यह स्वराघात प्रधानता समाप्त हो गई। सस्कृत की उत्तराधिकारिणी म० भा० आ० प्राकृत, अपभ्रंश और आ० भा० आ० की भी यही स्थिति है। बल (Stress) के आधार पर स्वराघात भा० आ० भा० की विशेषता नही रही। अंग्रेजी जैसी भाषाएँ बलाघात-प्रधान हैं जिनमें शब्द के अक्षरो पर बलाघात निश्चित होता है। हिन्दी बलाघात-प्रधान भाषा नही। इसी तरह अपभ्रंश को भी समझा जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार हिन्दी मे कुछ विशेष प्रकार के शब्दो में बलाघात निश्चित है उसी प्रकार ध्वनि विकारो के अध्ययन से हिन्दी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा मे बलाघात नियमो को ढूँढा जा सकता है।

आघातनिर्धारण मे मात्रालाघव या ह्रस्वीकरण और महाप्राण वर्ण को अल्प-प्राण करना यह सकेत देते हैं कि स्वर पर आघात नही रहा तथा मात्रावृद्धि या दीर्घीकरण और अल्पप्राण को महाप्राण करना इस बात के सूचक हैं कि स्वर पर आघात पड़ रहा है। उपाध्याय मे बलाघात ध्या पर निश्चित बना रहा अत क्षरण प्रक्रिया में वह झा बना रह गया।

सक्षेप मे बलाघात निम्न रूप से व्यवस्थित किया जा सकता है —

(१) अन्त्याक्षरो मे ह्रस्वीकरण और लोप की प्रवृत्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि अन्त्याक्षरो पर प्राय बलाघात नहीं रहता। बलाघातयुक्त स्वर अपरि-वर्तनशील रहता है। यथा—सीस, रूढ, मीठ, कद्दम, कत्ति, कामिणी इत्यादि शब्दो मे अन्त्याक्षर बलाघातशून्य हैं।

(२) द्व्यक्षरात्मक सज्ञाओ तथा विशेषणो मे स्वराघात प्रथम अक्षर पर पडता है—गइ <गति, गद <गदा, दार <दारा, निति <नीति, कित्ति <कीर्त्ति, गाइ < गावि <गावी (गौ), चूअ (चूत), वूढ <वृद्ध, घोड <घोट, लोण <लवण,

पोथी <पुस्तिका आदि।

(३) त्र्यक्षरात्मक संज्ञाओ और विशेषणो मे भी प्रवृत्ति प्रथमाक्षर के स्वर पर ही बलाघात डालने की है पर कुछ स्थलो मे यह उपान्त्य स्वर पर जा पड़ता है :—

निच्चल <निश्चल, निज्जिय <निर्जित, धणिय <धन्या, दूसह <दुस्सह बाम्हण <ब्राह्मण, आगन, <अगन, कहणी <कथानिका, साकर <शर्करा, पाथर <प्रस्तर सौधा <सुगन्ध, <विग्रास <विकास, हियय <हृदय, हरिणि < हरिणी, दिप्पन्त <दीप्यमान,

परन्तु—नियउ <नियम, कपूर <कर्पूर, दुखड <द्विखण्ड, णिहाण <निधान, देहुर <देवघर <देवगृह मे उपान्त्य स्वर पर आघात है।

(४) चतुरक्षारात्मक या अधिकाक्षरात्मक शब्दो मे, दीर्घ समासो मे प्रथम स्वर पर आघात न रह कर मध्य स्वर या उपान्त्य स्वर पर रहता है।

दीवालिय <दीपालिका, परिवाडि <परिपाटि, धयरट्ठ <धृतराष्ट्र, उवसोह <उपशोभा, एक्कवय <एककपाद, ओहुजइ <उपभुङ्क्ते, <अक्खाणय <आख्यानक

गुआला <गोपाल, दयादु <दायाद्य, कनमेरु <कर्णमेरु, विसीठ्ठ <विशिष्ट, विहाण <विभान, भिक्खारि <भिक्षाकारिक, कुपुत <कुपुत्र, सथवैद <शस्त्रवैद्य।

(५) कभी-कभी अंतिम अक्षर पर आघात पडता है और इसी का परिणाम होता है कि पूर्वाक्षर मे असयुक्त व्यजन से पूर्ववर्त्ती स्वर ह्रस्वीकृत हो जाता है और व्यजन को द्वित्व, जैसे—एव्वम् <एवम्, किड्डा <क्रीडा, जोव्वण <यौवन, इत्यादि।[1]

अपभ्रश मे प्राकृतानुरूप एक को एँक्क हो जाता है जैसे—एँक्क, एँक्क चक्क, एँक्कइ, एँक्केग, एँक्कन्त, एँक्कन्तर इत्यादि भ० क० के प्रयोग। इन सब मे ए को ह्रस्व स्वीकार कर आघात क पर मानना होगा।

(६) अपभ्रश धातुओ के वर्त्तमान काल मे प्रथम अक्षर अर्थात् धातुमूल पर ही आघात पड़ता है :—

कर <करइ <*करति <करोति, सुण <सुनइ <शृणोति, हीस <हिंसइ < *हिंसति, दे <देइ <ददाति, रूअहि, लहहि, कहउ, किज्जउं, धरहिं, इच्छहु, वहहुं, जाहुं

श्री चाटुर्ज्या ने उक्तिव्यक्ति प्रकरण की भूमिका मे आघात नियम का निरूपण करते हुए एकवचन मे तो मूल धातु पर आघात को स्वीकार किया है पर बहुवचन में उन्हे सदेह है कि वह धातु-स्वर पर पडता है या प्रत्यय-स्वर पर।[2]

एकवचन मे अइ का-अ मे परिवर्तन पूर्व धातु स्वर को आघातयुक्त ध्वनित करता है परन्तु एकवचन आछ रूप मे, जो आछइ <*अच्छति का रूपान्तर है, और दुइ अच्छति—द्वौ तिष्ठतः (उ० व्य० प्र० कारिका २४ की व्याख्या) में भी मिल जाता है तथा सन्देह उत्पन्न करता है। वस्तुत. यह स्थल अपवादात्मक ही है क्योकि अन्य

---

१. प्रा० भा० व्या० पिशल अनु० पृ० १६६।

२. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—भूमिका पृ० ६।

स्थल पर जहाँ हिं, हु, बहुवचन प्रत्यय हैं, जिनमे हेमचन्द्र ने ४।४४१ मे उच्चारण-लाघव प्रदर्शित किया है, सिद्ध करते हैं कि मूल धातु आघातयुक्त है ।

(७) धातुओ के भूत भविष्यत् काल के रूपो मे प्रत्ययो पर स्वराघात पड़ता है —

भूतकाल—किएसि (कृतवान्+आसीत्), पएसि (पचित +आसीत्), वाढा <वर्धित;, भआ <भूत, गए <गता:

भविष्यत् काल—करिह् <करिहइ <करिष्यति, करिहसइ <करिष्यति, पढिहउं <पठिष्यामि, आछीहसि<*अच्छिष्यसि, मागिहउ <*मर्गिष्यति < मार्गयिष्यति । होइह, करिह, चलिह आदि कोशली के आधुनिक रूप तुलना मे प्रस्तुत हो सकते हैं ।

(८) धातुओं के साथ प्रेरणार्थक या स्वार्थिक आ, आव (आअ) या अव प्रत्यय स्वराघातयुक्त होते हैं—

बचाव<*बचापयति, पढाव<*पठापयति, बढाव<*वर्धापयति, जिआव< *जीवापयति, बैसार<*उपवेशालयति

(९) वर्तमान कृदन्त—अत (या अन्त), जो सस्कृत के शतृ प्रत्यय के विकार हैं, स्वराघातयुक्त होते हैं :—

करत<*करन्त=कुर्वन्त, पयन्त<पचन्त, पढत, धावन्त, पैसत<प्रविशन्त, निकलत<निष्क्रमन्त ।

द्वितीय अध्याय

व्यंजन

वर्णसमाम्नाय का दूसरा विषय व्यजन है। ऋक् प्रातिशाख्य मे २५ स्पर्श, ४ अन्तस्थ और ८ ऊष्मा सब मिलाकर ३७ वर्णों को व्यजन गिना गया है।[1] अन्तिम वर्ण अनुस्वार के विषय मे स्वर और व्यजन के विवाद को हम प्रथम अध्याय मे विचार चुके है।[2] यजु प्रातिशाख्य की भी वही वर्णानुक्रमी है।[3] महेश्वर सूत्र मे ४ अन्तस्थ, २५ स्पर्श और ४ ऊष्मा अर्थात् ३३ वर्णों का ही परिगणन है।[4] विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार को समाविष्ट नही किया गया है। सस्कृत भाषा मे यही ३३ वर्ण रहे। भरत ने भी यही स्वीकार किया। उन्होने प्राकृत मे—श, ष, ङ, ञ और न का अभाव पाया और इस प्रकार ३३—५=२८ व्यजनो की स्थिति प्रदर्शित की। विसर्ग और उसी के विभिन्न उच्चारण जिह्वामूलीय और उपध्मानीय प्राकृत मे अवशिष्ट नही रहे थे और अनुस्वार स्वर का अश बन चुका था। हेमचन्द्र ने नकार का प्राकृत मे निषेध नही किया। सभवत उनके ध्यान मे पैशाची भाषा रही होगी। सामान्यतया प्राकृत मे न को ण हो जाता है अत. भरत का कथन सत्य ही है। अपभ्रश मे भी इस २८ की गणना मे कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। व्यजन निम्नलिखित है —

क, ख, ग, घ; च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड ढ, ण; त, थ, द, ध; प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स, ह।

प्राकृत मे शब्द के आदि मे य को ज हो जाता है। मागधी इसका अपवाद है। उसमे तो ज के स्थान मे भी य हो जाता है। अपभ्रंश ने प्राकृत की सामान्य

---

१. ऋ० प्रा० १।१०। अकाराद्यनुनासिकान्त' वर्णराशिः। सर्वशेषो व्यञ्जनान्येव तेषाम् १।१२। अष्टौ ऊष्माण —ह (घोष) श, ष, स, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार सातों अघोष।

२. अनुस्वारो व्यंजन वा स्वरो वा। १।११।

३. व्यंजन कादि, १।४७ अ इत्यनुस्वार एतदन्तम्।

४. हयवरट्, लण्, ञमङ० णनम्, झभञ्, घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल् इस पाठ में सर्वप्रथम अन्तस्थ का स्थापन उसकी स्वर और व्यजनों की मध्यवर्तिता और अर्धस्वरात्मकता का निर्देश करता है। तदनन्तर वर्गान्त्य अनुनासिक वर्ण हैं, उसके बाद १० घोष वर्ण जो वर्गों के चौथे और तीसरे वर्ण हैं, तदनन्तर १० अघोष वर्ण अर्थात वर्गों के द्वितीय और प्रथम वर्ण हैं, अन्त मे ऊष्मावर्ण हैं। सर्वप्रथम ह को अघोषात्मक समझा जा सकता है।

प्रवृत्ति को बनाये रखा। प्राच्यक्षेत्र के अपभ्रंश मे भी आदि यकार को जकार ही हुई—जैसे—जो, जोइ, जोइणि, जोउण आदि (दो० को० श०)। दोहा कोश मे कोई शब्द ऐसा नही है जिसका प्रारम्भ यकार से हो, यद्यपि मागधी के प्रभाव के अनुसार ऐसा होना चाहिये था। मध्यवर्ती यकार यथापूर्व प्राकृत और अपभ्रंश मे भी हैं। अपभ्रंश की यश्रुति ने तो यकार को और अधिक प्रश्रय दे दिया है। अत अपभ्रंश की वर्णमाला मे य को स्थान मिलना ही चाहिये। श्री तगारे ने य का बहिष्कार किया है जो उचित नही।

अपभ्रंश के ग्रन्थ पउमचरिउ, कीर्त्तिलता आदि मे अनुस्वार को परसवर्ण बनाकर ङ्, ञ् और न् का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। श्री भायाणी ने पाण्डु-लिपि के अनुस्वार को निष्कारण पचमवर्ण मे परिणत कर मुद्रित कराया है, अन्यथा उसमे ङ्, ञ् और न् का अस्तित्व सदेहास्पद है। कीर्त्तिलता आदि मे परसवर्ण का स्थान सस्कृत तत्सम के अनुकरण पर है।

स्पर्श

प्राचीन वैयाकरणो ने "कादयो मावसाना स्पर्शा" के नियम मे पाँचो वर्गों के पाँचो वर्णों को बाँधकर २५ व्यजनो को स्पर्श परिगणित किया। स्पर्श वर्णो मे श्वास वायु को मुखविवर मे आगमन, अवरोध और स्फोटन इन तीन स्थितियो में क्रमश गुजरना पड़ता है। मुखविवर के कोई दो अङ्ग आती हुई वायु का अवरोध करने के लिये परस्पर स्पर्श करते है और तब उसे सहसा बाहर निकलने देते हैं। आधुनिक भाषावैज्ञानिक वर्गान्त्य वर्णों को नासिक्य, चवर्ग को स्पर्शसघर्षी बताकर उन्हे स्पर्श वर्णो मे स्थान नही देते। नासिक्य वर्णों मे श्वासवायु नासिका से भी बाहर अनवरुद्ध निकलती है यह ठीक है तथापि अलिजिह्वा के शिथिल होने से मुखविवर मे भी प्रवेश करती है और वर्ग के अन्त्यवर्णों की तरह उनमे भी अवरोध होता ही है। अतएव प्राचीन वैयाकरणो ने इन्हे स्पर्श के साथ अनुनासिक भी माना है। स्पर्शसघर्ष मे स्पर्शत्व तो उपस्थित है, परन्तु पूर्ण अवरोध न होने के कारण दोनो अगो के बीच मे से वायु को घर्षण करना पडता है। प्राचीन वैयाकरणो की परिभाषा स्वीकार करते हुए भी वर्णोच्चारण की स्पष्टता के लिये स्पर्शसघर्षी (Affricate) शब्द का प्रयोग उचित है। स्पर्शों मे से वर्ग के प्रथम दो वर्ण अघोष हैं और अन्तिम तीन घोष हैं। अघोष श्वास वर्ण हैं और घोष नाद वर्ण हैं। पहले, तीसरे और पाँचवें वर्ण अल्पप्राण तथा दूसरे चौथे महाप्राण हैं।[1] प्रयत्न तथा उच्चारण स्थान के इस आधार को ग्रहण कर अपभ्रंश वर्णो में से प्रत्येक का परिचय निम्नलिखित हैं —

क :

कोमलतालव्य या कण्ठ्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श ध्वनि है। ऋक् प्रातिशाख्य ने प्रथम वर्ग का उच्चारणस्थान जिह्वामूलीय निरूपित किया था। प्रतीत होता है कि वैदिक भाषा मे कवर्ग का उच्चारण कण्ठ से न

---

१. सिद्धान्त कौमुदी—सज्ञाप्रकरण—१।१।६।

४. प्रा० भा० आ० क्र—वक <वक्र, अवक <अवक्र, चक्क <चक्र, चक्केसर <चक्रेश्वर, वक्कइ <वक्रयति ।

५. प्रा० भा० आ० क्ष—चाणक्क <चाणक्ष, ढक्क <ध्वांक्ष ।

६. प्रा० भा० आ० त्क—उक्कठ <उत्कठ, उक्कर <उत्कर—प० च०, उक्कस्स <उत्कर्ष, उक्कोवण <उत्कोपन, चडक्क <चटात्कार, चमक्क <चमत्कृति हिं चमक ।

७. प्रा० भा० आ० र्क—कक्कस <कर्कश ।

८. प्रा० भा० आ० ष्क—दुकम्म <दुष्कर्मन्, दुक्कह <दुष्कथनीय, दुक्काल <दुष्काल, दुक्किय <दुष्कृत, दोक्कर <दुष्कर, निक्कारण <निष्कारण ।

९. प्रा० भा० आ० स्क०—नवकरइ <नमस्करोति, चउक्कन्ध <चतु स्कन्ध ।

१०. देशी क्क—अक्किय=वचनीय (दे०ना० ३।५५), झुलुक्क, झुलुक्किय=झुलमा, ढक्कइ=ढाँकना, थक्कइ=तिष्ठति ब० थाके, दमक्किय √दमकना, धुक्कु=मदस्थित ।

ख :

कोमलतालव्य या कण्ठ्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श वर्ण । आरम्भवर्ती अप० ख म० भा० आ० ख का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० ख—खेल=खेलति, खजुहाव=खर्जति—उ० व्य०, खइय <खादित, खग्ग <खड्ग, खज्ज <खाद्य,—भ० क०, खा <खादति, खाण <खनि ।

प्रा० भा० आ० क्ष—खीर <क्षीर—भ० क०, खार <क्षार (स०रा०), खेत <क्षेत्र, (की० ल०), (उ० व्य०) खण <क्षण, खय <क्षय, खुद्द <क्षुद्र, खेम <क्षेम, खोह <क्षोभ ।

प्रा० भा० आ० स्क—खम <स्कंभ, खंध <स्कन्ध, खंधाइ <स्कधावार,—भ० क० ।

प्रा० भा० आ० स्ख—खलइ <स्खलति ।

देशी शब्द ख—खचइ=कर्षति, हिं खीचना, खलभलिय=क्षुब्ध हिं खलबल, खवय=स्कन्ध, खेर=खेद—भ० क०, खिसिय=हिं खिसक—सं० रा० ।

विदेशी शब्द ख—खोजा, खोदा=खुदा, खोदालम्म=खुदाए आलम—(की ल०) ।

मध्यवर्ती अप० ख म० भा० आ० ख या क्ख का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० क्ष०—अंतरिक्ख <अंतरिक्ष, अक्खर <अक्षर, अक्खय <अक्षताः, अलक्खण <अलक्षण, अलक्खिय <अलक्षित, इक्खण <ईक्षण, कडक्खइ <कटाक्षयति—भ० क० ।

प्रा० भा० श्रा० क्ष्य०—अभक्ख <अभक्ष्य, अलक्ख <अलक्ष्य—म० क० ।

प्रा० भा० आ० ख्य—असख <असख्य, अक्खइ <आख्याति, अक्खाण <आख्यान, अक्खाणय <आख्यानक—म० क० ।

प्रा० भा० आ० त्क्ष—तखण <तत्क्षण, जखण <यत्क्षण ।

प्रा० भा० आ० ष्क—निक्खत <निष्क्रान्त,—म० क० ।

प्रा० भा० आ० स्ख—पडिक्खलइ <प्रतिस्खलति ।

देशी शब्द ख—√देख, देखउ, देखव, √चीख=स्वाद लेता है ।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि क्ष, ष्क, स्क आदि संयुक्ताक्षरो में पारस्परिक समीकरण पद्धति से ख उच्चारण हो जाता है और मात्रा के परिमाण की रक्षा के लिये उसे द्वित्व कर दिया जाता है ।[1] पहले द्वित्वात्मक ख्ख प्रयोग ही चलता रहा, जैसे बेसनगर के गरुडस्तम्भ मे तख्खसिलाकेन <तक्षशिलाकेन लिखा गया है । पीछे इन द्वित्वभूत महाप्राण वर्णों मे पूर्व वर्ण अल्पप्राण हो जाता है ।[2] इस प्राकृत नियम का उपयोग अपभ्रंश मे होने लगा—क्ख <ख्ख <क्ष आदि । कीर्तिलता की स्तम्भतीर्थ प्रति[3] मे अख्खर, लख्खण, लख्खिजइ, पख्ख, भिख्खारि इत्यादि रूप हैं न कि अक्खर, लक्खण आदि जैसे नेपाली प्रति मे है ।

ग :

कोमलतालव्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण ।

आरम्भवर्ती अप० ग म० भा० आ० ग का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० ग —जैसे गय <गज, गइ <गति, गद्दह <गर्दभ, गणइ <गणयति—म० क०, गिह <गृह, गीय <गीत, गोच्छय <गुच्छक, गोप्पय <गोष्पद, गुज्जर <गुर्जर ।

प्रा० भा० आ० ग्र—जैसे गथ <ग्रन्थ, गाम <ग्राम, गहण <ग्रहण, गंठि <ग्रन्थि, गसेइ <ग्रसते, गास <ग्रास, गाह <ग्राह—म० क० ।

देशी ग—गलत्थइ=क्षिपति (हेम० ४।१४३), गलत्थलइ=निःसारय, गहगहइ=सकुल भवति, गुडिय=अलकृत, गु दल=आक्रन्द, गुमगुमन्त=गूँ गूँ करना, गुलगुल=शब्दानुकरण, गुलियउ=गुडमिश्र—म० क० गन्दा, गोमर—की० ल० ।

विदेशी ग—गालिम=गुलाम, गद्दवर=गिर्दावर, गोरि=कब्र,—की ल० ।

मध्यवर्ती अप० ग म० भा० आ० ग या ग्ग का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

---

१. ष्कस्कक्षां ख प्रा० प्र० ३।२९, शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ प्रा० प्र० ३।५० ।

२. वर्गेषु युज पूर्वः प्रा० प्र० ३।५१ ।

३. कीर्त्तिलता की स्तम्भतीर्थ वाली प्रति—वीरेन्द्र श्रीवास्तव । परिषद् पत्रिका, अप्रैल १९६२ ।

प्रा० भा० आ० क—विच्छोहगरु<विक्षोभकरः (हेम० ८।४।३९६) आगर<आकर, उपगार<उपकार, कागणि<काकिणी—प० च०, पगाम<प्रकाम—भ० क०, मरगय<मरकत—प० च०, मयगल<मदकल, वैयागरण<वैयाकरण, अणेग<अनेक, एग<एक, वग<वक—सं० रा०।

प्रा० भा० आ० ग—जगहर<जगत्+गृह, जगकण्टय<जगत्+कण्टक, जगन्तकर<जगत्+अन्तकर।

प्रा० भा० आ० ग्र—सगह<संग्रह, संगाम<संग्राम, अग्ग<अग्र, अग्गिम<अग्रिम, समग्ग<समग्र, सामग्गि<सामग्री, —भ० क०।

प्रा० भा० आ० ग्न—अग्गि<अग्नि, उवलग्ग<उपलग्न, आलग्ग<आलग्न, अग्गेय<आग्नेयी=भ० क०।

प्रा० भा० आ० ग्य—सोहग्ग<सौभाग्य, जोग्ग<योग्य,—भ० क०।

प्रा० भा० आ० द्ग—उग्गउ<उद्गतः, उग्गिलन्त<उद्गिरन्—सं० रा०।

प्रा० भा० आ० द्ग्र—उग्गाहिय<उद्ग्राहित—प० च०।

प्रा० भा० आ० र्ग—वग्ग<वर्ग—भ० क०।

प्रा० भा० आ० ल्ग—फग्गुन<फाल्गुन—भ० क०।

घ :

कोमलतालव्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण।

आरम्भवर्ती अप० घ म० भा० आ० घ का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ०—ख—सुघि<सुखेन् (हेम० ४।३९६)

प्रा० भा० आ०—ग—घर<गृह, घरवइ<गृहपति।

प्रा० भा० आ०—घ—घय<घृत, घड<घट, घण<घन, घोस<घोष,—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—घ्र—घाण<घ्राण—भ० क०,

देशी—घ—घल्लइ=क्षिपति, घवघवन्त=घमघमाहट, घित्त=क्षिप्त—भ० क० घोल=घोड़ा (की० ल०) घुम्मइ।

मध्यवर्ती अप० घ म० भा० आ० घ या ग्घ (घ्घ्) का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ०—घ—पघोस<प्रघोष, पघोसिय<प्रघोषित,—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—घ्र—अग्घाइय<आघ्रात, वग्घ<व्याघ्र—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—र्घ—अग्घ<अर्घ, निग्घिण<निर्घृण—भ० क०।

प्रा० भा० आ० अनुस्वार पूर्वक ह—सिंघ<सिंह—प० च०।

अपभ्रंश मे कोमलतालव्य सानुनासिक वर्ण ङ का अभाव है। संस्कृत तत्सम की अनुकृति पर पउमचरिउ या कीर्त्तिलता मे परसवर्ण के प्रयोग उपलब्ध हैं।

यथा—माहुलिङ्गोविडङ्गेहिं लवङ्गेहिं, कुडङ्गेहिं, पियङ्गेहिं आदि (प० च० ३।१, ३—४); पाण्डुलिपि मे वर्गानुनासिक के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार

है।[1] ये पाठ श्री भायाणी ने आल्सडोर्फ और जैकोबी की पद्धति पर परिवर्तित किये हैं।

सङ्गाम (की० ल० ३।१४०-१४१) चङ्गिम (की० ल० ४।२३०) कीर्त्तिलता के उदाहरण है, परन्तु अधिकांशतः अनुस्वार का प्रयोग है जैसे—सिंध, तनुरंग, तुरंग, टंकार, संग, भंग, कुंकुम इत्यादि। उपर्युक्त दो प्रयोग भी कीर्त्तिलता की नेपाली प्रतिलिपि मे हैं। रामतीर्थ प्रति मे सगाम और चगिम ही पाठ है। उत्तर प्रति मे संस्कृत परसवर्ण को भी अपभ्रंश पद्धति पर अनुस्वार लिखा गया है। यथा—संग्राम, भंग, तुरग, अहंकार, लघयित्वा, याति, सिंधु, संचरते, अनन, चदन, सपर्क, मंडल, टाकार इत्यादि। परिणाम यही निकलता है कि अभ्रंश मे परसवर्ण न होकर अनुस्वार अपने स्वरूप मे ही रह जाता है।

च :

तालव्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श-संघर्षी ध्वनि।

आरम्भवर्त्ती अप० च म० भा० आ० च का अनुगमन है जिसमें प्रति निहित है

आ० भा० आ० च—जैसे चउक्क < चतुष्क, चउथ < चउत्थ < चतुर्थ, चउवीस < चतुर्विंश, चद < चन्द्र, चाव < चाप, चिहुर < चिकुर।

आ० भा० आ० क—जैसे—चिलाय < किरात (हेम० १।१८३)—भ० क०।

आ० भा० आ० च्य—, चयइ < च्यवते, चवण < च्यवन, चुअ < च्युत।

देशी च—चक्कलिय=चक्करयुक्त, चग=चारु प० चगा०, चडइ=चढ़ता है, चड्डण=मर्दन (हेम० ४।१२६)। चप्पइ=कापता है, चरड=चोर, चवइ =कहता है, चक्कइ=चूकता है—भ० क०।

विदेशी च—चरख=चक्करदार—की० ल०।

मध्यवर्त्ती अप० च म० भा० आ० च का अनुगमन है जिसमे प्रतिनिहित है

आ० भा० आ० च—जैसे—कंचण < काञ्चन, कंचि < काञ्ची, कंचुअ < कंचुक, कंचुली, अचइ < अर्चयति—भ० क०।

म० भा० आ० च्च—जिसमे प्रतिनिहित है

आ० भा० आ०—च्च—उच्चलिय < उच्चलित, उच्चाइय < उच्चै कृत।

देशी—च्च, वच्चइ=व्रजति।

आ० भा० आ०—ज्य—, रच्चंत < रज्यमान—भ० क०।

आ० भा० आ०—त्य—, असच्च < असत्य, अच्चुब्भड < अत्युद्भट, निच्च < नित्य, पच्चक्ख < प्रत्यक्ष, पच्चूस < प्रत्यूष—भ० क०।

आ० भा० आ०—र्च—, अच्चण < अर्चन—भ० क०।

आ० भा० आ०—र्त्म—, विच्च < वर्त्म—भ० क०।

आ० भा० आ०—र्त्य—, मच्च < मर्त्य, मच्चु < मृत्यु—भ० क०।

आ० भा० आ०—श्च—, निच्चल < निश्चल, अच्चरिय < आश्चर्य,—भ० क०।

---

१. पउमचरिउ भूमिका पृ० ५६

छ।

तालव्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श-संघर्षी ध्वनि।

आरम्भवर्त्ती अप० छ म० भा० आ० छ का अनुगमन है जिसमे प्रतिनिहित है

१. प्रा० भा० आ०—क्ष—, जैसे छण < क्षण, छित्त < क्षेत्र छार < क्षार।

२. प्रा० ।० आ०—छ—, जैसे छाहृ < छाया, छड < छटा,—(प० च०) छत < छत्र, छलइ < छलयति, छाइय < छादित, छिद्द < छिद्र,

३. प्रा० भा० आ०—ष—, जैसे छ < षष्, छट < षष्ठ—भ० क० छप्पय < षट्पद —प० च०।

४. प्रा० भा० आ०—स—जैसे छुहा < सुधा, छुहचुण्ण < सुधाचूर्ण,—प० च०।

देशी छ—, जैसे छज्जइ = राजते (हेम० ४।१००) छडय = सिंचन, छड्डइ = छोड़ता है, छित = स्पृष्ट (देशी० ना० ३।२७) हिं० छूत, छिवइ = छूता है, छुटइ = छूटता है, छुडु—यदि, छुहइ = क्षिपति—भ० क० छिल्लर = पल्वल हिं० छीलर, छेंछइ = पुंश्चली (दे० ३।३६) छाड = छोड़ता है, छेलि = छेरी (बकरी)—उ० व्य०।

मध्यवर्त्ती अप० छ म० भ० आ० छ का अनुगमन है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ०—छ—जैसे पुंछिय < प्रोछित—स० रा०

म० भा० आ०—च्छ—(छ्छ्) जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ०—च्छ—√पुच्छ < पृच्छ—स० रा०।

प्रा० भा० आ०—श्च—अच्छरिय < आश्चर्य, पच्छइ < पश्चात्, पच्छिम < पश्चिम।

प्रा० भा० आ०—छ—पुच्छिय < प्रोञ्छित—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—स्त—अच्छइ < अस्ति, (हेम० ८।४।२१५)—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—प्स—अच्छर < अप्सरा, इच्छिय < ईप्सित—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—त्स—उच्छग < उत्सग, उच्छन्न < उत्सन्न, उच्छाहृ < उत्साह, मच्छर < मत्सर,—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—त्स्य—मच्छ < मत्स्य,—भ० क०।

प्रा० भा० आ०—क्ष—, अच्छि < अक्षि, उच्छु < इक्षु,—भ० क०।

ज:

तालव्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शसंघर्षी ध्वनि।

प्राकृत काल मे ही शब्द के आदि य का ज उच्चारण होता रहा है। दोनो ही वर्णों मे स्थान और प्रयत्न का सादृश्य है अतः मुखसौकर्य से य का ज मे परिणत होना स्वाभाविक है। अतः अपभ्रंश मे मूल ज और य से परिणत ज दोनो के प्रचुर उदाहरण हैं।

आरम्भवर्ती अप० ज म० भा० आ० ज का अनुगमन है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० ज—, जैसे जगहर < जगत्गृह, जज्जरिय < जर्जरित, जडिय < जटित,

जाय <जात, जामाय <जामातृ, जियइ <जीवति, जिणाल <जिनालय, जीय <जीव, जीह ∠ जिह्वा, जुण्ण <जूर्ण,—जीर्ण,—भ० क०

प्रा० भा० श्रा० य —, जइ <यदि, जन्त <यन्त्र, जामि <यामि, जा <यावद्, जिह <यथा, जुग्रल <युगल, जुज्झइ <युध्यते, जुवाण <युवन्, जेत्तिय <यावत्, जेम <यथा, जोगेसर <योगेश्वर, जोत <योक्त्र—भ० क०

प्रा० भा० श्रा० द्य—, जूग्र <द्यत, जूग्रार <द्यूतकार—भ० क० ।

प्रा० भा० श्रा० ज्य—, जेट्ठ <ज्येष्ठ,—भ० क०, जोइगण <ज्योतिस्+इंगण, जोइस् <ज्योतिष्—प० च० ।

प्रा० भा० श्रा० ज्व,—जर <ज्वर, जलिय <ज्वलित—प० च०, जाल <ज्वाला, जालिय <ज्वालित,—भ० क० ।

देशी शब्द ज —, जगडन्त = झगडन्त, जपाण = वाहन विशेष, जोग्रण = चक्षु, जोयइ = पश्यति,—भ० क० जनेऊ = यज्ञोपवीत, जरहरि = नौकाक्रीडा—की० ल० । मध्यवर्ती अप० ज या ज्ज म० भा० श्रा० ज या ज्ज का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० श्रा० ज्ज—, जैसे लज्जिवि <लज्जित्वा, रज्जुय <रज्जुक, —प० च० ।

प्रा० भा० श्रा०—ज्य—, पुज्जिय <पूज्यते—स० रा० पव्वज्ज <पावज्ज <प्रव्रज्य, —प० च०

प्रा० भा० श्रा० ज्र— वज्ज <वज्र—स० रा०

प्रा० भा० श्रा०—ज्व—, उज्जल <उज्ज्वल—स० रा० ।

प्रा० भा० श्रा०—ज्ञ—, मणोज्ज <मनोज्ञ—प० च० ।

प्रा० भा० श्रा०—ञ्ज—, भिज्जन्त <अभ्यञ्जन्,—प० च० ।

प्रा० भा० श्रा०—ड्ज—, सज्ज <षड्ज—प० च० ।

प्रा० भा० श्रा०—द्ध—, विरुज्झ <विरुद्ध—प० च० ।

प्रा० भा० श्रा०—द्य—, उज्जोग्र <उद्योत—स० रा०, उवज्जइ <उत्पद्यते, अज्जु <अद्य,—भ० क०, प० च० ।

प्रा० भा० श्रा०—ब्ज —, खुज्ज <कुब्ज—प० च०, उजुव <उब्जति, उजुयाइ <उब्जयति—उ० व्य० ।

प्रा० भा० श्रा०—य—, करिज्जइ <क्रियते,

प्रा० भा० श्रा०—र्ज—, णिज्जिग्र <निर्जित, णिज्जलहरय <निर्जलगृहक,—प० च० वज्जइ <वर्जयति—स० रा०, अज्जिय <अर्जित,—भ० क० ।

प्रा०भा०श्रा०—र्य—, कज्ज <कार्य, अज्जिय <आर्यिका, मज्जय <मर्यादा,—प०च० ।

झ :

तालव्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्शसंघर्षी ध्वनि

आरम्भवर्ती अप० झ म० भा० श्रा० झ का अनुगमन है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० श्रा० झ—, जैसे झडत्ति, झत्ति <झटिति, झल्लरि,—भ० क०

प्रा० भा० आ ध्य—, झाण<ध्यान, झयइ<ध्यायति—भ० क०

प्रा० भा० आ० ध्व—, झुणि<ध्वनि, झसित्ति<ध्वसित्वा, —भ० क०

प्रा० भा० आ० क्ष—, झीण<क्षीण, —भ० क०

देशी झ—झुठ=उच्छिष्ट, —उ० व्य० झक्किय=वचनीय, (दे ना० ३।५५), झखइ=विलपति (हेम० ४।१४८) झखना, झड्प्पइ=झडपता है, झप=प्रवपात, झपिति = झपकर, झलझलन्त = झलमलाता, झुलुक्क=वायुलहरी, झुलुक्किय=झुलसा, झूरइ=स्मरति, भ० क०,

मध्यवर्ती अप० झ म० भा० आ० झ और ज्झ (झ्झ) का अनुगमन है है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ०—द्ध—, जुज्झ<युद्ध—(भ० क०), आइज्झ<आविद्ध—प० च०

प्रा० भा० आ०—ध्य—, जुज्झइ<युध्यते,वुज्झइ<वुध्यते, मज्झ<मध्य—स० रा०

मज्झिय<मध्यम—प० च०

प्रा० भा० आ० झ—णिज्झर<निर्झर, —भ० क०

प्रा० भा० आ०—ह्य—, डज्झ<दह्य—भ० क०, गुज्झ<गुह्य, गेज्झ<गृह्य—

/ प० च० ।

अपभ्रंश मे ञ का अभाव है । शब्द के आदि मे तो सस्कृत मे ही ञ का प्रयोग न था । सस्कृत तत्समानुकरण मे अनुस्वार का परसवर्ण वर्गानुनासिक अवश्य कुछ ग्रन्थो मे उपलब्ध है । जैसे—कञ्चण, कोञ्ज (प० च० ३।१) काञ्चन (की० ल० २।२४२) इत्यादि परन्तु इनमे भी अनुस्वार चाहिये जैसा कि 'ङ' के निर्धारण में दिखाया जा चुका है । श्री भायाणी ने "सभरियइ" (प० च० ५।१२।७) जैसे सम् उपसर्ग के प्रयोगो मे पाण्डुलिपि का अनुस्वार स्वीकार किया है । अन्यत्र भी यही पद्धति स्वीकार्य होनी चाहिये थी ।

कीर्त्तिलता की नैपाली प्रतिलिपि मे ञकार का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में है । शब्द के आरम्भ मे भी तीन स्थलो पर यह है—ञेञोन=जौन, (२।२२६) ञेहाँ (३।२१)=यहाँ, ञुण (२।४३)=पुन. । मध्यवर्त्ती उदाहरण, जो परसवर्ण के नही हैं :—

मेञोऐ (२।२३६), तुरुकाणञो (२।१५७), दलञो (२।४५) मेञिनि (५।८), सामिञ(२।३), सुनञो(२।३), उद्धरञो—(२।४३), मलञो(१।३)

नेपाली प्रतिलिपि का आधार मैथिल क्षेत्र रहा है । विद्यापति की मैथिली पदावली मे भी ञ के सञो, जञो, जञुन आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं । स्तम्भतीर्थ प्रति के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कीर्त्तिलता मे ञ का अभाव है । वस्तुतः मिथिला मे सानुनासिक स्वर को ञ उच्चारण करने और लिखने की प्रवृत्ति का परिणाम उपर्युक्त नेपाली प्रति का ञबाहुल्य है । पश्चिम मे अपभ्रश पद्धति में लिखित प्रति मे इसकी समावना नही है । प्रथम पल्लव के पाठो की तुलना नीचे दी जाती है :—

नेपाली प्रति	स्तभतीर्थ प्रति	टिप्पणी
काञि	काइं	हेम० ८।४।३६७, ञि=इं
खम्भारम्भञो	खम्भारम्भ जउ	ञो=ओ (खम्भारम्भो)
मोञे	मैं	मोयँ (पदावली मजू० १३।१५१) मञे (पदावली सुभद्र० ५) ञे=ए=यँ
अमिञ	अमिअँ	अमिञ (पदावली सुभद्र० ५) ञ=अँ
इसी प्रकार—		
परबोधञो	परबोधउ	हेम ८।४।३८५, उत्तमपुरुष एकवचन मे उ प्रत्यय
भणावञो	मनावउ	
लावञो	लावउ	
जम्पञो	जपउ	
पससञो	पससउ	ञो=ओ=उ ह्रस्वीकृत रूप
सञो	सउं	हेम० ८।४।४१६, सहु=सह अथवा सउं <सवुं < समु <समम्+उ
कहञो	कहओ	ञो=ओ
निञ	निअ	ञ=अ (पूर्ववर्ती अनुनासिक का प्रभाव)
राञे	राएं	ञे=ए
तुलनाञे	तुलनाएं	ञे=एं
पिञ	पिअ	ञ=अ अनुनासिक उच्चारण आकस्मिक
सामिञ	सामिअ	
हुञो	हमु	हेम० हउ ८।४।३७६

कीर्त्तिपताका मे वटञु=वटउं, लज्जाञे=लज्जाएं इत्यादि प्रयोग इसी तरह के हैं। परसवर्णात्मक प्रयोग सञ्चिय्र, वञ्चिय्र, विकुञ्ज, कुञ्जर आदि संस्कृत तत्समानुकरण हैं। उच्चारण ञ की अपेक्षा "न" है। ञ का प्रयोग वर्णरत्नाकर में भी हुआ है। उसमे पृष्ठ २ पर निम्न प्रयोग हैं—

डेञुडी चाञ्चलि, गोसाञिञ, वोनञो, अगुलाडी, गोचरञो। दूसरा प्रयोग परसवर्णात्मक है पर अन्य प्रयोगो ने स्वर का ही अनुनासिकीकरण है।[1]

१. वर्ण रत्नाकर—श्री चाटुर्ज्या भूमिका पृ० ४० और ४१

The above examples would demonstrate that the habit was to nasalise contiguous vowels if there was a nasal sound in the word, as is the way in Bengali.
Intervocal n˜ means only the nasalistion of the contiguous vowels, accompanied by a glide y or w.

निष्कर्ष यही निकलता है कि स्वरो की अनुनासिकता से लेकर यँ तक का उच्चारण ञ से परिलक्षित किया गया है।[1] ये उच्चारण तालव्य नही है, मैथिल और नेपाली अनुलेखन पद्धति के परिणाम हैं।[२] अत. अपभ्रंश मे ञ" का उच्चारण नही रह गया था यह स्वीकार करना होगा।

- मूर्धन्य

मूर्धन्य ध्वनियाँ द्रविड भाषाओ की विशेष सम्पत्ति है और उनका प्राचीन काल से अद्यावधि प्रचुर प्रयोग है । प्रा० भा० आ० मे इन ध्वनियो का प्रयोग तुलनात्मक रूप मे स्वल्प है अत भाषावैज्ञानिको मे यह सहज धारणा बनने की प्रवृत्ति हुई कि भारतीय आर्यो ने पूर्ववर्त्ती द्रविडो के सम्पर्क से इन ध्वनियो को अपनी भाषा मे आत्मसात् किया। वेदो और ब्राह्मणो मे प्राप्त मूर्धन्यवर्णयुक्त शब्दो को या तो द्रविड भाषाओ का ऋण शब्द माना गया या द्रविड प्रभाव से दन्त्यवर्णों का मूर्धन्यीकृत रूप। ऋण शब्दो मे वेदप्रयुक्त=अणु, अरणि, कटुक, कूट, कुणारु, कुण्ड, गण, इत्यादि तथा ब्राह्मणप्रयुक्त—अटवी, आडम्बर, खड्ग, तण्डुल, फण, मटकी, मर्कट, इत्यादि शब्द है।[3] मूर्धन्यीकृत शब्दो मे विकट, कीकट, सकट, प्रवट, गाढ, क्षुल्ल इत्यादि का उदाहरण दिया जा सकता है। श्री चाटुर्ज्या ने लिखा है—"हम देखते हैं कि जैसे-जैसे आर्यभाषा का विकास आगे बढता है, वैसे-वैसे दन्त्यो की जगह मूर्धन्य ध्वनियाँ बढती जाती हैं। इस विषय मे हम अवश्य बाहरी, सम्भवतः द्रविड प्रभाव की कल्पना कर सकते हैं।[४] भारतीय आर्यभाषाओ मे मूर्धन्य ध्वनियाँ सर्वथा नही थी यह नही कहा जा सकता। द्रविड भाषाओ मे टकारादि कोई शब्द नही पर सस्कृत मे कुछ शब्द है। अत इसको मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती कि प्रा० भा० आ० मे अपनी निसर्ग मूर्धन्य ध्वनियाँ भी थी जैसे—टक, टकण, टिट्टिभ, टिप्पणी, टीका, घट, वट पट ; डमरु,'डिम, डीन इत्यादि और द्रविड प्रभाव या अन्य विकास शृखला के प्रभावो से गृहीत तथा मूर्धन्यीकृत ध्वनियाँ भी। म० भा० आ० विशेषत. प्राच्य भाषाओ मे मूर्धन्यीकृत ध्वनियो मे वृद्धि होती गई है जैसे—मट(मृत), मिट्टी (मृत्तिका), वड्ढ (वृद्ध)—इत्यादि।

---

1. The Formation of the Maithili Language—Dr. Subhadra Jha Page—144.

२. कीर्तिलता—स० डा० बाबूराम सक्सेना पृ० २० "लेखकों का उस समय लिखने की रीति में "ञ" का उच्चारण सभवत कुछ सानुनासिक होता था तभी कभी "ञ" और कभी "ञ" लिखते थे। अथवा यह नेपाली प्रतिलिपि का प्रभाव हो, मैथिल न हो"

3. The Origin and Development of the Bengali Language, S. K. Chatterjee Page. 42

४. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—श्री चाटुर्ज्या पृ० ८६।

अपभ्रंश मे भी यही स्थिति रही, देशी शब्दो ने इसमे और योगदान किया। मूर्धन्य स्पर्श वर्णों मे से प्रत्येक का परिचय निम्न है —

ट :

मूर्धन्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श ध्वनि है ।

म० भा० आ० द्वारा प्रा० भा० आ० की मूलध्वनि, यथा—टकार (भ० क०), टका < टकक (की० ल० ३।९९), टीपन < टिप्पणी, टक्क (देशवाची, भ० क०)

म० भा० आ० मे मूर्धन्यीकृत—टालइ < टालयति < त्वरयति, (प० च० १२।२।१२) टरि (की० ल० ४।२३२) < त्वरयित्वा, टालउं (उ० व्य० ६।२६), < *टालयति, हिंदी टरना और टालना धातु। टोप (उ० व्य० २९-२५) < स्तूपकम्-आकस्मिक मूर्धन्यीकरण।

देशी शब्द या ध्वन्यनुकरणात्मक—टाप (की० ल०), टट्टइआ (दे० ना०) तु० हिं० टट्टी, टुंटो (दे० ना०) तु० हिं० टुण्डा, टेंटा (दे० ना०) तु० हिं० टेंट, टिप्पी (दे० ना०) तु० हिं० टीप, टिंट=द्यूत स्थान (भ० क०) < टेण्टा (दे० ना०)

मध्यवर्ती अप० ट म० भा० आ० ट का अनुगमन करता है जिसमें प्रति० निहित है

प्रा० भा० आ० ट—कटइय < कण्टकित, कटअ < कण्टक

प्रा० भा० आ०—त्त—पट्टण < पत्तन—भ० क० वट < वृत्त—प० च०

प्रा० भा० आ०—त्य—णट्ट < नृत्य—प० च०

प्रा० भा० आ—द्व—खट्ट < खट्वा—प० च०

प्रा० भा० आ०—र्त—कट्टइ < कर्तयति—भ० क०, णट्टविय < नर्तिका—सं० रा० आवट्टइ < आवर्तते, उव्वट्टिय < उद्वर्तित—भ० क०

प्रा० भा० आ०—ष्ट—अवहट्ट < अपभ्रष्ट, अविसट्ट < अविसृष्ट, आघुट्ट < आघुष्ट —भ० क०

प्रा० भा० आ०—ष्ट्र—उट्ट < उष्ट्र,—प० च०

ठ :

मूर्धन्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श ध्वनि ।

१. म० भा० आ० द्वारा प्रा० भा० आ० की मूलध्वनि .—
सस्कृत मे ही शब्द के आदि मे विरल प्रयोग है। ठक्कुर, ठार, ठालिनी (आप्टे सस्कृत कोश) भी देशी शब्द ही प्रतीत होते हैं। ठक्कुर को मूल सस्कृत स्वीकार किया जाय तो ठाकुर (की० ल० २।१०) < ठक्कुर उदाहरण दिया जा सकता है।

२. म० भा० आ. में मूर्धन्यीकृत :—

√ठा<स्था—ठाइ, ठाउ, ठिय, ठवहो, ठवियय (प० च०)
ठवन्ते (की० ल०) ठाहि, ठिय, ठव, ठवइ, ठविय,
(स० रा०, भ० क०), ठाण<स्थान (प० च०, भ० क०,)
ठाम (की० ल०) ठइओ (दे० ना०)<स्थापित ;,

मध्यवर्ती

प्रा० भा० आ०—थ—गठि<ग्रंथि—भ० क०

प्रा० भा० आ०—स्थ—उट्ठावइ<उत्थापयति—भ० क०

प्रा० भा० आ०—ष्ठ—णिट्ठुर<निष्ठुर, अहिट्ठ<अधिष्ठ, उट्ठ<प्रोष्ठ, कट्ठ<काष्ठ, गोट्ठ<गोष्ठ—भ० क०

प्रा० भा० आ०—ष्ट—पइठ<प्रविष्ट—प० च०, णट्ठ<नष्ट, उवइट्ठ<उपदिष्ट, तुट्ठि<तुष्टि, दिट्ठ<दृष्ट, किलिट्ठ<क्लिष्ट, सिट्ठ<शिष्ट, कट्ठ<कष्ट—भ० क०

प्रा० भा० आ०—स्त—तट्ठी<त्रस्ता—प० च०, असट्ठ<अप्रशस्तम्—भ० क०

प्रा० भा० आ०—स्थ—अट्ठि<अस्थि, पट्ठवइ<प्रस्थापयति—भ० क०

देशी शब्दों में प्रयुक्त—ठक (ठग), ठट्ठा या ठट (की ल०), ठरिअ (दे० ना०) तु० प० ठाड़ा, ठल्ल (दे० ना०) तु० हिं निठल्ला। देशी नाममाला में ९ शब्द।

ड :

मूर्धन्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण।

आरम्भवर्ती रूप में म० भा० आ० ड का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ०—ड—डमर, डामर, डिंडीर, डिंभ—प० च०, डोम—पा० दो०

प्रा० भा० आ० द—मूर्धन्यीकृत डक<दश, प० च०, भ० क०, डज्झ<दह्य—भ० क० डर<दर—की० ल०, डरिय<दरित, डाह<दाह,—उ० व्य०, डोर<दोर, डोला<दोला—प० च०, डिठि<दृष्टि—की० ल० डसन<दशन—स० रा०, डास<*दासति, दशति—उ० व्य०, डंभ<दम्भ, —भ० क०, डहइ<दहति—भ० क०।

देशी शब्द—डाल=शाखा—प० च० डोय, डोओ=दारुहस्त—प० च०, डोह=क्षोभ, डलो=लोष्ठ (दे० ना०) तु० हिं० डला, ढेला, डुंगर=शैल—पा० दो०, डोला=पालकी (दे० ना०) डोहिय=गभीर=भ० क०। देशीनाममाला में ३६ शब्द ड कार से आरम्भ होते हैं।

मध्यवर्ती रूप में म० भा० आ० ड का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ०—ट—णाडइ<नाटकिन्, फुड<स्फुट, स० रा०—कडुय<कटुक

—भ० क०, अडइ <अटवी, कडय <कटक, कडिसरय <कटिसूत्र, कुडुम्बि <कुटुम्बिन्, कोडाकोडि <कोटाकोटि, जडिय—जटित—प० च० कडक्ख <कटाक्ष, कडाह <कटाह, चडुल <चटुल—भ० क० ।

अनादि असंयुक्त ट्‌ प्राय. निरपवाद रूप मे ड मे परिणत हो जाता है ।

प्रा० भा० आ०—ड, जैसे—मडव <मंडप—भ० क०, मुंड <मुंडति—उ० व्य० कडुइय <कण्डूयित

प्रा० भा० आ० द—जैसे कडु <कंदु (क) मड <मद,—भ० क०

प्रा० भा० आ० त, जैसे—पाहुड <प्राभृत—पा० दो०

देशी—ड, झखड, झड, झडी—सं० रा० कडप्प, कडिल्ल=कटिवस्त्र—भ० क०, चडण=मर्दन, कडत्तय=क्षीणत्व, चडक्क=विद्युत्—प० च० मडक्क=मटका, मडक्कइ=हिं √ मटकना, मडप्फर=गर्व, मडाय=मोदक—भ० क०

स्वार्थ ड प्रत्यय, सुक्खअडा, देहडा, सुगुरुवडा <सुगुरु+क+डा, हत्थडा, पसुलोगडा—पा० दो

प्रा० भा० आ० स्थ, हड्ड <अस्थि—प० च०

ढ :

मूर्धन्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण ।

आरम्भवर्त्ती रूप मे म० भा० आ० ढ का अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० ढ—जैसे—ढुक्कइ (भ० क०. प० च०) <ढौकते, ढुक्कहो, ढुक्कमाण, ढुक्क, ढुक्कय,—(स० रा०, प० च० आदि) ढोय <ढौक, ढोयण <ढौकन (प० च०), ढाक <ढक्का, ढलवाइक (की० ल०)=ढालवाहक,

प्रा० भा० आ० घ—, जैसे—ढोठ <घृष्ट ।

देशी—ढ—. जैसे—ढंखर (स० रा०)=फलपत्ररहित वृक्ष तु० हिं० खंखर मया पलास, ढढोलन्त (पा० दो०) तु० हि० माछी बगा ढढोलता, ढिल्ल (प० च०, पा० दो०)=शिथिल तु० हिं० ढीला, ढुरढुल्लिय (पा० दो०) हिं √ ढुलढुलाना, ढक्क (भ० क०)=ध्वाक्ष, पाइअ० ल० ढंखाय कायला काया, ढक्कइ (भ० क०) हिं √ ढाकना, ढंढवाल (भ० क०) ढुढिराल ? ढोयइ हिं √ ढोना, ढक्करिवतय (प० च०) हेम० ८।४।४२२ अद्भुतस्य ढक्करिः, ढोर (प० च०) पशु, तु० हिं०, ढकणी (दे० ना०) हिं० ढक्कनी, ढँका, ढँकी इत्यादि २२ शब्द देशीनाममाला मे पठित । √ ढंढोल, √ ढक्क, √ ढुस्स आदि ८ धातुओ का धात्वादेश मे विधान कर देने से हेमचन्द्र ने देशीनाममाला मे सग्रह नही किया है ।

मध्यवर्ती रूप में

प्रा० भा० आ०—ढ—दिढ<दृढ (पा० दो०) पोढियय (प० च०)<प्रौढियतृ, मूढी<मूढा, अड्ढिय<आढ्य+इक, ण्हाणड्ढ<स्नानाढ्य ?—(पा० दो०)

प्रा० भा० आ० अनादिभूत असंयुक्त—ठ—, जैसे—मढ (भ० क०)<मठ, पढइ (भ०क०)<पठति. पढन्त (प० च०)<पठन्त, रणवीढ<रणपीठ

प्रा० भा० आ०—थ—पढम (भ० क०)<प्रथम, कढकढन्त<क्वथन्—भ० क०

प्रा० भा० आ०—ट—सअढ<शकट

प्रा० भा० आ०—ठ—जरढ<जरठ, कुढार<कुठार—प० च०, वीढ<पीठ,—भ० क० मढ>मठ, कमढ<कमठ—भ० क०

प्रा० भा० आ०—ग्ध—जैसे वियड्ढ (प० च०)<विदग्ध, दड्ढ (पा० दो०)<दग्ध ।

प्रा० भा० आ०—र—आढप्प<आढत्त<आरब्ध

प्रा० भा० आ०—र्ध—जैसे—पवड्ढिय (प० च०)<प्रवर्धित, वेड्ढ (प० च०)<विजयार्ध, अड्ढाइय<अर्धतृतीय, वड्ढइ<वर्धते, दिवड्ढ<द्व्यर्ध—भ० क०

प्रा० भा० आ०—ष्ट—परिवेढ (प० च०)<परिवेष्ट, वेढ<वेष्ट, सेढि (प० च०)<*श्लिष्टि, उव्वेढाविय<उद्वेष्टित—प० च०

प्रा० भा० आ—ष्ट्र—जैसे दाढ (प० च०)<दंष्ट्रा

देशी ढ—कड्ढ, हिं० काढना· गीढ=घृत, चवढण=आक्रान्त (हेम० ४।११०) चमढ, णिसुढिय=भग्न (हेम० ४।१५८) वढ=मूर्ख (पा० दो०, हेम०), विढप्प=वर्धते (पा० दो०)

ण :

मूर्धन्य, नाद, घोष, महाप्राण, सानुनासिक, स्पर्श वर्ण ।

संस्कृत मे ङ और ञ की तरह ण से भी किसी शब्द का प्रारम्भ नही होता । धातुपाठ मे पठित कुछ धातुओ का णकार से आरम्भ केवल यह प्रदर्शित करने के लिये है कि वस्तुतः नकारादि धातु का नकार प्र, परा आदि उपसर्गो के योग मे मूर्धन्यीभाव को प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत प्राकृत मे 'नो णः सर्वत्र' (प्रा० प्र० २।४२) इस नियम के अनुसार वररुचि ने सर्वत्र—चाहे आदि मे हो चाहे मध्य में हो—न को ण में विकृत होता बताया है। संस्कृत मे र, ष इन दो मूर्धन्य वर्णो के प्रभाव से अवश्य न ण में परिणत हो जाता था। यह मूर्धन्यीकरण वररुचि के काल मे पराकाष्ठा तक चला गया था। पैशाची प्राकृत मे ण का उच्चारण नहीं होता, संस्कृत का ण भी न में

परिवर्तित हो जाता है।[1] आर्ष प्राकृत (अर्धमागधी) में आरनालं, अनिलो—इत्यादि मे नकार का प्रयोग देखकर तथा अन्यत्र भी शब्दारम्भ मे न, मध्य मे न्न की यथावस्थिति देखकर हेमचन्द्र ने असयुक्त अनादि न की ण मे विकृति स्वीकार की, पर असयुक्त आदि मे विकल्प मान लिया।[2]

श्री भायाणी ने पउमचरिउ की पाण्डुलिपियों की विवेचना कर यही निष्कर्ष निकाला है कि अपभ्रश मे दन्त्य न का अभाव है, उसके स्थान पर ण ही होता है। अत उन्होने कुछ पाण्डुलिपियो मे प्रारम्भ मे न के रहते भी सपादित पाठ मे सर्वत्र ण ही कर दिया है।[3] भविसयत्तकहा मे अर्धमागधी प्रभाव को श्री गुणे ने स्वीकार किया है जिसके कारण नकार और णकार की दुविधा है।[4] पाहुड दोहा में नकारादि कोई शब्द नही हैं। सदेशरासक मे भी यही स्थिति है, केवल तीन सस्कृत तत्सम शब्द अपवाद हैं। हेमचन्द्र की देशीनाममाला मे भी नकारादि कोई शब्द नही है। इसका तात्पर्य है कि उत्तरपश्चिमी और दक्षिणपश्चिमी दोनो प्राकृतो मे न का सार्वत्रिक णत्व विधान हैं। प्राच्य प्रदेश मे सरह के दोहाकोश मे णकारादि शब्द ३४ है, जब कि नकारादि शब्द केवल दो हैं "न" और "न्हाइ", परन्तु कीर्तिलता और कीर्तिपताका मे नकारादि प्रयोग की मात्रा बहुत बढी हुई है। नेपाली प्रति के पाठ मे नकारादि शब्द ५२ हैं तो णकारादि केवल ७ हैं। स्तम्भतीर्थ प्रति मे अनेक स्थलों पर ण रहते भी नकारबहुलता है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे णकारादि कोई शब्द ही नही जब कि नकारादि शब्दो की सख्या २२ है। मध्यवर्त्ती णकार और नकार के विषय मे वही स्थिति है जो आरम्भवर्त्ती की है। अत. दो परिणाम स्पष्टत निकलते हैं—

१. प्राकृत के प्रारम्भ से अपभ्रश की उन्नति तक अर्थात् दूसरी शताब्दी ई० पूर्व से १०वी शताब्दी तक न को ण का उच्चारण करने की प्रवृत्ति पश्चिम से पूर्व तक और उत्तर से दक्षिण तक सर्वत्र प्रधान रही। प्राच्य क्षेत्र मे बहुत स्वल्प अपवाद रहा।

२. १०वी शताब्दी के अनन्तर भी पश्चिमोत्तर और पश्चिम-दक्षिण में णत्व की ही प्रमुखता रही। बाद को गुजराती, राजस्थानी और पजाबी मे यह प्रवृत्ति अब तक सुरक्षित हैं। मध्यदेश और प्राच्यक्षेत्र मे सस्कृत प्रभाव पुन. प्रबल हो उठा है और उसका परिणाम सस्कृत अनुकरण पर न और ण प्राय. विधान है। ध्यान रखना चाहिये कि उक्तिव्यक्ति प्रकरण के रचयिता दामोदर पडित उन कान्यकुब्जेश्वर गाहडवालवशीय गोविन्दचन्द्र के सभापडित थे जिनके दरबार मे नैषधीयचरित के रचयिता हर्ष "ताम्बूलद्वय" और "आसन" का सम्मान पाते थे और काव्यमीमासाकार

---

१. णो न हेम० ८।४।३०६

२. नो ण' हेम० ८।४।२२८, वादौ हेम० ८।४।२२९

३. पउमचरिउ, भूमिका पृ० ५५.

४. भविसयत्तकहा, भूमिका पृ० १४.

राजशेखर "ससस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिङ्गित पठेत्" का विधान करते थे। कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका के रचयिता विद्यापति सस्कृत के धुरन्धर विद्वान् और लेखक थे।

ण वर्ण आरम्भवर्त्ती रूप मे म० भा० आ० की ण ध्वनि का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० का न—, जैसे ण<न, णट्ठ<नष्ट, णत्थि<नास्ति, णिग्गुण<निर्गुण, णिचिंत<निश्चिन्त, णीस<न+ईश, णिसग<नि सग, णेक्क<न+एक, इत्यादि ६४ शब्द पा० दो० मे, णई<नदी, णख<नख, णाउ<नाम, णिव्वाण<निर्वाण, णेवज्ज<नैवेद्य इत्यादि ३४ शब्द दो० को० स० में। इसी प्रकार अनेक शब्द अपभ्रश काव्यो मे प्रयुक्त हैं।

देशी शब्द का ण, जैसे—णवर=केवल हेम० ८।१८७, णवरि=अनन्तर हेम० ८।२।१८८, णाइ=इव हेम० ८।४।४४४, णिअ, णिअत=√दृश हेम० ८।४।१८१, णिरारिउ=नितरां, णिअत्त=निश्चित (दे० ना० ४।३०)—दो० को० स०, णहवल्लिय=विद्युत्, णिरु<निश्चित—स० रा०। णडत=गोपयन् (दे० ना० ४।२०), णियइ=पश्यति, णवर आदि—भ० क०। देशीनाममाला मे १६६ शब्द है जिनमे कुछ का मूल म० भा० आ० द्वारा प्रा० भा० आ० मे ढूंढा जा सकता है। अर्थपरिवर्त्तन के कारण से उनका हेमचन्द्र ने समावेश किया है। उनको निकाल देने पर भी अनिरुक्त देशी शब्दो की सख्या प्रचुर है।

मध्यवर्त्ती रूप मे प्रा० भा० आ० का ण—, जैसे लिगगहण<लिंगग्रहण, पाण<प्राण, णिल्लक्खण<निर्लक्षण,

प्रा० भा० आ० का—न—, जैसे विहाण<विधान, लुचण<लुञ्चन, पाणिअ<पानीय; परमाणंद<परमानन्द, पयडण<प्रकटन, जोणि<योनि, जाण<ज्ञान, गयणागयण<गमनागमन, अप्पुणु<आत्मना, अणक्खर<अनक्षर, इत्यादि,

प्रा० भा० आ०—ज्ञ—, अण्णाणिय<अज्ञानिन्, अहिणाण<अभिज्ञान, आण<आज्ञा,—भ० क०

अपभ्रंश का ण, प्रत्ययो मे विशेषत. प्रयुक्त है जैसे—पूर्वकालिक एप्पिणु, एविणु; देप्पिणु, णिसिणेप्पिणु, झाएविणु; तुमर्थ अण, अणह, अणहि—करण, भुन्जणहुँ, भुञ्जणहिं; कर्त्र्थक अणअ—मारणउ, बोल्लणउ; भावार्थक पण—वड्डुपणु; इवार्थक जणि और जणु अव्यय।

देशी शब्दो का ण—जैसे अच्छुअलवण्णो=सप्तच्छद, आसेअणय=अवितृप्त-दर्शन हूण=हस्ती, पउण=व्रण प्ररोह, विक्खग=कार्य।

अपभ्रश मे परसवर्ण का अभाव है यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। अतः मध्यवर्त्ती वर्गानुनासिक ण सस्कृत का प्रभाव समझना चाहिये।

दन्त्य

जिह्वाग्र या जिह्वानीक द्वारा ऊपर के दाँतो के स्पर्श से मुखविवर में आती हुई श्वास वायु का अवरोध होकर स्फोटन होता है। दंत के अग्र, मध्य और मूल का विभिन्न वर्णो मे उपयोग होता है। ऋक् प्रातिशाख्य ने तकार वर्ण का उच्चारण स्थान दन्तमूलीय बताया है[1], अब भी त और थ इसी तरह वर्ण है। द और ध के उच्चारण मे दन्त के मध्य और न के उच्चारण मे अग्र भाग का उपयोग होने लगा। पाणिनीय शिक्षा मे सभी के लिये सामान्य दन्त्य शब्द का प्रयोग है।

त :

दन्त्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण।

आरम्भवर्त्ती रूप मे म० भा० आ० की त ध्वनि का अनुसरण करता है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० का त, जैसे तणय <तनय, तत्त <तप्त, तहिं <तत्र, तालिय <ताडित, तिलय <तिलक, तुव <तव, तूरिय <तूर्य + इक (प० च०), तिसिओ < तृषित, तुल्ले <तुल्ये, (दो० को०) तेम <तथा, तो <तत.।

प्रा० भा० आ० का त्र, जैसे—तिहुअण <त्रिभुवन, तुट्टइ <त्रुट्यति, दो० को०, तिवार <त्रिवार, तिलोक्क <त्रैलोक्य, तियस <त्रिदश, (प० च०) तासिय <त्रासित, तिय <स्त्री।

प्रा० भा० आ० का त्व, जैसे—तइय <त्वदीय (भ० क०) तुरिउ <त्वरित (प० च०) तुरत <त्वरमाण (भ० क०)

देशी त—जैसे—तण्डव=समूह (भ० क०) तलेर=नगर-रक्षक (भ० क०; दे० ना० ५।३) तवंग=मञ्चक (भ० क०) तीवण=खाद्यविशेष (भ० क०) तडतडइ=ध्वनिसूचक (पा० दो०) तडप्फलड=परिस्फुरण (पा० दो०) तिडिक्की=स्फुलिंग (पा० दो०). देशीनाममाला में संगृहीत अनेक शब्द।

विदेशी त—तकतान=तख्त, तश्त=तश्तरी, तबल=तबला, तवेल्ला, तुलुक=तुरुष्क, ताजि=घोड़ा, इत्यादि की० ल० मे प्रयुक्त फारसी अरबी शब्द।

मध्यवर्त्ती रूप मे अपभ्रंश त म० भा० आ० त या त्त का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है

प्रा० भा० आ० त—जैसे अणंत <अनत (पा० दो०) कयंत <कृतान्त (पा० दो०) वित्तत <वृत्तान्त (भ० क०)

प्रा० भा० आ०—त्त—, अत्तावणि <अतापनी, णित्ति <नीति, पहुत्त <प्रभूत

म० भा० आ० के द्वारा प्राप्त—त्त—संयुक्ताक्षर जिसमें प्रतिनिहित है

---

1. दन्तमूलीयस्तु तकारवर्ग -ऋक् प्रा० १।१९

प्रा० भा० आ०—क्त—, आरत्तय<आरक्त, जुत्त<युक्त, पुणरुत्त<पुनरुक्त —प० च०

प्रा० भा० आ०—क्त्र—, जोत्त<योक्त्र—प० च०

प्रा० भा० आ०—क्त्व, सम्मत्त<सम्यक्त्व

प्रा० भा० आ०—त्न—जत्त<यत्न, सवत्ति<सपत्नी, पत्ति<पत्नी, —प० च०

प्रा० भा० आ०—त्य—, अतिल्लु<अत्यन्तम्, पड्डित्त<पाडित्य—प० च०

प्रा० भा० आ०—त्र—, जैसे अखत्त<अक्षात्र, अक्खसुत्त<अक्षसूत्र, अणेत्तो< अन्यत्र, जत्त<यात्रा, दुपुत्त<दुष्पुत्र, विचित्त<विचित्र (दो० को०)

प्रा० भा० आ—त्व—, पहुत्तण<प्रभुत्व

प्रा० भा० आ० —न्त्र—, अन्त<आन्त्र, जन्त<यन्त्र, जन्तिय<यान्त्रिक, —प० च०

प्रा० भा० आ०—र्त—, पडिवत्त<प्रतिवार्त्ता (प० च०) अत्त<आर्त्त (स० रा०) धुत्त<धूर्त

प्रा० भा०आ० —स्त—, समत्त<समस्त

थ :

दन्त्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श वर्ण।

शब्द के आरम्भ मे थ का प्रयोग सस्कृत भाषा मे अतिस्वल्प है। थर्व, थुर्व और थुड् धातुओ तथा अनुकरणात्मक थूत्कार या थै थै के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द नही है।[1]

मध्यवर्ती रूप मे विशेषतः स्थ के संयुक्त रूप मे थ का प्रयोग प्रचुर है। प्राकृत से अपभ्रश तक आते-आते यह संयोग समीकृत होकर थ ही रह गया है।

थ आरम्भवर्त्ती रूप मे म० भा० आ० का अनुगमन करता है और जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० का थ—जैसे थुत्थुक्कारिय (भ० क०)<थुत्थुत्कारित, थुक (की० ल०)<थुत्कार।

प्रा० भा० आ० का स्थ—, जैसे—थल (दो० को०)<स्थल, थविय<स्थापित, √था<√स्था, थाण<स्थान, थाल (उ० व्य०)<स्थाल, थूल<स्थूल, थोर<स्थूल—(भ० क०), थडि<स्थली, थिर<स्थिर (पा० दो०), थक्कु, थाक्कु (दो० को०, भ० क०)<√स्था या स्थग, थापे (उ० व्य)< स्थापयति,

प्रा० भा० आ०, का स्त[2],—जैसे थण (भ० क०)<स्तन, थम्भ (भ० क०)<

---

१. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—आप्टे पृ० ४८७

२. स्तस्य थ, प्रा० प्र० ३।१२।

स्तम्भ[1], थूह=स्तूप, थोडय—स्तोक—प० च०, थोव<स्तोक—प० च०, थवक्क<स्तवक, थु<√स्तु, थुग्र<स्तुत, थुइ<स्तुति,—भ० क०, थोग्र (पा० दो०)<स्तोक ।

देशी थ, जैसे—थट्ट=सौभाग्य, मराठी थाट, हिं ठाट, थड=अभेद्य पंक्ति तु० मराठी, गुज० थड और थट, थड्ढ=गर्वित, थरहरइ=कम्पते हिं थरथराना—भ० क०; थनवार=साईस (कौ० ल०) थड्ढ=स्तब्ध (स० रा०) देशीनाममाला मे ७४ थकारादि शब्द हैं ।

अनारम्भिक रूप मे म० भ० आ० का अनुगमन करता है और जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० का थ—जैसे गथ,<ग्रन्थ, गंथि<ग्रन्थि—पा० दो०, उत्थाविय (भ० क०)<उत्थापित

प्रा० भा० आ० का स्त—जैसे अत्थवण (भ० क०)<अस्तमन, अत्थि<अस्ति, वित्थर<विस्तर, विहत्थ<विहस्त, हत्थिय<हस्तिन्,—पा० दो०, अपहत्थिय<अपहस्तित, अत्थमिय<अस्तमित, अत्थिर<अस्थिर ।

प्रा० भा० आ० का स्थ—जैसे अवत्था (पा० दो०)<अवस्था, अत्थाण<आस्थान, दुत्थ<दुस्थ

प्रा० भा० आ० का स्त्र—जैसे इत्थि (पा० दो०)<स्त्री

प्रा० भा० आ० का र्थ—जैसे अत्थ (पा० दो०)<अर्थ, तित्थ<तीर्थ, कुतित्थ<कुतीर्थ, असमत्थ<असमर्थ, कयत्थ<कृतार्थ, चउत्थ<चतुर्थ, तित्थयर<तीर्थंकर—भ० क०

देशी थ—अत्थाइ (भ० क०)=आयाम—दे० ना० १।५४, उत्थरइ (भ० क०)=आक्रामति, उत्थलइ पाइय० उत्थलियमुच्छलित, ओत्थाडिय=अवस्तृत, गलत्थइ (हेम० ८।४।१४३)=क्षिपति, गलत्थलइ=निस्सारयति ।

अपभ्रंश प्रत्यय में—एत्थु हेम० ८।४।४०४-५ जेत्थु, तेत्थु, केत्थु, एत्थु ।

द :

दन्त्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण ।

आरम्भिक रूप मे अनुगमन करता है म० भा० आ० द का जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ०—द—जैसे दक्खिणा<दक्षिणा, दत्त<दैत्य, दस<दश, दाण<दान,

---

१. प्राकृत में थंभ शब्द का प्रयोग अनुपलब्ध था, खंभ शब्द अनन्य प्रचलित था । संस्कृत भाषा में स्तम्भ प्रचलित था । स्कम्भ वैदिक संस्कृत के बाद अप्रयुक्त हो गया । अतः वररुचि ने "स्तम्भे खः" ३।१४ और हेमचन्द्र आदि अन्य वैयाकरणों ने स्तम्भ के स्त को ख में परिवर्तित कर दिया जो उच्चारण [illegible] असम्भव है । वस्तुतः अपभ्रंश में थंभ और खंभ ([illegible]) दोनों मिलते हैं । अतः थंभ<स्तम्भ और खंभ<स्कंभ ।

दिट्ठउ <दृष्टक , दिट्ठि <दृष्टि, दीवा <दीप, दीसइ <दृश्यते, दुट्ठ <दुष्ट, दुरिअ <दुरित, देइ <ददाति, देस <देश, दोस <दोष, दोहा <दोधक,— दो० को० स०,

प्रा० भा० आ०—द्र—जैसे दव्व <द्रव्य, दरम <द्रम्म—की० ल०, दोह <द्रोह, दोहत्तण <द्रोहत्व—भ० क० ।

प्रा० भा० आ०—द्व—जैसे दीव (भ० क०) <द्वीप, दुहु <द्वौहि, दुअमो <द्वौ+अक दोआरहि <द्वारे—(की० ल०) ।

प्रा० भा० आ०—द्य—जैसे दुति <द्युति ।

देशी शब्द और अनुकरणात्मक—द—जैसे दडत्ति, दडवड=शीघ्र हेम० ८।४।३३०, दलवट्टइ=निर्दलयति, दुग्घोट्ट=हस्ती (दे० ना० ५।४४), दाढी, देवर, दोक्काणदार=दूकानदार, दोहए=दुहाई,—की० ल० । अन्य शब्द देशी नाम माला ।

विदेशी शब्द का द—जैसे दरवाल=दरबार, दरवेस, दर सदर, दारिगह=दरगाह दिन्न=दीन (धर्म) दूआ=दुआ, देवान=दीवान—की० ल० ।

मध्यवर्ती रूप मे अपभ्रंश का द अनुगमन करता है म० भा० आ० द का जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ०—त—, जैसे—जीविद <जीवित, कधिद <कथित—हेम० ।

प्रा० भा० आ०—द—, अणुदिणु (भ० क०) <अनुदिनम्, उद्देस <उद्देश, उद्दीविय <उद्दीपित ।

प्रा० भा० आ०—ब्द—अवसद्द <अपशब्द—भ० क०,

प्रा० भा० आ०—र्द—, गद्दह (भ० क०) <गर्दभ

प्रा० भा० आ०—र्द्र—अद्दिय (भ० क०) <आर्द्रित

देशी शब्द का—द—, जैसे गुंदल=आक्रन्द, कंदोह=नीलोत्पल ।

ध :

दन्त्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श ध्वनि ।

आरम्भवर्ती रूप मे म० भा० आ० की ध ध्वनि का अनुगमन करता है; जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ०—ध—, जैसे—धइवय <धैवत, धण <धन, धरधर <धराधर, धवलहर <धवलगृह, धाइ <धात्री, धुय <धुत, धूव <धूप, धूसरिय < धूसरित, धेणुव <धेनुक, धोवइ <धावति—प० च०, धम्म <धर्म, धोय < धौत—पा० दो०, धणु <धनुष, धर <धरा—सं० रा० ।

प्रा० भा० आ०—द—, जैसे, धूय, धीय <दुहिता—प० च०, स्वर लोप और ऊष्मा का प्रभाव ।

प्रा० भा० आ०—ध्व—जैसे, धज (प० च०) <ध्वज,

आ० भा० आ०—ध्य—, जैसे, धेय (पा० दो०, दो० को० स०) <ध्येय,
आ० भा० आ०—ध्र—, जैसे, धुय (स० रा०) <ध्रुव
देशी ध,—जैसे, धगधगन्त, धधर=आग्रह दे० ना० ५।५७ धाइ=सदन, धाडिय=
प्रेषित, धुक्कु—मद, धागड, धाडे—की० ल०, धधा, (पा० दो०, दो० को०)
धधी, दो० को० स०। देशीनाममाला के अनेक शब्द।
मध्यवर्ती रूप मे म० भा० आ० की ध ध्वनि का अनुगमन करता है, जिसमें
प्रतिनिहित है—
आ० भा० आ०—ध—, जैसे अणुबन्ध <अनुबन्ध, इंधण <इधन, खध <स्कन्ध—
भ० क०
आ० भा० आ०—थ—, जैसे, सवध <शपथ, कधिद <कथित—हेम०
आ० भा० आ०—ग्ध—, जैसे दूधु (उ० व्य०) <दुग्धम्,
आ० भा० आ०—ध्र—, जैसे, गीध <गृध्र
आ० भा० आ०—र्घ—जैसे अद्ध (भ० क०) <अर्घं
आ० भा० आ०—र्ध्व—, जैसे उद्ध (भ० क०) <ऊर्ध्व
आ० भा० आ०—ह्न—, जैसे, चिन्ध (भ० क०) <चिह्न

न.

दन्त्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, सानुनासिक, स्पर्शध्वनि।

भरत के समय मे ही प्राकृत वर्णमाला मे न का अभाव हो गया था। जैसा हम ण प्रकरण मे देख आये हैं वस्तुत. अपभ्रश वर्णमाला मे भी १० वी शताब्दी तक न का स्थान नही था। तदनन्तर अर्धमागधी और संस्कृत के प्रभाववश पुन प्राच्य और मध्यदेश मे नकार का समावेश हो गया। उक्ति व्यक्ति प्रकरण, कीर्तिलता और कीर्तिपताका मे सस्कृत पद्धति का आश्रय है जो बाद मे तद्देशीय आ० भा० आ० में भी है। इन्ही कारणो से हेमचन्द्र ने अपनी वर्णमाला से नकार का बहिष्कार नहीं किया है। अत. उत्तरवर्ती अपभ्रश काल मे न का वर्णमाला मे अस्तित्व स्वीकार ही करना चाहिये।

१०वी शताब्दी से पूर्व न का प्रयोग तत्सम या विरल तद्भव शब्दो में—
जैसे—नर, नल (चरिय), नव, नीर, निवह। न्हाइ <स्नात्वा,—दो० को०

आरम्भवर्ती नकार, म० भा० आ० पर अर्धमागधी प्रभाव—भविसयतकहा में विशेषत जैसे—नइ, नउल, नट, नत्थि, नयण, नरेसर, नवइ इत्यादि १४२ शब्दो में। मध्यवर्ती शब्दों मे प्राय: णकार का प्रयोग है। जैसे—निज्झुण, नियाणिय, निव्वाण इत्यादि। आरम्भवर्ती णकारादि शब्द भी ७८ हैं।[1]

देशी शब्दो पर अर्धमागधी प्रभाव—
जैसे—न=इव, नवर=केवल, नाइ=इव नावइ=इव, नियइ=पश्यति, नियत्थ=

१. भविसयत्तकहा—गुणे भूमिका पृ० १४

परिहित (दे० ना० ४।३३), णिरारिउ=निश्चितम्, णिरुंभण=निरोधन, निसुठिय=भरानत—प० च० निहेलण—गृह (दे० ना० ४।५) निहोडइ= पातयति, (देशीनाममाला मे णकारादि शब्द हैं)

मध्यवर्ती द्वित्वनकार अर्धमागधी प्रभाव—

जैसे—दक्खिन्न, दुन्निरिक्ख, दुन्निवार, अन्न <अन्य, अन्नन्न <अन्यान्य, अन्नाण < अज्ञान, अन्नेक <अन्यैक, अन्नोन्न <अन्योन्य, इत्यादि—भ० क० ।

संदेशरासक मे भी द्वित्व प्रयोग हैं—

जैसे, अन्न <अन्य, अन्नय <अन्य, अन्नइ <अन्यत्+चित्, उन्नय <उन्नत, उन्नमियय <उन्नमित, ।

१०वीं शताब्दी के बाद प्रा० भा० आ० का न—जैसे—

नअ <नय, नअर <नगर नखत <नक्षत्र, नवइ <नमति. नहिं <नहि, निअर <निकट, निन्द <निद्रा, निरबल <निर्बल, निक्करुण <निष्करुण, इत्यादि—कौ० ल० ।

उपर्युक्त सभी उदाहरणो में म० भा० आ० का ण न मे परिवर्तित समझा जा सकता है ।

विदेशी शब्द न—, जसे, निमाजगह, निसान=निशान, नेवाला आदि—कौ० ल०

प्रा० भा० आ०—ज्ञ—, जैसे, नाइत्त <ज्ञाति, नाण <ज्ञान, नाय <ज्ञात,—भ० क०, नज्जइ <ज्ञायते (भ० क०)

प्रा० भा० आ०—स्न—, जैसे नेह (कौ० ल०) <स्नेह, नाइ (भ० क०) < स्नाति,

प्रा० भा० आ०—ल—, जैसे. नहिअ (कौ० ल० २।२२३) <लहिअ <लब्ध

ओष्ठ्य

दोनों ओठो को मिलाकर श्वासवायु का अवरोध करके जब सहसा स्फोटन होता है तो ओष्ठ्य ध्वनियो की उत्पत्ति होती है ।

प :

ओष्ठ्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण ।

आरम्भिक रूप में अपभ्रंश म० भा० आ० प का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ०—प—, जैसे, पइ <पति, पइज्ज <प्रतिज्ञा, पइहर <पतिगृह, पउर < पौर, पक्क <पक्व, पक्खवाय <पक्षपात, पंचत्त <पंचत्व, परव्वस <परवश, परिवाडि <परिपाटी, पिउहर <पितृगृह, पील <पीडा, पीण <पीन, पूय < पूजा, पूरइ <पूरयति पेसल <पेशल, पोय <पोत, पोत्त <पौत्र, पोसह < पौषध—भ० क०,

प्रा० भा० ग्रा०—स्प—, जैसे, परस (भ० क०) <स्पर्श,

प्रा० भा० ग्रा०—प्र—, जैसे, पत्थर <प्रस्तर, पत्तयण <प्रयोजन, पच्चक्ख <प्रत्यक्ष, पच्चूस <प्रत्यूष, पज्जलत <प्रज्वलन्, प्ललुट् <प्रलुठ्, पल्लंघ=पलंग < पर्यङ्क, पवह् <प्रवह्—स० रा०, पातरे <प्रान्तरे, पेक्खिया <प्रेक्षित,—की० ल०। पडि <प्रति—(उपसर्ग)—पडिभट <प्रतिभट, पडिरव < प्रतिरव आदि।

देशी शब्द—प—, जैसे, पक्खरिअ—सन्नद्ध (देशी० ना० ६।१०) पंगुरइ=प्रावृणोति, पंगुरण=प्रावरण, पच्चारइ—उपालभते—(हेम० ८।४।१५६) पच्चेलिउ=प्रत्युत (हेम० ८।४।४२०) पडिकूर=प्रतिकूल (दे० ना० ४।१८), परिहत्थ=दक्ष पा० ल० पसय=मृगयाविशेष (दे० ना० ६।४), पहुत्त= प्रभु, पीणिय=धारित, इत्यादि—भ० क० पियाज—की० ल०

विदेशी शब्द—फ—, पिअरोज <फीरोज—की० ल०

विदेशी शब्द—ब—, पातिसाह् <बादशाह्—की० ल०

मध्यवर्ती रूप मे अप० प म० भा० आ० के प्प का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० ग्रा०—प—, जैसे, उप्परि <उपरि (भ० क०)

प्रा० भा० ग्रा०—त्प—, जैसे, उप्पल <उत्पल, उप्पइय <उत्पतित, उप्पज्जइ < उत्पद्यते, उप्पण <उत्पन्न,—भ० क०,

प्रा० भा० ग्रा०—र्प—, अप्पिआ <अर्पित (की० ल०),

फ :

ओष्ठ्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण।

आरम्भिक रूप मे अपभ्रंश फ म० भा० आ० फ का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० ग्रा०—फ—, जैसे, फग्गुण <फाल्गुन, फुक्कार <फुत्कार,—प० च०, फलय (भ० क०) <फलक, फलिअ (की० ल०) <फलित।

प्रा० भा० ग्रा०—प—, जैसे, फंसण <पांसन, फरसु <परशु,—भ० क०, फलिह (प० च०) <परिघ

प्रा० भा० ग्रा०—स्प—, फसइ <स्पृशति, फंस <स्पर्श हिं फांस, फंदइ <स्पन्दते,—भ० क०।

प्रा० भा० ग्रा०—स्फ—, जैसे, फलिह <स्फटिक, फार <स्फार, फुट्टइ <स्फुटति, फुड <स्फुट, फुरइ <स्फुरति—भ० क०, फुलिङ्ग (प० च०) <स्फुलिङ्ग; फुलुग (की० ल०) <स्फुलिङ्ग; फुर (की० ल०) <स्फुर।

देशी शब्द फ—, जैसे, फट्टइ=दारयति हिं √फट, फिट्टइ=भ्रश्यति, (हेम०

८।४।१७७), फुसइ (हेम० ८।४।१०५)=स्पृशति, √फरहर (प० च०), फरिआइत, फुक्किआ, हिं० फूँकना, फोट=तिलक,—की० ल०।

मध्यवर्ती रूप में अपभ्रंश फ म० भा० आ० फ का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

आ० प्रा० आ०—प—संफालइ <सपाटयति, (भ० क०)

प्रा० भा० आ०—स्प—जैसे, अप्फाल (प० च०) <आस्फाल, वणप्फइ <वनस्पति, (प० च०)

प्रा० भा० आ०—स्फ—, परिप्फुरत <परिस्फुरत्, (प० च०)

प्रा० भा० आ०—ष्प—, निप्फद <निष्पन्द, निप्फकिय <निष्पङ्क, पुप्फ <पुष्प, (भ० क०)

प्रा० भा० आ०—ष्फ—, णिप्फल <निष्फल, (भ० क०)

ब :

ओष्ठ्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण।

आरम्भिक रूप मे म० भा० आ० ब का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० ब—, जैसे, बंदिण <बन्दिन्, बंधण <बन्धन, बंधव <बान्धव, बब्बर <बर्बर, बाहिर <बहिस्, बोहिय <बोधित,—भ० क०, बज्झइ <बध्यते, बन्धि <बद्ध्वा, बुधा <बुधा.—दो० को०।

प्रा० भा० आ० भ—, जैसे, बहिणि <भगिनि—भ० क०, हेम० ४।३५१ उदा०

प्रा० भा० आ० ब्र—, बाम्हण <ब्राह्मण, बाम्ह <ब्रह्मा,—दो० को०, बंभचारि <ब्रह्मचारिन्—भ० क०।

प्रा० भा० आ० द्व—, जैसे, बार <द्वार, बारस <द्वादश, बिण्णि <द्वौ—भ० क०, बे <द्वि—की० ल०,

प्रा० भा० आ० प—, जसे, बइसइ <उपविशति, बइट्ठ <उपविष्ट—भ० क०

प्रा० भा० आ० व—, जैसे, बण <वन, बदह <वंदस्व, बसउ <वसतु, वहइ <वहति, बाअ <वाक्, बासिअ <वासित, बिस <विष, बीअ <बीज,—दो० को० स०, बग <वक, बिरुड <वरटा—सं० रा०

प्रा० भा० आ० व्य—, जैसे, बक्खाण <व्याख्यान, बक्खाणअ <व्याख्यायते, बवहार <व्यवहार—दो० को०

ध्यान देने की बात है कि प्राच्य प्रदेश मे व को ब उच्चारण करने की अधिक प्रवृत्ति है जैसा कि आज भी आ० भा० आ० बगला मे है। यही कारण है कि सरह के दोहाकोश मे बकारादि ६८ शब्दो मे केवल २१ शब्द वस्तुतः प्रा० भा० आ० के बकारादि हैं। इसके अतिरिक्त प्रा० भा० आ० के बकारादि ३६ शब्द हैं।

इसके विपरीत पश्चिम प्रदेश मे वकारबहुलता है। पउमचरिउ के संपादक श्री भायाणी के अनुसार बकारादि कोई शब्द ही नही। पाण्डुलिपि लेखकों ने ब को भी व कर दिया है और इस सरणि को यहाँ तक बढ़ा दिया है कि मकार के द्वित्व होने पर पूर्व बकार को भी 'म्भ' के रूप लिखा है जो सर्वथा उच्चारण दृष्टि से असगत है।[1] प्राकृत काल मे प को भी व उच्चारण करने से (पोर्व प्रा० प्र० २।१६) इस प्रवृत्ति को बल मिल गया था। सदेशरासक मे बकारादि २१ शब्द हैं जिनमे कुछ प्रा० भ.० आ० के वकारादि हैं, जब कि वस्तुतः वकारादि शब्द १२७ हैं। पाहुड दोहा मे बाकरादि १२ शब्द हैं और वकारादि १०५ हैं। भविसयत्तकहा में बकारादि केवल २१ शब्द है जब कि वकारादि ४१६ हैं। कीर्तिलता की नेपाली और स्तभतीर्थ दोनो प्रतियो मे प्रा० भा० आ० के अनुसार ब और व का प्रायः प्रयोग है, वकारादि शब्द अधिक हैं।

देशी शब्दो में प्रयुक्त—च—जैसे, वप्प (भ० क०)=पिता,, हिं० बाप देशीनाम० ६।८८ विवृति, की० ल० की दोनो प्रतियो मे वकारादि पाठ है। डा० सुभद्र झा ने 'बाप' प्रा० भा० आ० के काल्पनिक वप्ता शब्द से परिवर्तित किया है।[2] उन्होंने कारण कोई नही दिया। "क्षेत्रं बीजवते देय नाबीजी क्षेत्रमर्हति" मोक्ष (तलाक) अधिकार के इन रूपक के आधार पर स्त्री को क्षेत्र समझा जाय तो वीर्यरूप बीजवपन करने वाला पिता वप्ता कहा जा सकता है। स्तभतीर्थ प्रति के सस्कृत टीकाकार ने वप्प<वप्र दिया है। देशीनाममाला ने बप्प की तुलना वप्र (पृष्ठ ६४) से की है। वप्र (प्राकार) का कार्य दुर्ग की रक्षा करना है। पिता का अर्थ भी रक्षक है।

बलिवण्ड=बलात्कार, √बोल्ल=भाषण, बोल्लइ, बोल्लवइ—भ० क०, बढ=मूर्ख—दो० को० 15925

मध्यवर्ती रूप में अप० ब म० भा० आ० के द्वित्वरूप ब्ब का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० का—र्ब—, जैसे कब्बुरिय<कर्बुरित—भ० क०

प्रा० भा० आ० —प—, जैसे, सबध<शपथ, बय<पद—(हेम०)

भ :

ओष्ठ्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श वर्ण। आरम्भवर्ती रूप में म० भा० आ० के भ का अनुगमन करता हैं जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० भ—, जैसे, भक्खइ<भक्षयति, भड<भट, भणइ<भणति, भडुल्ल<भाण्ड, भत्त<भक्त हिं० भात, भमर<भ्रमर, भाय<भाग, भिस<

१. पउमचरिउ—भूमिका पृ० ५५
२. Formation of the Maithili Language—Dr. Subhadra Jha Page—170.

भृथम्, भूवाल<भूर्पाल, भेय<भेद, भोय<भोग, —भ० क०, भारह<भारत, भुभग<भुजग, —स० रा०। भासा<भाषा, भिक्खारि, भिखारि<भिक्षाकारिक—(उ० व्य०)

प्रा० भा० आ० ब—, जैसे, भिस<विस—स० रा०, भुक्खा<बुभुक्षा, भेसइ<बृहस्पति—भ० च०,

प्रा० भा० आ० भ्य—, जैसे, भीतर<आभ्यन्तर—की० ल०

प्रा० भा० आ० भ्र—, जैसे, भउहा, भउह<भ्रू, भंति<भ्रांति, भमइ<भ्रमति, भूलया<भ्रूलता, भायर<भ्रातृ—भ० क० √भम<भ्रम, भाइ<भ्रातृ, —प० च०, भमर (स० रा०)<भ्रमर।

देशी शब्द भ—, जैसे भडण=कलह (दे० ना० ६।१०१) भरडक्खिय=विस्फारित, भसल, (प० च०)=भ्रमर, भिडइ=आक्रमते—हि भिडना, भुंडिणी=वराही (दे० ना० ६।६०१)—भ० क०, भले भले—हस्ती का शब्दानुकरण भिभल=विह्वल, भिंभिय=झिल्लीरव—प० च० भुंभल<चूर्ण—सं० रा०।

मध्यवर्ती रूप मे अप० भ म० भा० आ० ब्भ का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० र्ध्व—जैसे, उब्भम्<ऊर्ध्वं, उब्भइ<ऊर्ध्वंयति—भ० क०

प्रा० भा० आ० द्भ—जैसे उब्भड<उद्भट, उब्भड<उद्भण्ड, उब्भव<उद्भव भ० क०

प्रा० भा० आ० द्भ्र—उब्भन्तय<उद्भ्रान्त—भ० क०

प्रा० भा० आ० भ्य—उब्भन्तरे<अभ्यन्तरे—भ० क०

प्रा० भा० आ० र्भ—गब्भेसर<गर्भेश्वर—प० च०

म० भा० आ० अनादि असंयुक्त फ भ मे परिणत हो जाता है जैसे—सभल<सफल —हेम० ८।४।३९६ मे उदाहरण।

म :

ओष्ठ्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, सानुनासिक, स्पर्श वर्ण। आरम्भिक रूप में अप० म म० भा० आ० म का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० म—मउड<मुकुट, मऊर<मयूर, मज्झिम<मध्यम, माए<मातः, माणुम<मनुष्य, मिय<अमृत, मुय<मृत, मुहवत्त<मुखवार्त्ता, मूढी<मूढा, मोग्गर<मुद्गर, मोर<मयूर—प० च०, मच्छर<मशक—स० रा०

प्रा० भा० आ० म्र—मरइ<म्रियते, —भ० क०, स० रा०

आ० भा० आ० म्ल—मेच्छ<म्लेच्छ—प० च०

आ० भा० आ० श्म—मसाण<श्मशान—भ० क०

देशी म—जैसे मडक्क=घट हिं० मटका, मडप्फर=गर्व, मडव=पल्ली, मयरट्ट =वारवनिता, मरट्ट=गर्व—पा० ल० मसरक्कइ=अंगुलित्रोटनम्, मल्हत=लीलायमान—(देशी० ना० ६।११९), महमहइ=गन्धः प्रसरति मालूर=श्रीफल—भ० क०, मेहुणय=स्यालक—प० च०।

मध्यवर्ती रूप मे अप० म म० भा० आ० म या म्म, जो कभी-कभी द्वित्व रूप मे ही रह जाता है, का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

आ० भा० आ० म—जैसे परमेसुर<परमेश्वर, पढम<प्रथम, परमत्थ<परमार्थ, रमइ<रमते, —दो० को० स०। विम्माणिय<विमानित—प० च०

आ० भा० आ० न्म—जैसे जम्मण<जन्मन्, उम्मील<उन्मील, उम्मूल<उन्मूल, उम्मण<उन्मण, उम्माहय<उन्मायक—प० च०

आ० भा० आ० र्म—जैसे कम्मन्त<कर्मान्त, कम्मारय<कर्मकार—प० च०

आ० भा० आ० म्ब—जैसे कदम<कदम्ब, नीम<निम्ब,

आ० भा० आ० न—जैसे ठाम<थान—की० ल०

आ० भा० आ० व—जैसे सिमिर<शिविर—प० च०

अन्तःस्थ—य, व, र, ल

अन्तःस्थ अपने अर्थ से ध्वनित करता है कि वह दो के बीच मे स्थित है।[१] महेश्वर सूत्रो के अनुसार अन्तःस्थ वर्ण स्वर और व्यजनो के मध्यवर्त्ती हैं। अतः इन्हे अर्धस्वर भी कहा जाता है। इनमे उच्चारण का आरम्भ स्वरस्थिति से होता है और अन्त मे ये आगामी स्वर और व्यजन की स्थिति मे चले जाते हैं। अन्तःस्थ य, व, र, ल चार वर्ण है। य का सम्प्रसारण इ, व का उ, र का ऋ और ल का लृ उनकी अन्तःस्थता और स्वरार्धता को स्पष्ट करता है। श्रुति ध्वनियों में य और व का अपभ्रंश में प्रयोग देखा जा चुका है। ऋ और लृ स्वर का अपभ्रंश मे अभाव हो गया है अतः र और ल अर्धस्वर की स्थिति मे न रहकर पूर्ण व्यजन हो गये हैं।

य

तालव्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक तथा सानुनासिक अन्तःस्थ ध्वनि।

प्राकृत में य का सर्वथा अभाव हो गया था, केवल मागधी मे वह अवशिष्ट रह गया था। य ज मे परिणत होता रहा है। अर्धमागधी मे य का गौण प्रवेश हुआ

१. ऋक् प्रातिशाख्य के १।१२ की व्याख्या में 'स्पर्शोष्मणामन्त मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तःस्था' बताया गया है। स्पर्श और ऊष्म वर्णों की मध्य स्थिति वर्णमाला को ध्यान में रखकर बताई गई है।

है। परन्तु मूल य या गौण य दोनो ही किसी शब्द के प्रारम्भ में नही आते हैं। य का प्रयोग शब्दो के मध्य मे है और वह या तो श्रुति के रूप में है या समास के उत्तरवर्त्ती पद के प्रारम्भ मे। विशेप विवरण ज वर्ण की व्याख्या मे दिया जा चुका है।

आरम्भिक रूप मे अपभ्रंश य का सर्वथा अभाव है। दो एक उदाहरण उपलब्ध हैं। उन्हे मागधी प्रभाव[1] या कथचित् संस्कृतोच्चारण का अनुकरण कहना चाहिये।

जैसे—याणइ <जानाति, याणिउं <ज्ञातुम्—भ० क० यणावओ <जणाउं <
ज्ञपयामि, हिं जनाऊ—कीo ल०

कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका तथा उक्ति व्यक्ति प्रकरण मे सस्कृत तत्सम शब्दो मे य को शब्दारम्भ मे स्वीकार कर लिया गया है।

जैसे—यन्त्र, यम, यज्ञोपवीत, युवराज (की० ल०)
यज, यजमान, याचक (उ० व्य०)

मध्यवर्ती रूप मे अपभ्रंश य यश्रुति के कारण है। जैसे—उइय <उदित उक्खय <
उत्खात, उम्मोहिय <उन्मोहित, जय <जप, जाय <जात, जीय <जीव, ढोयण <ढौकन—प० च०, तिलय <तिलक, हरिसिय <हर्षित, —प० सि० च०। पयडण <प्रकटन, पय <पद, धोय <धौत, मग्र <मद, —पा० दो०। वयण <वचन, वयण <वदन, वेय <वेद, —सं० रा०।

स्वार्थिक क और त (भूतकालिक क्त) प्रत्ययो के क और त का लोप होने पर प्राय: यश्रुति होजाती है।

मध्यवर्त्ती य समास के प्रारम्भ मे, जैसे—यण <जन, यणिय <जनित, यल <तल,
महायण <महाजन, महीयल <महीतल—प० च०। इन उदाहरणो मे भी ज और त का लोप होने पर यश्रुति की कल्पना की जा सकती है।
हरियंदण (भ० क०) <हरिचंदन, छणयन्द <क्षणचन्द्र—प० च०

व:

दन्तोष्ठ्य, नाद, घोप, अल्पप्राण, निरनुनासिक तथा सानुनासिक अन्तःस्थ वर्ण।

पश्चिम क्षेत्र मे अपभ्रंश मे व का प्रचुर प्रयोग है यद्यपि प्राच्य क्षेत्र मे ब की ओर झुकाव है। विशेप विवेचन ब वर्ण की व्याख्या मे।

आरम्भिक रूप मे अप० व म० भा० आ० व का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० व—, जैसे, वयण <वचन, वयण <वदन, वज्ज <वज्र, वट्ट <वर्त्मन्, वक <वक्र, वासिय <वासित, विबुह <विबुध, विरहणि <विरहिणी

१. हेम० ८।४।२९२।

वीसर<विस्मृ, वीण<वीणा, वेय<वेद—सं० रा०

प्रा० भा० प्रा० ब—, जैसे, वलाहय (सं० रा०)<बलाहक, वहुरूव<बहुरूप, वहुल<बहुल, वलाय<वलाका, वन्ध्<बन्ध्, वाह्<बाह्—प० च०

प्रा० भा० प्रा० म—, जैसे वम्मह्<मन्मथ,—प० च०, वम्म<मर्म—, —प० च० ।

प्रा० भा० प्रा० प—, जैसे, ववखर<उववखर<उपस्कर

प्रा० भा० प्रा० व्य—, जैसे, वाउलिम<व्याकुलित, वोमयल<व्योमतल—सं० रा० ववसाय<व्यवसाय, वावार<व्यापार—भ० क० ' ववगय<व्यपगत —भ० क०

देशी शब्द व—, जैसे, वव्वीहिय=पपीहा, वरविकय=वस्त्र—सं० रा० वज्जरइ =कथयति (हेम० ४।२), वयाल=कलकल, विगुत्त=व्याकुलीकृत (दे० ना० ७।६४), विढवइ=अर्जयति, विब्भाडिय=नाशित, विलय =वनिता, विलुक्क=प्रगोपन, विलोहइ<विसवदत्ति, विहडप्फड=त्वरितम् —भ० क०, वपुरा, वाप—कीं० ल० ।

विदेशी शब्द व या ब—, जैसे, वन्दा, वाज, वांग, वादि—की० ल० ।

मध्यवर्ती रूप में अप० व म० भा० आ० व का अनुगमन करता है, जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ०—प—,विवरीय<विपरीत—सं० रा०, ववगय<व्यपगत—भ० क० कवोल<कपोल—सं० रा०, सवत्ति<सपत्नी—भ० क०

यश्रुति—व—, जैसे, उवय<उदक, उवहि<उदधि, उवजुव<उपयुत, अंसुव< अश्रु, उल्लोव<उल्लोच—भ० क० ।

अनुनासिक वँ

अपभ्रंश की ध्वनियों की यह विशेषता है। अनादि असंयुक्त मकार को अनुनासिक वकार हो जाता है।[1] जैसे—कवँलु<कमलु, भवँरु<भमरु, —हेम० ८।४।३९७, नावँ<नाम, गावँ<ग्राम—भ० क०, सवँति<समंति समत्रि—भ० क०

सानुनासिक वँ का निरनुनासिक व के रूप मे भी प्रयोग हो जाता है— जैसे, डवण<दमन, उन्नवियय<उन्नमित,रवन्नउ<*रमण्यकम्,रणविज्ज< रमणीय—सं० रा०

वकार का प्रयोग शब्द के सब भागो मे हो जाता है। अन्त मे बहुत दशाओ मे यह उ मे परिणत हो जाता है। जैसे—उच्छउ<उत्सव, परिहउ<परिभव, पहाउ<प्रभाव, इत्यादि। इसके मिथ्यासादृश्य पर म से शब्दान्त मे विकृत वँ भी निरनुनासिक समझा जाकर उ मे परिणत हो जाता

१. मोऽनुनासिको वो वा ।८।४।३९७

है—जैसे, उज्जउ < उद्यम, खेउ < क्षेम, जउणा < जमुना—भ० क० ।

र, ल, ळ, ड, ड़

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में र और ल के उच्चारण मे इतना साम्य आ गया था कि एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग हो जाता था । ऋक् प्रातिशाख्य ने दोनों का उच्चारण स्थान दन्तमूलीय बताया था । इस साम्य ने शनैः शनै इस प्रवृत्ति को जन्म दिया । पतजलि ने महाभाष्य मे व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनो मे "तेऽसुरा" प्रतीक रखकर बताया कि असुर लोग "हे अरयः" के स्थान पर "हेलयः, हेलयः" करते हुए पराजित हुए अतः ब्राह्मणो को अपभाषणात्मक म्लेच्छ कार्य नही करना चाहिये ।[1]

यहाँ म्लेच्छ कार्य लकारोच्चारण को बताया है ।[2] मगध देश मे रहते हुए पतजलि ने प्राच्यप्रदेशस्थ व्रात्यसभ्यतानुयायी जनपदभाषाभाषी व्यक्तियो को असुरतुल्य बताकर म्लेच्छत्व का आरोप लगाया । मागधी प्राकृत के ध्वनिविज्ञान की विशेषता ही र को ल और स को श मे परिणत कर देना है ।[3] दूसरी तरफ पश्चिम प्रदेश मे शौरसैनी प्राकृत मे र का प्राधान्य है । थोर मे स्थूल के ल को र हो जाता है ।[4] वहाँ भी र को ल उच्चारण करने की कुछ प्रवृत्ति अवश्य थी जिसका निदर्शन वररुचि ने हरिद्रादिगण मे किया है ।[5] हेमचन्द्र ने भी यही नियम अपने शब्दानुशासन में निर्धारित किया और आर्यभाषा मे अर्थात् अर्धमागधी मे भी इसके उदाहरण दिये । इस सबके आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि लोकभाषाओ मे र और ल के सम्बन्ध मे तीन धाराएँ चल रही थी—

१. र का प्रयोग—पश्चिम क्षेत्र मे
२. ल का प्रयोग—प्राच्य क्षेत्र मे
३. र और ल दोनो का प्रयोग—मध्यदेश । सस्कृत की प्रवृत्ति ।

र और ल की इस उच्चारणसमता के आधार पर अलकारशास्त्रो मे यह नियम निर्धारित किया गया—

---

१. म० भा० (पस्पशाह्निक) । इसका आधार तेऽसुरा आप्तकामा हेलवो हेलव इति वदन्तः पराबभुवुः तस्माद ब्राह्मणो न म्लेच्छेत् । (शतपथ ३।२।१२३)—यह वचन है । ब्राह्मण ने केवल र का ल ही नहीं य का व भी अपभ्रष्ट उच्चरण दिखाया ।

२. तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त· पराबभूवु' । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येय व्याकरणम । तेऽसुरा । महाभाष्य प्रथम आह्निक । "लत्वं म्लेच्छनम्" कैयट ।

३. रसोर्लशौ । हेम० ८।४।२८८ ।

४. स्थूले लो रः । हेम० ८।१।२५५ ।

५. हरिद्रादीना‍ो लः । प्रा० प्र० २।३०, हेम० ८।१।२५४ ।
वररुचि प्राच्य क्षेत्र के वैयाकरण है ।

"यमकादौ च भवेदैक्य डलोर्बवोर्लरोस्तथा"।[1] तदनुसार "र और ल, ब और व, ड और ल" को यमक, श्लेष आदि अलकारो मे एक ही समझा जाता रहा है।

वैदिक प्रातिशाख्य में स्वरमध्यवर्त्ती डकार को ळकार और ढकार को ल्हकार बनाने का विधान है।[2] लकार का मूर्धन्यीकृत रूप ळ है। इसका उच्चारण आ० भा० आ० मे मराठी और उडिया मे अब भी बना हुआ है। प्राकृत मे स्वर से परे अनादि असयुक्त ड को ल हो जाता है।[3] अत. "लयोरभेद." यह कथन चल पडा। पैशाची प्राकृत मे ल का उच्चारण ळ हो जाया करता था।[4]

आ० भा० आ० मे स्वर मध्यवर्त्ती ड को ड़ और ढ को ढ़ हो जाया करता है। जैसे—ताड़ना, तोडना, फोड़ना, लडना, भिड़ना, चढना, पढ़ना आदि। अपभ्रंश काल मे इस तरह का विकार होता था कि नही यह विचारणीय है। जो अपभ्रश के ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमे लेखन प्रणाली सस्कृत के अनुसार ही है अत. ड या ढ के नीचे बिन्दु लगाकर ड़ और ढ़ लिखे नही मिलते। देशीनाममाला तक मे भी यही स्थिति है। इससे दो ही परिणाम निकाले जा सकते हैं।

१. या तो अपभ्रश मे ड़ और ढ़ उच्चारण ही न थे।

२. या उच्चारण तो थे पर लेखन पद्धति न थी।

नीचे बिन्दु लगाकर लिखने की प्रणाली आधुनिक काल में आई है जब कि फारसी अरबी के जिह्वामूलीय ज़ फ़ आदि उच्चारणो का पृथक्करण आवश्यक हो गया। ड़ और ढ़ भी उसी तरह लिखे जाने लगे यद्यपि उनका उच्चारण पुराना ही था। देशी शब्द झाडी, झड, झखड, वाडी, कडाह आदि अवश्य आ० भा० आ० की तरह ही उच्चरित होते होंगे यह कल्पना की जा सकती है। लिखने की पद्धति न होने के कारण उन्हे ऐसा लिखा गया। डा० सुभद्र झा ने मैथिली के सम्बन्ध मे भी यही निष्कर्ष निकाला है।[5] ड़ और ढ़ ध्वनियाँ उत्क्षिप्त और जिह्वामूलीय हैं। र का उच्चारण भी उत्क्षिप्त है अत र को मूर्धन्यीकृत करने पर ड़ उच्चारण हो जाना सम्भव है। ऋक् प्रातिशाख्य मे वेदमित्र आचार्य की सम्मति दी गई है कि डकार का उच्चारण स्थान जिह्वामूल और तालु है।[6] हो सकता है किसी वैदिक विभाषा में आधुनिक ड़ की तरह ड का उच्चारण होता आया हो और वही प्राकृत विशेषतः

---

१. साहित्य दर्पण १० म परिच्छेद यमक अलकार की व्याख्या में उद्धरण।

२. द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य, सम्पद्यते स डकारो ळकार.। ऋ० प्रा० १।२१
   ल्हकारतामेति स एव चास्य ढकार सन्नूष्मणा प्रयुक्त.। ऋ० प्रा० १।२२

३. डो ल हेम० ८।१।२०२

४. लो ळः। हेम० ८।४।३०८

५. The Formation of the Maithili Language-Dr. Subhadra Jha Page-163

६. जिह्वामूल तालु चाचार्य आह, स्थान डकारस्य तु वेदमित्र.। ऋक्० प्रा० १।२१।

अपभ्रंश द्वारा आ० भा० आ० मे प्रकट हुआ हो। लेखन पद्धति मे वह बहुत काल तक ड ही बना रहा।

र :

वर्त्स्य (मूर्धन्य), नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, अन्तःस्थ वर्ण।

ऋक् प्रातिशाख्य ने र का उच्चारण स्थान दन्तमूलीय स्वीकार करके कुछ आचार्यों की सम्मति मे उसे वर्त्स्य बताया है।[1] दन्तमूल से ऊपर उभरा हुआ प्रदेश वर्त्स है।[2] पाणिनीय शिक्षा मे र का उच्चारण स्थान मूर्धा है। ऐसा प्रतीत होता है कि दन्तमूल, वर्त्स और उससे ऊपर मूर्धा इन तीनो से जिह्वाग्र के स्पर्श से विभिन्न समयो में या विभिन्न विभाषाओ मे र का उच्चारण होता रहा। अपभ्रंश मे र का उच्चारण वर्त्स्य आ० भा० आ० के आधार पर समझा जा सकता है। प्रयत्न के आधार पर र को लुण्ठित (लोडित) या उत्क्षिप्त कहा जाय यह विवादास्पद है। डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० बाबूराम सक्सेना जीभ के वेलनाकार लपेट कर या लुण्ठन कर तालु को स्पर्श करने से इसे लुण्ठित स्वीकार करते है, पर डा० कादिरी और डा० चाटुर्ज्या जीभ को लपेट कर तालु को झटके से मार उसे फिर सीधा करने से उत्पन्न ध्वनि होने के कारण "उत्क्षिप्त" मानते हैं।

आरम्भिक रूप मे अप० र म० भा० आ० र का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ० र—, जैसे, रसोइ (भ० क०) < रसवती, रइ < रति, रउद्द < रौद्र, रय < रत, रय < रव, रयणि < रजनि, रसणा < रशना, रहस < रभस, राहु < राहु, √रुव् < रुद्, < रेह < रेखा—स० रा०, रत्तिंदिउ < रात्रिंदिवम्, रणवीढ < रणपीठ, राउलय < राजकुल—प० च०

प्रा० भा० आ० ल—, जैसे करयल < कलकल, किरि < किल, स० रा०

देशी शब्द र—, जैसे, रवड = शब्द ध्वनि, रिल्लत = शोभमान, रुण-रुण = करुणा रुदित, रुद = विपुल, रुलुघुलत = निःश्वसन्, रुहरुहय = उत्कण्ठा,—भ० क०। रवड्डिया (स० रा०) कणतुषपाक।

मध्यवर्ती रूप मे म० भा० आ० र का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० आ०—र—, जैसे, कपूर < कर्पूर, भमर < भ्रमर, अवहरि < अवधार्य, अहर < अधर, उक्कर < उत्कर, ऊसारिय < उत्सारित, घुरहुरिय < घुर्घुरित, णिसायर < निशाचर—स० रा०,

देशी शब्द—र—, जैसे, ढखर, णिरु = नितराम्, थरहरिय,

---

१. सकाररेफलकाराश्च दन्तमूलीया:, रेफं वर्त्स्यमेके, ऋक् प्राति०।

२. वर्त्सः दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छून प्रदेश उच्यते।

ल :

वर्त्स्य (दन्त्य), नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक तथा अनुनासिक अन्तःस्थ वर्ण।

ऋक् प्रातिशाख्य ने इसका उच्चारण स्थान दन्तमूलीय दिया है। संस्कृत में पाणिनीय शिक्षा के अनुसार दन्त्य है। आ० भा० आ० के आधार पर अपभ्रंश में र की तरह इसका उच्चारण स्थान वर्त्स है। उच्चारण प्रयत्न की दृष्टि से यह पार्श्विक वर्ण है और इसे तरल ध्वनि कहा जाता है। मुखविवर में आती हुई श्वास वायु को मध्यरेखा पर अवरुद्ध करके जिह्वापार्श्व से निकलने दिया जाता है।

प्रारम्भिक रूप में अप० ल म० भा० आ० ल का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

आ० भा० आ० ल—, जैसे, लय<लता, लाह्<लाभ, लेह्<लेख, लोउ<लोक, —स० रा०, लित्त<लिप्त, लहुआरी<लघुतरा हिं लहुरी, लोण<लवण—म० क०

आ० भा० आ० र—, जैसे, थोर<स्थूल—म० क०

देशी शब्द ल—जैसे, लडह्=सुकुमार, लड्डुअ हिं लड्डू, लिज्जइ=आनीयते लुहइ=मार्ष्टि—म० क०

मध्यवर्ती रूप में म० भा० आ० ल का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

आ० भा० आ०—ल—, जैसे, कलस<कलश, अलिय<अलिक, अवलोइय<<अवलोकित, सलाइय<शलाका—स० रा०

आ० भा० आ०—द—, जैसे, पलित्त<प्रदीप्त—स० रा०

आ० भा० आ०—र्य—, जैसे पल्लघ (पलग)<पर्यङ्क—स० रा०

आ० भा० आ०—ड—, जैसे, पील<पीडा, पीलिय<पीडित, कील<क्रीडा, कोलइ<क्रीडति—म० क०

देशी शब्द ल—, जैसे, फोफल (स० रा०)=पूंगीफल, पुंगल (म० क०)=श्रेष्ठ

ऊष्मा

वैदिक भाषा मे प्रातिशाख्य के अनुसार आठ ऊष्मा थे—ह, श, ष, स, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय (≍क), उपध्मानीय (≍प) और अनुस्वार (ं)।

लौकिक भाषा (संस्कृत) मे प्रथम चार का ही परिगणन ऊष्मा वर्णों में किया गया। प्राकृत काल मे विशेषत: पश्चिम मे श और ष का सर्वत्र उच्चारण स ही रह गया।[1] अत ऊष्मा मे केवल दो वर्ण स और ह रह गये। मागधी में अवश्य स का उच्चारण सामान्यतया श हो जाता है।[2] षकार का उसमे भी अभाव है।

---

1. शषो स:, प्रा० प्र० २।४३ पैशाची में भी शषो: स:, हेम० ८।४।३०९।
2. रसोर्लशौ, हेम० ८।४२८८

वस्तुत. दन्त्य स की प्रधानता पश्चिम प्रवृत्ति है और तालव्य श की प्रधानता प्राच्य प्रवृत्ति । मागधी मे सयोग होने पर अवश्य स का उच्चारण बना रहता है। अतः अपभ्रश मे स और ह दो ही ऊष्मा वर्ण है। भ० क०, प० च०, स० रा०, पा० दो०, दे० ना० मे शकारादि कोई शब्द नही। की० ल० और उ० व्य० मे भी शकारादि शब्द का अभाव है, केवल कुछ सर्वथा सस्कृत तत्सम शब्दो मे उनका प्रयोग है।

मूर्धन्य ष का उच्चारण प्राच्य क्षेत्र मे ख होता रहा है। शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार आरम्भिक ष का उच्चारण ख होता है। इस शाखा के आचार्य याज्ञवल्क्य मिथिलानिवासी थे। उनकी उच्चारण-परम्परा मिथिला मे अब तक बनी है।[1]

प्राकृत मे ष्क और क्ष (क् + ष) ख मे उच्चरित होते थे, उसका भी यह सामान्यीकरण है। अस्तु लेखन पद्धति मे मथिली और मारवाडी मे "ख" का रूप ष ही है।[2] कीर्तिलता और कीर्तिपताका मे इस प्रकार के अनेक शब्द है जिनका प्रारम्भ ष से है पर वस्तुतः उन्हे ख समझना चाहिये—जैसे—षण्डिय=खण्डिय, षणे,=खणे, षराब=खराब, षोजा=खोजा इत्यादि। उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे भी षाज=खाज <खाद्यते, षेतु=खेतु<क्षेत्रम्, इसी तरह के प्रयोग हैं। यहाँ मूर्धन्य "ष" नही है। एष, एषा आदि सस्कृत के मूर्धन्य को एहो, एह रूपो मे ह हो गया है। ग्रीष्म का गिंभ रूप हो जाता है।

श्री तगारे ने तालव्य श की स्थिति मागधी की परम्परा में प्राच्य अपभ्रश मे स्वीकार की है। हमने देखा है कि १० वी शताब्दी के ग्रन्थो मे न केवल प्राच्य अपितु मध्यदेश मे भी सस्कृत तत्सम के लिए श का प्रयोग है। तद्भव शब्द के जो उदाहरण उन्होने दिये हैं वे विचारणीय हैं। राहुल साकृत्यायन द्वारा सपादित सरह दोहा कोश मे कोई शब्द शकारादि नही हैं। शत्थ सत्य है, शुन सुण्ण है, और शिहर का अभाव है। राहुल जी ने नेपाली प्रति के आधार पर अपने ग्रन्थ का सपादन किया है। सभवतः बगाली प्रतिलिपिकार के बगला प्रभाव से स को श हो गया हो।

स :

दन्त्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, ऊष्मा वर्ण है।

उच्चारण प्रत्यत्न की दृष्टि से स उत्थित पार्श्व सघर्षी ध्वनि है क्योकि जीभ के आगे के दोनो किनारे उठे रहते है और दन्त के साथ श्वास वायु सघर्षण

---

१. अथो मूर्धन्योष्मणो, सयुक्तस्य खकारोच्चारणम्—प्रतिज्ञासूत्र, परिशिष्ट २. ७.डा० सुभद्र झा के अनुसार उद्धरण।

२. ग्रियर्सन ने मैथिली डाइलेक्ट में लिखा है कि "ष" जब किसी व्यजन से सयुक्त न होकर अलग लिखा जायगा तो उसका उच्चारण "ख" होगा, षष्ठ का उच्चारण मैथिली में सर्वत्र खष्ट ही होता है यह सार्वजनिक है। साधारण पढ़ा लिखा भी लिखता है "ष" लेकिन उच्चारण "ख" ही करता है। (कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा—शिवप्रसाद सिंह पृ० ८७)।

करके मुखविवर से बाहर निकल जाती है। श, ष, स सभी संघर्षी वर्ण हैं, इनमे से प्रयत्नलाघव और श्रुतिसुख के कारण दन्त्य स ही अवशिष्ट रह गया। प्रातिशाख्य ने स का उच्चारण स्थान दन्तमूलीय दिया था। प्रा० भा० प्रा० मे स वर्त्स्योन्मुख है। अपभ्रंश मे भी कुछ ऐसी ही स्थिति है।

आरम्भवर्ती रूप मे अप० स म० भा० प्रा० स का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० प्रा० स—, सूइ<सूक्ति, सयड<शकट, सक्कय<संस्कृत, सणेह्<स्नेह, समउ<समय, साव<सर्व, सइ<सती—प० च०।

प्रा० भा० प्रा० श—, जैसे, सक्कर<शर्करा, सकल<शृखला, सख<शख सणि< शनि, सन्तिहर<शान्तिगृह, सल्ल<शल्य, सवर<शवर, सीय<शीत, सूयर<शूकर, सइ<शची, —प० च०, सोह्<शोभा, सोवन्न<सौवर्ण —भ० क०।

प्रा० भा० प्रा० ष—, जैसे, सज्ज<षड्ज—प० च०। सोलह्<षोडश—भ० क०, विसअ<विषय, दोस<दोष, विसेस<विशेष, तुस<तुष, —दो० को०

प्रा० भा० प्रा० स्र—, जैसे, सुत्त<स्रोतस्—भ० क०

प्रा० भा० प्रा० स्व—, जैसे, सग्ग<स्वर्ग, सस<स्वसृ, सिविणिय<स्वप्न, सोवण<स्वप्न,, —प० च०, सएस<स्वदेश,

प्रा० भा० प्रा० श्र—, सम<श्रम, सवण<श्रमण, सिरु, सिरि<श्री, —प० च०, सुत्त<श्रोत्र, —भ० क०, सद्दहण<श्रद्दधान—भ० क०,

प्रा० भा० प्रा श्य—, जैसे, सालय<श्यालक—प० च०, साम (भ०क०)<श्याम,

प्रा० भा० प्रा० श्व—, जैसे, आसवार—भ० क०<अश्ववार, सासुअ<श्वश्रू, सासुरय<*श्वाशुरक=श्वशुरालय—प० च०, साण (भ० क०)<श्वन्, महेसुर<महेश्वर, असास<आश्वास—दो० को०।

प्रा० भा० प्रा० श्ल—, जैसे, सिलीसइ<श्लिष्यति—भ० क० सलहइ<श्लाघते,

देशी शब्द स—, जैसे साहुल=ध्वजा—प० च०, सइत्त=मुदित (दे० ना० ८।५) सच्चविय=अभिप्रेत (दे० ना० ८।१७) सवेडय=सीमा—(देशी ८।७), समसमइ=हि सिमसिमाता, समाइण=भुंक्ते—(हेम० ४।११०), =समाप्यते (हेम० ८।४।१४२), सवडम्मुह=अभिमुख (दे० ना० ८।२१), सीसइ=कथयति (हेम० ८।४।२)।

मध्यवर्ती रूप मे अप० स म० भा० प्रा० स का अनुगमन करता है जिसमे प्रतिनिहित है—

प्रा० भा० प्रा०—श—, जैसे, तीस<त्रिंशत्, रासि<राशि, रसणा<रशना, विणासण<विनाशन—भ० क०,

प्रा० भा० प्रा०—ष—, जैसे, रोसिय<रोषित, रोस<रोष—भ० क०, ओसह< औषध, वेस<वेष, —भ० क०।

प्रा० भा० आ०—स—, जसे, वासण<वासन, वसुमइ<वसुमती, वसुहू<वसुधा, वासहर<वासगृह—म० क०

प्रा० भा० आ०—स्य—, जैसे, आलसि<आलस्य—स० रा० ।

प्रा० भा० आ०—स्व—, जैसे, गोसांवि<गोस्वामी—उ० व्य० ।

प्रा० भा० आ०—श्य—, जैसे, वेस<वेश्या, वेसत्त<वैश्यत्व—भ० क० ।

प्रा० भा० आ०—श्र—, जैसे, सासुअ<श्वश्रू—प० च० ।

प्रा० भा० आ०—र्श्व—, जैसे, पास<पार्श्व—भ० क०

प्रा० भा० आ०—र्ष—, जैसे वरिस<वर्ष, वरिसइ<वर्षंति—भ० क० सीस<शीर्ष—स० रा० ।

हू :

कण्ठ्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, ऊष्म वर्ण ।

प्रातिशाख्य ने हकार को कण्ठ्य या उरस्य बताया है । सभवत वैदिक काल मे स्वरयत्रमुख या काकल मे आकर ह् का उच्चारण आरम्भ हो जाता होगा, पर सस्कृत काल मे यह धीरे धीरे ऊपर खिसक कर कण्ठ से उच्चरित होने लगा ।[1] प्राकृत और अपभ्रश मे वही स्थिति रही । भाषा मे प्राणत्व या श्वास बल के आधिक्य की दृष्टि से वर्ण महाप्राण होते हैं अन्यथा अल्पप्राण । ह शुद्ध प्राणध्वनि तुल्य है और महाप्राण वर्णों की उच्चारण समाप्ति उसी मे होती हुई प्रतीत होती है । यही कारण है कि पाँचो स्पर्श वर्णों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण हकारयुक्त से लगते है । इसी का परिणाम है कि प्राकृत और तदनुगामी अपभ्रंश मे मुखसौकर्यार्थ उच्चारण शिथिलता आते ही ख, घ, थ, ध और भ "ह्" मे परिणत हो जाते हैं । मेखला का मेहला, मेघ का मेह, गाथा का गाहा, बधिर का बहिरा, वृषभ का वसहा उच्चारण होने लगा । फ पर भी इसका प्रभाव पडा, मुक्ताफल को मोत्ताहल (प० सि० च०) कहा जाने लगा । इसका तात्पर्य यह नही कि ख=क्+ह, घ=ग्+ह, इत्यादि समान शुद्ध व्यजन न रहकर सयुक्त व्यजन हो जाते हैं ।

महाप्राण वर्णो का स्पष्ट उच्चारण शब्द के आदि मे और सयोग मे मिलता है और वह भी एक झटके मे होता है अतः वे शुद्ध व्यजन हैं । अनादि और असयोगावस्था मे महाप्राण वर्ण के पूर्व भाग के उच्चारण मे शैथिल्य होने से वह श्रवण का विषय नही बनता और अन्तिम प्राणध्वनि या ऊष्म ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है । परन्तु इन दोनो प्रकार के हकार के उच्चारण और श्रवण मे पार्थक्य न

१. महेश्वर सूत्रों में स्वर समाप्ति पर एकबार ह और पुन. व्यजन समाप्ति पर दूसरी बार ह का पाठ किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्ध प्राणध्वनि "ह्" का, जो श्वास वायु के अनवरोध से स्वरों के अधिक समीप है, व्यंजनों में महाप्राणता देती है और हश्रुति का काम करती है, प्रथम पाठ है । द्वितीय पाठ शुद्ध व्यजनात्मक ह ध्वनि का है जो सघर्षी है । कुछ विद्वानों की सम्मति में ह घोष और अघोष दोनों है अतः उसका दो बा पाठ है ।

रहने से एकाकारता आ जाती है और दोनों एक ही वर्ण अर्थात् ह कहलाते हैं। यह संघर्षी ध्वनि है।

आरम्भिक रूप मे अप० ह म० भा० आ० ह का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

आ० भा० आ ह—, जैसे, हउ<अहकम् हय<हत, हत्थिहट<हस्तिघटा, हरिसिय<हर्षित, हाणि<हानि, प० च०, हिग्रहि<हृदये—दो० को०,

आ० भा० आ० भ—, जैसे √हो<भू, हूय<भूत—सं० रा०। होइ<भवति —(भ० क०)

आ० भा० आ० ध—, जैसे, हेट्ठिय<अवस्तन, हेट्ठमुह (भ० क०)<अधोमुख —प० च०

आ० भा० आ० फ—, जैसे हुल्ल (भ० क०)<फुल्ल हिं० फूल—प० च०

आ० भा० आ० स—, जैसे, न्हाइ<स्नाति, —दो० को०,

आ० भा० आ० स्फ—, जैसे, हुड<स्फुट—दो० को०

देशी अथवा अनुकरणमूलक शब्द ह—, जैसे होउहोड—हस्ति चीत्कार, —प० च०, हक्करिय=आकारित, हिलहिल—अश्व शब्द, हट=आपण हिं० हाट, हत्थावार=साहाय्य (दे० ना० ८।६०), हत्थियार=शस्त्र, हल्लिय=चलित,—(दे० ना० ८।६२) हुत्त=अभिमुख, हेडा=मांस (की० ल०)

विदशी शब्द ह—, जैसे, हजारी, हुकुम=हुक्म, हचड़=रौंदना—की० ल०

मध्यवर्त्ती रूप मे अप० ह म० भा० आ० ह का अनुगमन करता है जिसमें प्रतिनिहित है—

आ० भा० आ०—ह—, जैसे, सहसक्ख<सहस्राक्ष, सहियरी<सहचरी, सहिय<सहित, पिहिय<पिहित, कडाह<कटाह—भ० क०

आ० भा० आ०—क—, जैसे, चिहुर<चिकुर—भ० क०

आ० भा० आ०—ख—, जैसे, सहि<सखी, विलिहइ<विलिखति, लीह<रेखा —भ० क०

आ० भा० आ०—घ—, जैसे, विहाय<विघात, विहट्टइ<विघट्टयति, लहु<लघु —भ० क०

आ० भा० आ०—थ—, जैसे, महिय<मथित, पिहु<पृथु, पुहइ<पृथिवी —भ० क०

आ० भा० आ०—ध—, जैसे, दहि<दधि, महुर<मधुर, महु<मधु, अहिराय<अधिराज, अहिवाल<अधिपाल—भ० क० अवुह<अवुध—सं० रा०।

आ० भा० आ०—फ—, जैसे, कटहल<कण्टकीफल

आ० भा० आ०—भ—, जैसे, सहाव<स्वभाव, सह<सभा, अहिवायण<अभिवादन

—भ० क०, सोह <शोभा, परिहव <परिभव, —स० रा०, कान्हा <करश: दो० को०

प्रा० भा० आ०—म्भ—, जैसे, गहिर <गम्भीर—भ० क०

प्रा० भा० आ०—य—, जैसे, छाह <छाया—भ० क०

प्रा० भा० आ०—श—, जैसे, दह <दश, सोलह <षोडश—भ० क०

प्रा० भा० आ०—ष्प—, जैसे, वाह <वाष्प—भ० क०

प्रा० भा० आ०—स—, जैसे, सनेह <सदेस <सदेश, वरिहण <वरिसण <वर्षण, —स० रा०, दियह <दिवस—भ० क० ।

प्रा० भा० आ०—स्व—, जैसे, पेक्खह <प्रेक्षस्व—दो० को० स० ।

अशोककालीन शिलालेखो तथा अन्य प्राकृत लेखो में, श और स की ह मे परिणति न देखकर कुछ विचारको ने यह धारणा बनाई है कि यह विकार उत्तर-कालीन है, विशेषत प्राच्य क्षेत्र मे । ब्लाक महोदय उत्तर पश्चिमी क्षेत्र की विभाषाओ मे ऊष्म वर्णों की हकार मे परिणति अपेक्षाकृत अधिक पाते हैं । वस्तुत. भारत-ईरानी वर्ग मे स को ह बहुत प्राचीन काल से हो गया था । वैदिक असुर (असु+र=प्राणशक्तियुक्त) जन्द अवस्ता मे अहुर होकर देव बन चुका था, उनका देवता अहुर मज्दा <असुरमेधा: है । अवस्ता मे हावनीम् <सावने, हओम <सोम, अही <अस्ति इत्यादि अनेक उदाहरण है ।[1] वही प्रवृत्ति पश्चिम से आने वाले आभीर आदि के साथ और पीछे मुसलमान आक्रान्ताओ के साथ भारत में आई और परिणामत: अपभ्रंशभाषा मे स का ह मे परिवर्तन केवल सख्यावाची शब्दो या अन्य शब्दो मे ही नही अपितु शब्दरूप और धातु रूप के निर्णायक प्रत्ययो मे भी समाविष्ट हो गया । द्वादशी=बारस=बारहवाँ, बारह <द्वादश—भ० क० । सिन्ध का हिन्द और सप्ताह का हफ्ता बाद का फारसी प्रभाव है जो सातवी सदी में सिन्ध प्रदेश मे आ चुका था । ग्रियर्सन का यह सुझाव कि आर्यभाषा के असयुक्त स और श सर्वदा कण्ठ्य सघर्षी ध्वनि क्ष मे परिणत हो जाते थे और तदनन्तर उत्तरी पश्चिमी विभाषा मे ह मे विकृत हो जाते थे बहुत महत्वपूर्ण नही रहता । प्राच्य क्षेत्र के सरह दोहा कोश मे √न्हा <स्ना, अम्हा <अस्मा, हुड <स्फुट, पेक्खह <प्रेक्षस्व, मे स को ह किया गया है और सर्वत्र सयुक्त व्यजन है जहाँ स के क्ष होने की भी सभावना नही ।

अपभ्रश प्रत्ययो मे स को ह मे बदलने के निम्न उदाहरण है :—

अकारान्त प्रातिपदिको से पचमी एकवचन अस् (ङसि) को हे और हु, षष्ठी

---

१. ग्रीक भाषा में भी स ह है, जैसे सस्कृत सः और सा हो और हे हैं 'On the Formation of the Indo-European Demonstrative' by George S. Lane; Language (Journal of the Linguistic Society of America)—Oct, 1951. ग्रीक आक्रान्ता भी भारतवर्ष आते रहे है—और उनके क्षत्रप पंजाब में रहे हैं ।

एकवचन अस् (ङस्) को हो या ह सप्तमी बहुवचन सुप् को हिं, सर्वादि से ङस् को हाँ, स्त्रीलिंग यत्, किम् आदि से ङस् को अहे (ङहे), धातुओं के साथ वर्तमान मध्यम पुरुष ए० व० सि को हि, उत्तम पुरुष व० व० मस् को हुँ, भविष्य काल में स को ह।

अपभ्रंश के शब्द रूप और धातुरूप मे ह, ह, हि, हिं, हु, हुँ, हे, हो प्रत्ययों का आधिक्य हकार को अपभ्रंश में विशेष महत्व प्रदान करता है। यह विचारणीय है कि प्राकृत प्रत्ययों के इस रूप मे बदलने में आभीरों की गौ आदि के चराने में, पुकारने मे, भावाभिव्यजन करने मे प्रयुक्त हो-, हा आदि का कितना हाथ है और कितना स्वाभाविक विकास का। (विशेष विवेचन रूपविज्ञान मे।

व्यंजन परिवर्त्तन :

अपभ्रंश भाषा मे प्रयुक्त व्यजनों की उपर्युक्त समीक्षा से निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. प्रा० भा० आ० के आरम्भवर्त्ती व्यजन प्राकृत के द्वारा अपभ्रंश में पूर्णत सुरक्षित रहे, केवल न, य, श और ष का स्वरूप क्रमशः ण, ज और स उच्चारण हो जाने से तिरोहित हो गया।

२ प्रा० भा० आ० के मध्यवर्त्ती अल्पप्राण निरनुनासिक स्पर्श वर्णों का प्राकृत मे उच्चारणक्षीणता और श्रवणास्पष्टता के कारण प्राय लोप हो गया। महाप्राण वर्ण प्राणध्वनि की प्रबलता और स्पष्टता के कारण ह मे परिणत हो गये। अपभ्रंश मे भी यही स्थिति रही। परन्तु एक नवीन विशेषता हुई अघोष वर्णों के घोषीकरण की। स्वर मध्यवर्त्ती स्पर्श कही अपरिवर्त्तित, कही घोषीकृत और कहीं द्वित्व होकर अपभ्रंश मे बचे रह गये।[1]

३. प्रा० भा० आ० के अन्तिम व्यजन प्राकृतकाल मे ही लुप्त हो गये या स्वरान्त हो गये। अपभ्रंश मे भी वही स्थिति रही।

४. प्रा० भा० आ० के सयुक्त व्यजन समीकरण पद्धति से प्राकृत मे द्वित्व मे परिणत होकर

(क) या तो अपभ्रंश में उसी द्वित्व रूप मे रह गये।

(ख) या अपभ्रंश मे एक व्यजन बन गये परन्तु पूर्व स्वर मे क्षति-पूर्त्यर्थ दीर्घीकरण हो गया। यह प्रवृत्ति आ० भा० आ० तक निरन्तर बढ़ती गई।

५. प्रा० भा० आ० के सयुक्त अनुनासिक या नासिक्यवर्ण अनुस्वार मे परिणत हो गये।

ध्वनि परिवर्त्तन की सामान्य दिशा ध्वनि विकार के सामान्य नियमों पर

१ पउमचरिउ, डा० भायाणी की भूमिका पृ० ५७.

आश्रित है। आकस्मिक या स्वयंभू परिवर्त्तन भी भाषाप्रवाह में होते रहे हैं, जैसे—आकस्मिक अनुनासिकीकरण। वह परिवर्त्तन निम्न है :—

१. लोप—

आदिव्यंजनलोप—जैसे, थवइ<स्थपति, थामु<स्थानम्,<थण<स्तन, थान< स्थान, मसाण<श्मशान, कधा<स्कन्ध आदि।

मध्यव्यंजन लोप—जैसे, मिग्रलोअणि<मृगलोचनी, णिसिअरु<निशाकर., दइआ< दयिता, रहिओ<रहित', गअवरु<गजवरो, परहुअ<परभृत, पिअ-कारिणी<प्रियकारिणी—विक्र०; कोइल<कोकिल, चक्कइत्ति< चक्रवर्त्तिन्=प० च०

स्वर मध्यवर्त्ती प्रधान या गौण व का प्राय: लोप

१. प्रत्यय के अन्तिम अक्षर मे इ या ए के पूर्व—सरलाइवि<सरलाविवि (सरलाव=*सरलापय),मनाएवि<मनावेवि, चाइयइ, चडाइयइ, लाइयइ, सुहाइयइ इत्यादि—स० रा०

२. अन्त्य उ या मध्यवर्त्ती उ और ओ से पूर्व—रउ<रवु<रव', सताउ< सत्तावु<सतापः, जीउ<जीवः, तिउर<*तिवुर<त्रिपुर, कओल<कवोल< कपोल।

३. अ से पूर्व—तिहुयण<त्रिभुवन, धुय<ध्रुव, णिअत्तय<णिवत्तय<निवृत्त,

अन्त्य व्यंजन लोप—अल्प प्रयोग है। जैसे, पच्छा<पश्चात्, जाव<यावत्, सम्मं<सम्यक्।

अक्षर लोप मे आदि अक्षर लोप—झा<उपाध्याय,

मध्याक्षर लोप—एमाइ<एवमादि—भ० क० अड्ढाइय<अर्धतृतीय—भ० क० कनमेरु<कनकमेरु—उ० व्य०, एमेव<एवमेव—भ० क०, आलत्त< आलपित—भ० क०, पचुंवर<पचोदुम्बुर (भ० क०), गलत्थइ< गलहस्तयति (भ० क०) पब्भार<प्राग्भार (प० सि० च०) पालोत्ति< पादलूतिका (प० सि० च०)

अन्त्याक्षर लोप—प्राय: नही के बराबर है। स्वार्थ क प्रत्यय का लोप आ० भा० आ० मे हो जाता है। जैसे, मोती<मौक्तिक, दीवा<दीपवर्तिका आदि मे है। अपभ्रंश मे मुत्तिय या मुक्तिअ रूप ही रह जाता है।

ब्लूम फील्ड ने समाक्षर लोप (Haplology) नामक एक और अक्षर लोप का भेद प्रदर्शित किया है जिसमे एक सी दो ध्वनियो मे से एक का लोप हो जाता है। जैसे, उवसिज्जइ<उववसिज्जइ<उप+वस्—य—ते—भ० क० ओझा<

उपाध्याय—उ० व्य०, पत्ताण<प्रत्यायन—म० क०, पत्तियइ<प्रत्यायति—म० क० ।

२. आगम—

(क) आदि व्यंजनागम—संभावना कम रहती है, क्योंकि नये व्यंजन के आगम से मुखसौकर्य या प्रयत्नलाघव की सुविधा उपपन्न नहीं होती । प्राणध्वनि तुल्य ह् और य का पुरोगान कभी-कभी उपलब्ध होता है । व का पुरोगान अपभ्रंश मे अप्राप्त है । उदाहरण—हब्भास (दो० को०)<अभ्यास, हंदिय<ईदृश, येव्व<एव्व ।

(ख) मध्य व्यंजनागम—धाहाविय<धाविय<धापित—भ० क०, छन्दोनुरोध कारण है "कर उब्भेवि धाहाविअ भणइ" । तत्तक्खण<तत्क्षण—सं० रा०

(ग) अन्त्य व्यंजनागम—म० भा० आ० मे अन्त्य व्यंजन के लोप की प्रवृत्ति है अत व्यंजनागम का प्रश्न ही नहीं उठता ।

३. विपर्यय (व्यत्यय)—

जैसे, बाम्हन<ब्राह्मण, गिम्भ<ग्रीष्म, द्रह<ह्रद (हेम०), दीहर<दीर्घ—प०सि०च०

४. समीकरण—

प्राकृत और अपभ्रंश में पुरोगामी और पश्चगामी उभयविध समीकरण का प्रचुर उपयोग है । जैसे—चक्क<चक्र, बग्घ<व्याघ्र, पप्पड<पर्पट, परिक्ख<परीक्षा, दुत्तर<दुस्तर आदि । (देखिये व्यंजन)

५. घोषीकरण—

हेमचन्द्र ने अपभ्रंश मे अनादि स्वरानन्तर असंयुक्त क, ख, त, थ, प, और फ को क्रमश: ग, घ, द, ध, ब और भ में प्रायः परिणत होता बताया है ।[1] पहले ६ स्पर्शवर्ण अघोष हैं और ध्वनि की आतरिक मुखरता के आधार पर निर्णीत ८ वर्गों में सबसे न्यून मुखर हैं क्योंकि स्वर-तन्त्रियों के अपेक्षाकृत दूर रहने से कम कम्पन होता है । उन ध्वनियो को मुखर बनाने के लिये स्वर-तन्त्रियो को समीप लाकर कम्पन वृद्धि करनी पड़ती है और यही घोषीकरण है ।

आकर>आगर, उपकार>उपगार, काक>काग, पाक>पाग, सकल>सगल आदि (देखिये "ग" वर्ण), क से ग होने की प्रवृत्ति पर्याप्त है ।

सुख>सुघ, (देखिये—घवर्ण), ख से घ होने की प्रवृत्ति स्वल्प है ।

कथित>कधिद, जीवित>जीविद (हेम०)

शपथ>सबध, पद>बय (हेम०)

---

१. अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क—ख—त—थ—प—फां ग—घ—द—ध—ब—भाः, हेम० ४।३९६ ।

सफल > सभल (हेम०)

वस्तुतः यह घोषीकरण भी अल्पप्राण अघोष वर्णों में ही प्रायः प्रयुक्त पाया जाता है। महाप्राण वर्ण तो प्रायः हकार में परिणत हो जाते हैं। अतएव पिशल को इस घोषीकरण नियम के विषय में कहना पड़ा—"यह अन्य अनेक नियमों और उदाहरणों के विरुद्ध जाता है।[1] घोषीकरण के विपरीत अघोषीकरण होता है जो पैशाची प्राकृत में उपलब्ध होता है। उसमें नगर > नकर, गगन > गकन, वारिद > वारित, मेघ > मेख हो जाता है। अपभ्रंश में इसका अभाव है।

६. अनुनासिकीकरण—

स्वर प्रकरण में इसे स्पष्ट किया जा चुका है।

७. महाप्राणीकरण—

अल्पप्राण ध्वनियों को महाप्राण करने पर। जैसे फंसइ < स्पृशति, फरसु < परशु, फाट < स्फाट <, पोत्थय < पुस्तक, ण्हाइ < स्नाति पच्छिम < पश्चिम आदि—म० क०। इसके विपरीत अल्पप्राणीकरण है। अपभ्रंश में इसका प्रयोग नहीं।

संयुक्त व्यंजन

प्राकृत भाषा में संयुक्त व्यंजनों की जो स्थिति हो गई थी प्राय. वही अपभ्रंश में भी प्रचलित रही। अपभ्रंश में इनकी संख्या २७ है, यदि दन्त्य नकार से संपन्न संयुक्ताक्षरों को भी मिला लिया जाय तो २७+४=३१ है। यह संख्या आ० भा० आ० हिन्दी में १६८ है। संस्कृत में तो यह संख्या और भी अधिक है। उसमें तो तीन चार तक भी संयुक्तवर्ण हो सकते हैं। संयुक्त व्यंजनों में पूर्ववर्ती क, ग, ड, त, द, प, ष और स का (प्रा० प्र० ३।१) तथा उत्तरवर्ती म, न, और य का (३।२) ल, व, और र का सर्वत्र लोप हो जाता है (प्रा०प्र०३।३)। अत. संस्कृत में प्रयुक्त उस प्रकार के संयुक्त व्यंजन म० भा० आ० में उपलब्ध न होंगे। समीकरण ने असवर्ण संयुक्ताक्षरों को पूरी तरह समाप्त कर दिया। केवल अल्पप्राण वर्ण ही द्वित्व होकर रहते हैं या अल्पप्राण स्पर्श वर्ण उत्तरवर्ती महाप्राण के साथ संयुक्त रह पाते हैं। अनुनासिक ण, न, और म का का द्वित्व हो जाता है। कैलॉग ने अपने हिन्दी भाषा के व्याकरण (Grammar of the Hindi Language) में हिन्दी में प्रयुक्त १६८ हिन्दी संयुक्ताक्षरों की एक सूची पृष्ठ ७ पर दी है। उसमें संस्कृत तत्सम के कारण अनेक ऐसे संयुक्त वर्ण भी समाविष्ट हैं जो अपभ्रंश में नहीं है। अपभ्रंश में मुख्यत निम्न संयुक्त वर्ण उपलब्ध होते हैं :—

प्रबल संयुक्त वर्ण—

क्क, क्ख, च्च, च्छ, ज्ज, ज्झ, ट्ट, ट्ठ, ड्ढ, त्त, त्थ, द्द, द्ध, प्प, प्फ, ब्ब, ब्भ, म्म,

---

१. प्रा० भा० व्या०—पिशल अनु० ८८, पृष्ठ ५७

गौण संयुक्त वर्ण—ण्ण, न्न, न्ह, म्म, म्ह, ल्ल, ल्ह व्व, स्स, ।
मिश्र संयुक्त वर्ण—न्त, न्य, न्द, न्ध—इनमे भी अनुस्वार की प्रवृत्ति है ।

व्यंजन वर्णों के विवेचन मे संयुक्ताक्षरो के विकारों का स्पष्टीकरण हो चुका है । कुछ विशिष्ट संयुक्ताक्षरो पर नीचे विचार किया जाता है ।

म्ह—अपभ्रंश मे म्ह का उच्चारण म्भ भी होता है (हेम० ४।४।२) । प्राकृत मे क्ष्म, श्म, ष्म, स्म का उच्चारण म्ह हो गया था । (हेम० २।७४) गिम्भ < गिम्ह < ग्रीष्म, बम्भ < बम्ह < ब्रह्म—हेम० ८।४।४१२

क्ष—प्राकृत मे क्ष का ख उच्चारण हो गया था (प्रा० प्र० ३।२९) । कुछ शब्दों मे क्ष को छ करने की प्रवृत्ति भी थी । उनके लिये वररुचि ने अक्ष्यादि गण का निर्माण कर उसमे क्ष का छ विधान किया (प्रा० प्र० ३।३०) । जैसे—खदो < क्षतः, जक्खो < यक्ष और अच्छी < अक्षि, लच्छी < लक्ष्मी इत्यादि ।

अपभ्रंश मे भी क्ष=ख प्रधान विकार रहा और क्ष=छ गौण विकार । श्री तगारे ने देश और काल का विवेचन कर निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है जो मुख्यतः निम्न रूप मे हैं—

१. प्राच्य अप० मे आरम्भवर्त्ती या अनारम्भवर्त्ती क्ष निरपवाद रूप मे ख या क्ख मे परिणत होता है ।

२. पश्चिमी अपभ्रंश मे ६०० ई० पू० तक क्ष > ख निरपवाद ही रहा । यही प्रवृत्ति प्रधानतः बाद मे भी रही । अच्छी और वच्छ जैसे कुछ प्रयोग, यदि द० अप० से ऋण शब्द न हो तो, क्ष > छ की नई प्रवृत्ति लक्षित करते हैं । स्वरान्तःवर्त्ती क्ष > छ प्रवृत्ति १०वी सदी तक कुछ और बढ गई । ११वीं और १२वीं में भी वैसी ही स्थिति रही । प्रधानता क्ष > ख की रही ।

३. द० अप० मे स्थिति मिश्रित है जो १० वी सदी से ही प्रारम्भ हो जाती है । दक्षिणी और पश्चिमी अपभ्रंश मे क्ष > ख और क्ष > छ रूप मिश्रित होते भी यह कहा जा सकता है कि "जैसे प० अप० मुख्यतः क्ष > ख बोली पर आश्रित है वैसे ही कहा जा सकता है कि द० अप० कुछ अंश तक क्ष > छ बोली पर आश्रित है ।" क्ष > झ, रूप दक्षिण अपभ्रंश का प्राकृतानुरूप है ।

इन निष्कर्षों की मीमांसा करने पर कोई विशेष तथ्य हाथ नही लगता ।

१. प्रथम निष्कर्ष भ्रान्त है क्योंकि प्राच्य अप० के दोहाकोश, कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका में क्ष > छ के निम्न उदाहरण हैं—छारे < क्षारेण (दो० को० स० राहुल संस्करण दोहा ३), अछै < *अक्षति (की० ल० ३।१२९), लच्छी < लक्ष्मी (की० ल० २ ७८) । कीर्त्तिलता मे संस्कृत तत्समाभास लक्षि < लक्ष्मी (२।७५) पाठ भी है पर लक्खी नही है ।

यह ध्यान रखना चाहिये कि क्षार और लक्ष्मी अक्ष्यादिगण मे भामह ने परिगणित किये हैं । अशोक के शिलालेख (२) के व्रछा च रोपापिता, वाक्य में

अछा—वृक्षाः यह स्पष्ट करता है कि प्राच्य क्षेत्र में ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व में क्ष को छ भी बोला जा सकता था।

२. दूसरा निष्कर्ष भी अयुक्तियुक्त है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय (४।२९) में विच्छोइयो<विक्षोदितकः या<विक्षोभितकः मे स्पष्ट क्ष>छ उदाहरण है। अक्ष्यादिगण मे क्षुब्ध पाठ परिगणित है।

इसी तरह विक्र० मे झीणगई<क्षीणगति. (४।१४) पाठ भी है जहाँ क्ष>झ है जिसे तगारे ने द० अप० की विशेषता माना है। पाहुड दोहा भी निरपवाद नही। अच्छइ और अच्छेमि जैसे—चार प्रयोगो मे √अच्छ का मूल आ+क्षि डा० हीरालाल जैन ने स्वीकार किया है। पा० दो० मे अन्य अक्ष्यादिगण का कोई शब्द ही प्रयुक्त नही अत. अभाव से कोई भावात्मक निष्कर्ष नही निकल सकता।

वस्तुतः सर्वथा उत्तर-पश्चिम का अपभ्रंश ग्रन्थ संदेशरासक है। इसमे आरम्भवर्त्ती क्ष>छ छण<क्षण (१९६), छय<क्षत (१३७), छार<क्षार, (१२०) और छित<क्षिप्त (४७) इन चार प्रयोगो मे है।

अनारम्भवर्त्ती क्ष>छ लच्छि<लक्ष्मी (२०५), अच्छि<अक्षि (२०७, २२३), उछित्तु<उत्क्षिप्त (१२०), सरिच्छ<सदृक्ष (१३३) इत्यादि प्रयोग हैं।

भविसयत्त कहा मे भी लच्छि<लक्ष्मी और उच्छु<इक्षु जैसे प्रयोग हैं।

सनत्कुमार चरित का छुरिय<क्षुरित उदाहरण स्पष्टतः अक्ष्यादिगण का है।

३. पहले तो पुष्पदन्त आदि की कृति को दक्षिणी अपभ्रंश समझना ही प्रबल प्रमाणो से शून्य है। वस्तुत. पश्चिमी अपभ्रंश की सभी प्रवृत्तियाँ उन कृतियो मे हैं। फिर मिश्रित कह कर भी क्ष>छ प्रवृत्ति को प्रबल मान बठना निराधार है। स्वयं श्री तगारे ने स्वीकार किया है कि पिंगल ३१८—२१ में क्ष>ख, क्ष>छ सम्बन्धी स्थिति स्पष्ट नही कर पाये हैं।

अतः क्ष>ख और क्ष>छ के विषय में सर्वप्रथम निर्दिष्ट मन्तव्य अर्थात् प्राकृत का अनुकरण ही अपभ्रंश मे हुआ है, ग्राह्य होना चाहिये।

तृतीय खण्ड

रूपविज्ञान

प्रथम अध्याय

संज्ञा

व्यवहितिप्रधानता

अपभ्रंश भाषा ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत से बहुत दूर नही है। प्रायः वर्णोच्चारण शिक्षा, ध्वनि विकार और तद्भव शब्दो के उपयोग मे जो प्राकृत भाषा की विशेषतायें हैं वे अपभ्रंश मे अक्षुण्ण बनी हैं। रूपविज्ञान के क्षेत्र में वस्तुतः अपभ्रंश अपना पृथक् अस्तित्व बना लेती है। शब्दो और धातुओ की रूपावली में स्पष्ट भेद परिलक्षित होता है। सस्कृत की तरह प्राकृत भी विभक्तिप्रधान और संहितिप्रधान रही। अपभ्रंश ने विभक्तिप्रधानता को छोड़ा तो नही पर विभक्तिप्रयोग मे शिथिलता कर दी, साथ ही वह व्यवहितिप्रधानता की ओर स्पष्टतः अग्रसर हो चली। प्रा० भा आ० के साथ तुलना करने पर यह अनायास प्रतीत हो जाता है कि अपभ्रंश मे जो निर्विभक्तिक शब्दो और परसर्गों के प्रयोग की प्रक्रिया चली, अनेकविध रूपो के स्थान पर कुछ निर्दिष्ट रूपो की परम्परा चली, वह उत्तरोत्तर बढती ही गई। आ० भा० आ० सर्वथा व्यवहितिप्रधान हो गई है।

पदविभाग

उच्चारण प्रक्रिया को स्पष्टतः अवगत करने के लिये ध्वनि की इकाई के रूप मे वर्ण को स्वीकृत किया गया जो ध्वनिविज्ञान का विषय है। सार्थक वर्ण समुदाय को पद कहते हैं। पद-रचना या पदरूपो का शास्त्रीय विवेचन ही रूप विज्ञान का विषय है। निरुक्तकार यास्क ने पदसमूह के चार विभाग किये हैं १. नाम, २ आख्यात, ३. उपसर्ग, ४. निपात।[1] सत्वप्रधान अर्थात् द्रव्यप्रधान नाम

---

१. तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि—नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च।
भावप्रधानमाख्यातम्, सत्वप्रधानि नामानि। निरुक्त-यास्क १।१।८
क्रियाप्रधानमाख्यातम्—व्याकरण महाभाष्य।
क्रियावाचकमाख्यात लिंगतो न विशिष्यते
अनत्र पुरुषान् विधारकालतस्तु विशिष्यते ॥
शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्य प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्त नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवय प्राहुर्भेदे वचनलिंगयो ॥ दुर्गाचार्य की वृत्ति से
क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्
सत्वाभिधायक नाम निपात. पादपूरणः ॥ दुर्गवृत्ति १, ५०

है। भावप्रधान अर्थात् क्रियाप्रधान आख्यात है। अर्थद्योतक उपसर्ग हैं तथा अनेकार्थ-सपाती और पदपूरक निपात होते हैं।[1] नाम मे सज्ञा, सर्वनाम और विशेषण का अन्तर्भाव है। आख्यात मे धातु और क्रिया के समस्त रूपो का समावेश है। उपसर्ग और निपात का विचार व्यापक अव्यय मे निहित है। इसी पदविभाग के अनुसार रूपप्रक्रिया की मीमासा की जा रही है।

शब्दरूपावली : शब्दप्रकृति

'नापद शास्त्रे प्रयुञ्जीत' इस नियम के अनुसार सस्कृत मे प्रातिपदिक और धातु का स्वतन्त्र प्रयोग सभव ही नही। निर्विभक्तिक शब्द भाषा का अग ही नहीं बन सकता। पद का लक्षण ही सुबन्त या तिडन्त होता है।[2] जहाँ इन विभक्तियों का कोई लक्षण भी उपस्थित नही वहाँ भी विभक्तियो का लोप प्रदर्शित कर शब्दो को विभक्त्यन्त सिद्ध कर दिया गया है जैसे अव्ययो को।[3] प्राकृत वैयाकरण भी इसी पद्धति का आश्रय लेते रहे हैं। अपभ्रश मे विभक्तियो के न्यून करने की प्रवृत्ति, जो प्राकृत मे ही प्रारम्भ हो चुकी था, बनी तो है ही पर साथ मे उनके क्षरण की प्रवृत्ति भी लक्षित हो उठती है।

प्राकृत मे चतुर्थी और षष्ठी को एक कर दिया गया था।[4] वेद मे भी चतुर्थी के अर्थ मे किसी विभाषा मे षष्ठी हो जाती थी।[5] यह प्रवृत्ति लोकभाषा द्वारा प्राकृत मे भी आई। सस्कृत व्याकरण मे 'शेषे षष्ठी' व्यापक नियम था। अपभ्रश मे मुख्यतः प्रथमा, षष्ठी, और सप्तमी ये तीन ही विभक्तियाँ रह गई।[6] कर्त्ता और कर्मकारक एक हो गये, करण अधिकरण मे समाविष्ट हो गया, अपादान संबन्ध के साथ जा मिला, सप्रदान तो पहले ही सबन्ध से तादात्म्य कर चुका था। इन सब विभक्तियो मे द्विवचन का प्राकृत मे ही अभाव हो गया था।[7] अपभ्रश भाषा के विकास मे आभीर, गुर्जर आदि जातियो के योग का परिणाम विभक्तिक्षरण भी था। किसी भाषा की शब्दराशि को सीखने मे परिश्रम अधिक नही पडता, कठिनता होती है उसका रूपावली को ग्रहण करने म। परिणाम यह होता है कि नवागन्तुक अपने भावों को व्यक्त करने के लिये विभक्तिशून्य शब्दो और धातुओ का प्रयोग करते है। यदि उनकी सख्या अधिक रही तो अज्ञात रूप मे भाषा निर्विभक्तिक और विश्लिष्ट होने लगती है। तब व्याकरणिक सबन्धों को बोधन करने का एकमात्र आधार शब्दो का अनुक्रम या नवीन परसर्गों का विधान हो जाता है।

१. अध्याय ५. अव्यय में विस्तार से विवेचन है।
२. सुप्तिङन्तं पदम्। पाणिनि, १।४।१४
३. अव्ययादाप्सुपः। पाणिनि २।४।८२
४. चतुर्थ्याः षष्ठी। हे म० ८।३।१३१
५. चतुर्थ्यर्थे बहुल छन्दसि। पाणिनि २।३।६२
६. हि० भा० अ०—तगारे, पृ० १०४
७. द्विवचनस्य बहुवचनम् ८।३।१३०

अपभ्रंश मे कर्त्ता, कर्म और संबन्ध विभक्ति का अदर्शन हो गया। अन्यत्र भी इसका प्रभाव पडा। अपभ्रंश मे एक तरह से अविकारी और विकारी दो ही रूप रह गये। न्यूनीकरण और सरलीकरण की मनोवृत्ति का प्रभाव प्रातिपदिक शब्दों की प्रकृति पर भी पड़ा। प्राय: विभिन्न-वर्णान्तता के स्थान पर अकारान्तता की प्रणाली काम मे आने लगी। शब्दरूप अकारान्त पद्धति पर आ गये। म० भा० आ० में प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये थे। वररुचि ने 'अन्त्यहल.' ४।६ सूत्र मे नियम निर्धारित किया कि अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है। स्त्रीलिंग मे अन्तिम हल् को आकार का रूप दे दिया गया।[१] अपभ्रंश मे भी यही स्वरान्तता बनी रही। सामान्यतया प्रातिपदिक अ, आ, इ, ई, उ और ऊ मे समाप्त होते थे। कुछ शब्द एकारान्त और ओकारान्त भी हैं, पर वे बहुत स्वल्प हैं और प्राय इकारान्त तथा उकारान्त हो जाते हैं। अपभ्रंश शब्दरूपावली के अनुसार दीर्घ स्वर ह्रस्व स्वरो मे परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार वस्तुत अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त शब्द ही शेष रह जाते हैं और उनमे भी रूप-विधि मे अकारान्त की ही प्रधानता रह जाती है।

अपभ्रंश मे लिंग : शब्दप्रकृति निर्णायक

प्रकृति मे नर और नारी तत्त्व की पृथक्ता ही तद्वाचक शब्दो मे लिंगभेद को, पुल्लिग और स्त्रीलिंग को जन्म देती है। जो न पुमान् है और न स्त्री है—इस तत्त्व का प्रतिपादन नपुंसकलिंग करता है। क्योकि प्रकृति में और प्राचीन काल की भावना मे पुरुष का प्रमुखत्व रहा अतः मूल शब्द पुल्लिग ही रहा। स्त्रीत्व-बोधन के लिये स्त्रीप्रत्यय की रूपप्रक्रिया का आश्रय लिया गया। जहाँ पुरुष और स्त्री दोनो का सहचरित बोध करना हो वहाँ पुल्लिग ही शेष रह जाता है और इसी लोकव्यवहार को प्रकट करने के लिये 'पुमान् स्त्रिया' (१।२।६७) इत्यादि सूत्रो में एकशेषप्रकरण का विधान हुआ। यदि प्राकृतिक लिंगव्यवस्था ही शब्दों मे रूपान्तरित होती ता वैदिक भाषा से लेकर अपभ्रंश तक और तदनन्तर हिन्दी जैसी आधुनिक आर्यभाषाओं में लिंगसमस्या जटिल न बनती। एक ही स्त्री को बताने के लिये दार, स्त्री और कलत्र या एक ही देवता को बताने के लिये देव, देवता और दैवतम् जैसे तीनो लिंगो मे शब्द न होते या सुहृद् को बतानेवाला मित्र शब्द नपुंसकलिंग न होता। यह अव्यवस्था वैदिककाल से ही थी। पाणिनि को अपने अनेक सूत्रों में लिंगविधान करना पडा और अन्त में लिंगानुशासन जैसे प्रकरण की योजना भी करनी पडी। इस लिंगविधान मे उन्हें जो कष्ट प्रतीत हुआ उसको 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' १।२।५३ मे संज्ञा को प्रामाणिक मानकर अभिव्यक्त किया। "संज्ञा प्रमाण" और "अन्य प्रमाण" लोक व्यवहार-सापेक्ष ही हैं। महाभाष्यकार ने इसे "लोक एवात्र प्रमाणम्" कहकर छोड दिया। संस्कृत लिङ्गानुशासन, में [illegible] को—जैसे अन्तिम प्रत्यय, अन्त्य वर्ण, वस्तुवाचकता इत्यादि को—[illegible]।

१. प्रा० प्र० ४।७

नियम बनाने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी अनेक शब्द दो लिङ्गो मे या "अविशिष्ट लिङ्ग" रूप मे निर्दिष्ट किये गये।

प्राकृत मे लिङ्गविधान अपेक्षाकृत सरल हुआ। नपुसकलिङ्ग के रूपो में पहले भी केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति मे ही भेद पडता था अन्यत्र पुल्लिङ्गवत् ही रूप रहते थे। व्यजनान्त शब्द स्वरान्त हो ही गए थे। नकारान्त और सकारान्त न० लि० शब्द पु० लि० मे प्रयुक्त होने लगे। कम्मो, वम्मो, जसो, सरो रूप पुं० लि० मे आ गये।[1] अपवाद सिर<शिरः और णह<नभः रह गये।[2] सम्मिलित परिणाम यही था कि कुछ शब्दरूपो को छोडकर शेष सब न० लि० शब्द पु० लि० मे आ गये। प्राकृत मे ही शब्दरूप प्राय. पुलिङ्ग या स्त्रीलिंग मे रह गये, परन्तु अव्यवस्था रह ही गई। अपभ्रश मे हेमचन्द्र ने 'लिङ्गमतन्त्रम्" ८।४।४४५ सूत्र लिखकर इस अव्यवस्था की पूरी स्वीकृति दे दी। पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम और मार्कण्डेय ने भी इसकी पुष्टि की। खलाइ<खलान् (४।३३४ मे उदाहरण) या कुम्भइ< कुम्भान् मे पु० लि० को न० लि०, वड्डा घर=वृद्धानि (महान्ति) गृहाणि मे या अब्भा=अभ्राणि मे न० पुं० को पुं० लि०, डालइ<(डाला) शाखा. मे स्त्री० लि० को पुं० लि० इस अतन्त्रता के उदाहरण हैं। इन उदाहरणो मे लिङ्गव्यत्यय का कारण छन्दोभंग का परिहार, मिथ्यासादृश्य, देशी शब्द प्रयोग, अन्तिम स्वर आदि मे ढूंढा जा सकता है। अत. लिङ्ग की अव्यवस्था सर्वथा अनियन्त्रित नहीं समझनी चाहिये। पडित दामोदर ने बताया कि शब्दो के पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग का भेद लोक से जानना चाहिये। उदाहरणार्थ "मणुसु जेंम<मानुषो जिम्वति (भुङ्क्ते)। मेहलि सोअ—महेला स्वपिति। नपुसक जाय—नपुसक जायते।"यहाँ आख्यात मे किसी प्रकार का लिंगभेद नही है, पर लोक मे तीनो भिन्न-भिन्न लिंग के ज्ञात होते है।[3] पिशल ने भी अपने विवेचन मे यही सम्मति दी है।[4] वस्तुतः प्राकृत भाषा की तरह ही स्थिति अपभ्रश मे है, प्रत्युत न० लि० के कम प्रयोग से और विभक्तियो के सीमित हो जाने से स्थिति मे सुधार ही है। सरली-करण इस क्षेत्र मे भी लागू ही है। अपभ्रश मे प्राय. लिंग का निर्णय शब्दप्रकृति अर्थात् उसकी वर्णान्तता पर निर्भर करने लगा है। आकारान्त, ईकारान्त और ऊकारान्त अर्थात् दीर्घ स्वरान्त शब्द स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त होते हैं। सस्कृत मे स्त्रीप्रत्यय आ (टाप्) ई (डीप्० और ङीष्०), और ऊ (ऊङ्०) स्त्रीत्व का विधान करते थे। वररुचि ने स्त्रीलिंग हलन्त शब्दो को आकारान्त प्रदर्शित किया। अपभ्रश मे कोम-लता, लघुता या हीनता को बोधित करने के लिए स्वार्थिक डी प्रत्यय (हेम०

१. प्रा० प्र० ४।१८

२. प्रा० प्र० ४।१९

३. पुं० स्त्री—नपुंसकत्वं शब्दाना लोकतः परिच्छेद्यम्। उ० व्य० का० २३ अपभ्र शे ये शब्दाः प्रयुज्यन्ते तेषा पुं—स्त्री—नपुसकत्वं लोकतः लोकोक्तितः परिच्छेद्यं निश्चेतव्यम्।" " इत्यादि विवृति।

८।४।४३१) का प्रयोग होता है जैसे गोरडी, अन्तडी, कुडुल्ली इत्यादि। आ० भा० आ० हिन्दी आदि मे थाली, झाडी, लकडी आदि इसी प्रकार के अपभ्रंशो के रूप हैं। वहु जैसे शब्द स्त्रीलिंग है। अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त शब्दों मे अवश्य लिंगनिर्णय मे कठिनता होती है। कुछ अकारान्त पुं० लि० शब्दो का न० लि० में प्रयोग दिखाया जा चुका है। प्रा० भा० आ० से म० भा० आ० मे यह लिंगविपर्यय की प्रवृत्ति अशोक के शिलालेखो मे प्राप्त निगोहानि <न्यग्रोधान्, पनानि <प्राणिनः, लुखानि <रुक्खा (वृक्षाः)—मे स्पष्ट लक्षित है। अपभ्रंश के पुं० लि० और न० लि० का यह भेद भी केवल प्रथमा और द्वितीया बहुवचन मे ही लक्षित होता है जहाँ "इ"[1] प्रत्यय होता है। एकवचन मे तो पुं० लि० की तरह उकार ग्रहण से वे पु० लि० ही बन जाते हैं जैसे फलु, अन्नु आदि। स्त्रीलिंग मे दीर्घ का ह्रस्व हो जाने पर भी यही समस्या रहती है। उन्हे वही स्त्रीलिंग कहा जा सकता है जहाँ कोई सर्वनामात्मक विशेषण साथ लगा हो जैसे भविसयत्तकहा में छन्दोनुरोध से बहुधा प्रयुक्त कह <कथा का विशेषण एह[2] ही उसे स्त्रीलिंग बता सकता है। यों एह <एषा भी ह्रस्व का ही उदाहरण है। कह धम्मणिवद्धी कावि कहमि (ज० च० १।५।६) मे णिवद्धी और कावि विशेषणो मे प्रयुक्त स्त्रीलिंग कह को स्त्रीलिंग बताता है। कृदन्त शतृ और शानच् से बने अर्थात् -अन्त और -माण प्रत्ययान्त विशेषण लिंगो का पृथकत्व बोधित करते हैं जैसे "कावि वर रमणि··· ··जलपवाह पवहति" (सं० रा० २४) मे स्त्रीत्व का। "इमि मुद्धह विलवंतियह" (स० रा० २५) मे मुद्धह से लिंग का परिचय नही मिलता, पर शत्रन्त विशेषण स्त्रीलिंग को बोधित कर देता है। इसी पद्य मे पुं० लि० पहिउ (पथिक) के विशेषण छिहतु और पवहतु हैं। अन्य कृदन्त के विशेषणो से भी ऐसा ही बोध हो जाता है।[3] शनै. शनै. विशेषणों मे भी लिंगभेद समाप्त होता गया है। भीसण अडइ <भीषणा अटवी मे विशेष्य विशेषण दोनो में लिंग का परिचय नही मिलता।

वचन

सख्यावोधन के लिए प्राचीन आरोपीय भाषाओ मे एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के प्रयोग थे। विकासशृंखला में यूरोपीय भाषाओ मे और भारतीय भाषाओं में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति ने द्विवचन का लोप कर दिया। म० भा० आ० मे एकार्थ एकवचन और अनेकार्थ बहुवचन ही रह गये। संस्कृत मे जातिवाचक होने पर एकवचन का प्रयोग हो जाता था। आदरार्थ बहुवचन का विधान था। प्राकृत के प्रारम्भिक काल मे ही पालि और शिलालेखीय प्राकृतो में द्विवचन जाता रहा। दो को बताने के लिए द्वि विशेषण का बहुवचनान्त सज्ञा के साथ योग कर दिया जाता था जैसे अशोक के गिरनार शिलालेख में "दुवे मोरा" मे दुवे विशेषण द्वित्व का

---

1. हेम० ८।४।३५३
2. हेम० ८।४।३६२
3. देखिये शब्द रचना प्रकरण।

-बोधन करता है। प्राकृत के मध्यकाल के व्यवहार को देखकर वररुचि ने तो स्पष्ट ही 'द्विवचनस्य बहुवचन' नियम बना दिया। अन्य प्राकृत वैयाकरणो ने इसका समर्थन किया, कवियो के साहित्यिक प्रयोगों मे इसकी पुष्टि हुई। उत्तरकालीन प्राकृत अर्थात् अपभ्रंश मे भी यही स्थिति रही। द्वित्व का बोधन संख्यावाचक "द्वि" शब्द का उपयोग ही करता था। यथा—

पहिउ भणिअ विवि दोहा संदेशरासक २।३२
बेवि सहोअर रामगिरी लहिअउ बेवि तुरग। कीर्त्तिलता ४।६२

उक्तिव्यक्तिकार ने स्पष्ट नियम दिया कि एकत्व द्वित्व और बहुत्व संख्या का बोध संख्या के प्रयोग से ही जानना चाहिये। अपनी वृत्ति मे लिखा—"इहापभ्रंशे संख्या एकादिका संख्ययैवोत्कीर्त्तितव्या ज्ञेया; न पुनरुपायान्तरेणेत्यर्थः। द्वित्वबहुत्वयोस्तुल्योक्तिकत्वात्। तद्यथा "एक जा" एको याति, एका वा, एक वा। "दुइ अच्छति" द्वौ तिष्ठतः, द्वे वा तिष्ठतः, द्वे वा। "बहुतु पूत भए"—बहव पुत्राः बभूवुः। "दुई बेटी भई—" द्वे बेट्टिके—बभूवतु।"

विभक्ति और परसर्ग

अपभ्रंश के शब्दरूपो मे प्रयुक्त विभक्तियो मे सरलीकरण और एकीकरण की प्रवृत्तियो का परिणाम है कि विभक्तिप्रत्ययो की संख्या मे न्यूनता के साथ एकरूपता भी आ गई है। कारको के कर्त्ता-कर्म-संबोधन; करण-अधिकरण, सम्प्रदान-अपादान—सम्बन्ध इन तीन समुदायो मे प्रयुक्त विभक्तिप्रत्ययों की निम्न विशेषतायें ध्यान योग्य हैं—

१. कर्त्ता, कर्म और संबोधन मे शब्दप्रकृति का अविकारी रूप अर्थात् शून्य रूप धीरे-धीरे प्रयोग मे बढता गया। यह शून्य रूप सबन्ध और तदनन्तर करण और अधिकरण कारक मे भी काम आने लगा। परिणाम यह हुआ कि सभी विभक्तियो में शून्य रूप व्यापक हो गया और सब कारको के सम्बन्धतत्व को बोधित करने के लिये परसर्गों की आवश्यकता हो गई। इस प्रवृत्ति की चरम परिणति आ० भा० आ० मे विशेषत. हिन्दी मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

शून्य प्रयोग के अतिरिक्त एकवचन मे -उ और बहुवचन मे -आ प्रत्यय प्रधान रहे।

२. करण और अधिकरण के एकवचन मे -ए या उसके ह्रस्वीकृत रूप -इ या उनके अनुनासिकीकृत रूप -एँ और -इं मुख्यतया प्रयुक्त होते रहे हैं।

३. अन्यत्र प्रत्ययो मे हकार की प्रधानता विशेष उल्लेखनीय है। एकवचन में ह, हि, हु, हे और हो (जिसका ह्रस्वीकृत रूप हि और हु है) तथा बहुवचन में उनके अनुनासिक रूप हं, हिं, हुं मुख्यत. उपयुक्त होते हैं।[1] संबोधन बहुवचन में

१. देखिये अनुनासिकीकरण, प्रकरण, खण्ड २, अध्याय १।

भी हो प्रत्यय है। इस ह् वर्ण के प्रयोग की प्रचुरता के कारण सक्षेप से अधोलिखित हैं—

(क) भिस्, भ्यस् (या भ्याम्) मे भ का सामान्य ध्वनिपरिवर्तन ह् मे हो जाता है।

(ख) प्रा० भा० आ० के सर्वनाम की विभक्तियाँ ही विकासशृंखला में पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मे सामान्यत. नाम मे व्यापक होकर अपने ध्वनिपरिवर्तन के अनुरूप प्रयुक्त हुई हैं।[1] उन विभक्तियो (स्मै, स्यै; स्मात्, स्याः, ; स्य, स्याः ; स्मिन्, स्याम्, पाम्, साम्; षु, सु) के सकार का अपभ्रंश मे हकार हो जाता है।[2]

(ग) ह, हि, हु, हे, हो ये सब निपात हैं और उनका शब्द-प्रकृतियो के साथ सम्बन्धतत्त्व के बोधन के लिये विभिन्न कारको मे उपयोग हुआ है। प्राकृत मे हि को सकलकार्यनिर्वाहक प्रत्यय समझा जाता है। 'भिस्' से हि का विकास ढूंढने की अपेक्षा हि निपात या अव्यय का प्रयोग मानने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिये। पद-पूरणार्थ इनका प्रचुर उपयोग है ही। इस तरह के उपयोग मे आभीर गुर्जर आदि जातियो का योगदान भी है।[3]

अकारान्त शब्द रूप

कर्त्ता और कर्म एकवचन

पुं० लि० और न० लि० मे कर्त्ता कारक को व्यक्त करने वाली प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के एकवचन मे निम्न कारक चिह्नो का अपभ्रंश व्याकरण और साहित्य मे समान प्रयोग होता है—

---

१. Language (Journal of the Linguistic Society of America), october, 1961 में George. S. Lane का On the Inflection of the Indo—European Demonstrative' लेख द्रष्टव्य है।

तत् सर्वनाम के विभिन्न प्राचीन भाषाओं में प्रयुक्त सम्पूर्ण रूपों का विवेचन कर उनमें तीन प्रकृति-अंश सो (पु० लि०), सा (स्त्री० लि०) और तोप (न० लि०) और तीन प्रत्ययाश—स्म, -स्य, और -स अन्वेषित किये गये हैं। स का ह में विकार ग्रीक और अवेस्ता में उपस्थित है। तस्मै, तस्मात्, तस्मिन् आदि में स्म, तस्य, तस्या॰ तस्यै आदि में स्य और तेषु, तेषा, तासाम् आदि में स प्रत्ययाश है। ये प्रत्ययाश भी अन्ततोगत्वा सर्वनाम ही हैं। स्म=सम (२५ सर्वनामों के अन्त में नेम, सम, सिम सर्वनाम परिगणित हैं), स्य=स्या, स्य॰ अर्थात् त्यत् सर्वनाम और स=तो (सो) तत् सर्वनाम। सर्वनाम बहुत शीघ्र अपना विशेषार्थ बोधन में क्षीण होने लगते हैं अत॰ उन्हें और स्पष्ट करने के लिये अन्य शब्द की सहायता अपेक्षित होती है जैसे this से this here और फिर this one here या that से that there और फिर that one there अर्थ को स्पष्ट करने के लिये नियोजित होते हैं। अत॰ सर्वनाम के साथ सर्वनाम की पुनरावृत्ति हुई और उन्हीं से विभक्तियों का निर्माण हुआ। वे ही सार्वनामिक विभक्तियाँ व्यापक होकर संज्ञाओं के साथ काम में आने लगीं।

२. देखिये हकार वर्ण का विवेचन, खण्ड २, अध्याय २।

३. देखिये 'अपभ्रंश और आमीर' "अपभ्रंश और गुर्जर तथा अन्य जातियां" खण्ड १।

-उ :

स्यमोरस्योत्, हेम० (४८।४।३३१), क्रमदीश्वर (५।२२।२३),
त्रिविक्रम (३।२४।३), सिंहराज (२२।२७), लक्ष्मीधर (४।२),
तर्क वागीश (८।१) और मार्कण्डेय (१७।१०) सभी ने इसे स्वीकार किया।
हउं पँ पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु, ललिअपहारे णासिअतरुवरु।
विक्र० ४।४५, णिसिअरु, धाराहरु (४।८), गअवरु (४।१६)।
करिवरु (२६) अविक्कलु—कोलु (४८), णिवरु, सेहरु, मणोहरु।
महिहरु (५० के अन्त्यानुप्रास) आभरणु, आवरणु, तालु,
मेहआलु (५४ के अन्त्यानुप्रास)—विक्रमोर्वशीय।
परमेसरु पच्छिम-जिणवरिन्दु चलणग्गें चालिय-महि हरिन्दु।
णाणुज्जलु चउ-कल्लाण पिण्डु चउ-कम्म-डहणु कलि-काल दण्डु॥
(पउमचरिउ १।७।१-८)

एउ विरत्तु रसंतु मई संधारिउ सयलु गुरु
पडिवयण समत्थु एहउ कोवि न दिट्ठु नरु। भविसयत्त कहा ५।१८।
जियसत्तु महाबलु तहिं नरिंदु
दप्पुब्भुर-रिउ-कुंजर-मइंदु॥ पउमसिरि चरिउ १।४
पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्मु अहम्मु ण काउ
एक्कु वि जीव ण होहि तुहुं मिल्लिवि चेयण भाउ॥ पाहुड दोहा २६।
मतु ण तंतु ण धेउ ण धारणु...... पाहुड दोहा २०६
गयउ दिवसु थिउ सेमु (११३)
जइ मइगलु मउ झरए। संदेशरासक १।११।
मुणइ णनु तह। संदेशरासक २।६४।
विमुह चलिअ रण अचलु,
परिहरिअ हअ गअ बलु। प्राकृत पैंगल। ८७।
'छात्रु गाउं जा' 'अम्हार बनु' 'राजाकर पुरुषु मोर विसिहि'
उक्ति व्यक्ति पृ० १६
चेल्लु भिक्खु जे स्थविर उएसेँ। दोहा कोष सरह ६
इसी प्रकार अण्णु (१०) भेउ (१) मणु (त० ८६), सग्गु लग्गु (२२) दो०
को० स०, कोटिहु मज्झे एक्कु जइ—दोहा कोश काण्हपा।

उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि 'उ' प्रत्यय का प्रयोग प्रायः सम्पूर्ण अपभ्रंश क्षेत्र में प्रचलित है और 'उकारबहुला' अपभ्रंश भाषा का मुख्य चिह्न है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय के अपभ्रंश अंश में उकारान्तता की प्रधानता है। धनपाल की भविसयत्त कहा, दिव्य दृष्टि वाहिल के पउमसिरि चरिउ और स्वयंभू के पउमचरिउ में निरपवाद 'उ' का ही प्रयोग है। पुष्पदन्त का महापुराण भी इस नियम का प्रायः पालन करता है। नवीं दसवीं शताब्दी के ये ग्रन्थ यह प्रमाणित कर

देते हैं कि हेमचन्द्र से पूर्व ही 'उ' प्रत्यय अपभ्रंश भाषा का प्रमुख लक्षण था— परिनिष्ठित अपभ्रंश, विशेषतः गौर्जर अपभ्रंश मे प्रयुक्त होता था। जोइन्दु का परमात्म प्रकाश, रामसिंह का पाहुड दोहा तथा अन्य इसी प्रकार के जैन साधुओ के ग्रन्थो मे भी अधिकाशतः 'उ' प्रत्यय काम मे लाया गया है।

उत्तरी-पश्चिमी अपभ्रंश के १२वी शताब्दी के संदेश-काव्य अब्दुर रहमान-कृत संदेश-रासक मे 'उ' प्रत्यय का प्रयोग 'ओ' की अपेक्षा कम है। इसका कारण प्राकृत प्रभाव भी समझा जा सकता है।

बारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे दामोदर पण्डित ने अपने उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे 'उ' रूप का ही बोलचाल की भाषा मे होना उदाहरणो मे निर्दिष्ट किया है। अवधी भाषा ने यही पद्धति अपनाई। अत मध्यदेशीय अपभ्रंश मे भी 'उ' की ही प्रधानता है।

प्राच्य अपभ्रंश मे, विशेषत मगध क्षेत्र मे, "उ" रूप प्राय. अप्रचलित है। यों श्री शहीदुल्ला की गणना के आधार पर श्री तगारे ने प्रदर्शित किया है कि सरह पाद के दोहा कोश मे ४१.०४ और काण्हपा के दोहा कोश में २८ ५७ प्रतिशत "उ" का प्रयोग है। महापण्डित राहुल साकृत्यायन द्वारा तिब्बती ग्रन्थो के आधार पर सुसंपादित सरह के दोहा कोश मे "उ" का प्रयोग मात्रा मे उतना नही मिलता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि विद्यापति की कीर्त्तिलता और कीर्तिपताका मे संज्ञाओ के साथ "उ" रूप का सर्वथा अभाव है। यद्यपि कुछ सर्वनामो मे जैसे "किछु" में उकारान्त प्रयोग मिलते हैं।

एकवचन का यह "उ" रूप भरत और कालिदास के समय से ही मिलने लग जाता है। यो इसकी भूमिका पालि और अशोक के प्राकृत शिलालेखो मे ही बँध गयी थी। "उ" की विकास शृखला "ओ" के लघूच्चरित रूप मे है, अस् > अः > ओ > उ।

-ओ :

सो पुंस्योद्वा, हेम० ८।४।३३२, चण्ड ३, ३७, पुरु १७. ४२,
क्रम० ५।२३, त्रिवि० ३।४।३। लक्ष्मी०, ४, ३, मार्क० १७. १३,
दइआरहिओ अहिअ दुहिओ
विरहाणुगओ परिमन्थरओ (विक्र० ४।१४)
सेणिअ महाराओ (१।७।९) ण बोल्लइ णाहो, को अवराहो
(२।१३।९) धाइओ जयन्तो, महु जियन्तो (१७।६।१) इत्यादि
पउम चरिउ।
पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो मिच्छ देसो त्थि
तह विसए संभूओ आरद्धो मीरसेणस्स। संदेशरासक १।३
इसी प्रकार दोसो, मओ, परिजाओ आदि प्रचुर प्रयोग।

परमाणिरंजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ ॥ पाहुड दोहा ७७.
णिज्जियसासो णिप्फदलोयणो मुक्कयसयलवावारो
एमाइं अवत्थ गओ सो जोयउ णत्थि संदेहो।
वरिस सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खह सो ठाउ।
हेम० ८।४।३३२ में उद्धरण
जो (२१।१८), सो (१०।८)। उक्ति व्यक्ति प्रकरण
सोज्झु कहाणो, महासुह ट्ठाणो (१२८) दिढ चाञ्झो,
विसअ भुजगो (१२२) विकालो, बालइ बालो (३३) दोहा कोष सरह
एहु सो गिरिवर कहिअ मइ एहु सो मह सुह णव। कण्हपा
इअरो (१-३५) कओ, एक्कओ पुरिसआरो। १।३५
कबन्धो (४-२०४) गओ<ग्रामः २।६२। द्वारओ २।१६० दासओ पुरिसओ।१।३२२
मओ (१।२२) महाउओ (महावत) (४।२६), सलामो (२।१६०) कीर्त्तिलता।

यहा उल्लेखनीय बात यह है कि "ओ" रूप केवल प्रथमा विभक्ति के एक वचन में होता है, पुंलिङ्ग मे ही होता है और विकल्प से होता है अर्थात् सामान्य नियम से "उ" भी होता है। हेमचन्द्र ने "ओ" के जो उदाहरण सूत्रानन्तर दिये हैं या कुमारपाल चरित मे दिये हैं वे जो और सो सर्वनाम से ही सम्बद्ध हैं। कण्हपा के दोहा कोष और उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी जो और सो ही प्रयोगो मे ओकार है। इन सब में संज्ञाओ के उदाहरण अप्राप्त से हैं। पउमचरिउ के कुछ उदाहरण ऊपर उद्धृत अवश्य किये गये हैं पर उनके सम्बन्ध मे डा० हरिवल्लभ भायाणी का कथन है—कर्त्ता एकवचन रूप "ओ" बहुत विरल है जो प्राकृताभास है और अव्ययो के पूर्व या छन्द के अनुरोध से प्रयुक्त है।[1] विद्यापति ने अवश्य कुछ संज्ञाओ के साथ ओकार का प्रयोग किया है पर वह भी स्वल्प ही है। यों "ओ" प्रत्यय को कुछ सर्वनामो, संख्याओ और विशेषणो मे भी उपयुक्त किया है। संदेशरासक में अवश्य इन सब से अधिक ओकारान्त प्रयोग हैं। उन्हें भी भायाणी ने प्राकृताभास कहा है।[2] स्वयं अब्दुर रहमान अपने को प्राकृत काव्य मे प्रसिद्ध कहता है। अतः प्राकृत प्रभाव स्पष्ट है।

भविसयत्त कहा में संज्ञा का उदाहरण घोसो और वणिदो हैं यों गओ, धाइओ भासियो आदि कुछ कृदन्त प्रयोग भी ओकारान्त है पर "उ" की तुलना में ये सागर में बिन्दुवत् हैं। अतः निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

१. "ओ" रूप सामान्यतया अपभ्रंश मे स्वल्प प्रयोग विषय है।

---

१. पउम चरिउ—भायाणी की भूमिका पृ० ९१.
२. संदेशरासक भूमिका—पृ० ३८

२. दक्षिण-पश्चिमी, मध्यदेशी और प्राच्य अपभ्रंश की संज्ञाओ के साथ उ ही उपयुक्त है ।

३. उत्तर पश्चिमी अपभ्रंश मे अन्य अपभ्रंशों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त है ।

४. वस्तुत "ओ" अपभ्रंश भाषा में प्राकृताभास है । संस्कृत के अकारान्त प्रथमा एकवचन का विसर्गान्त रूप अवर्ण, वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण, अन्त स्थ और ह(हश् प्रत्याहार)के परे होने पर "ओ" मे सधिनियम से परिणत हो जाता है । इसी ओकारान्त रूप को प्राकृत ने स्वीकृत कर लिया (वररुचि प्रा० प्र० अत् ओत् सो ५।१) । अपभ्रंश ने लघूच्चरित कर इसे "उ" मे बदल दिया । पर कुछ रूप प्राकृतवत् चलते रहे ।

-अउ, -अओ :

इस प्रसंग मे ज्ञातव्य यह भी है कि प्रातिपदिक के अकारान्त होने पर अ के स्थान पर उ या ओ होने की अपेक्षा उससे परे प्रयुक्त होते हैं और इस प्रकार "अउ" और "अओ" परिवर्धित रूप हो जाते हैं । इसकी व्याख्या स्वार्थिक क प्रत्यय के "क्" का लोप होने पर या स्वार्थिक "अ" (हेम० ८।४।४२९) प्रत्यय होने पर उसको उकार या ओकार बना देने से हो जाती है । अपभ्रंश स्वार्थिक "अ" का प्रयोग बहुधा किया गया है ।

जैसे—

पिअकारिणीविच्छोइओ गुरुसोआणलदीविअओ
बाहजलाउललोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ।। विक्र० ४।२९
विच्छोइओ < विक्षोदितको, दीविअओ < दीपितको,
लोअणओ < लोचनको, समाउलओ < समाकुलको ।
विसूरणओ, वारणओ, लालसओ, माणसओ (विक्र०४।१९)
के अन्त्यानुप्रास भी "अओ" के उदाहरण हैं ।
योगक. > जोअओ > जोअउ > जोयउ (पा० दो० २०३), दासक. > दासओ > दासउ, पुरुषक. > पुरिसओ > पुरिसउ । भायाणी ने सदेशरासक मे ऐसे १६४ उदाहरण प्राप्त किये हैं, जैसे सितउ > सितक:, सुपसिद्धउ > सुप्रसिद्धक, लेहउ > लेखक: ।

-अ या शून्य (विभक्ति का अदर्शन)

स्यम्-जस्—शसा लुक् हेम० ८।४।३४४. चण्ड ३।३७ पुरु० १७।४२. लक्ष्मी ४।१७।
देह ण पिच्छइ (१८०), अवर वसाइव गाम (१८१) (पाहुड दोहा)
कन्नपूर, सूर (२।४५), हार (४६), विचित, विलित (४७)

मोह (१।३२) इत्यादि प्रयोग पउमसिरि चरिउ मे।
त जि महिय विक्खेविणु २।२६
इम कहिय पहिय, २।६४। सदेशरासक
दूठ हीस, लेख वाच, विडरा घोल उलाल,
बाल दुलाल, देउ पूज (कर्म)। उक्ति व्यक्ति०
अक्खर वाढा सग्रल जगु, जहि णिरक्खर कोइ
ताव से अक्खर घोलिग्रइ, जाव णिरक्खर होइ। २५.
सरह भणइ
मिच्छेहिं जग वाहिग्र भुल्लें, घम्माघम्म ण जाणिग्र तुल्ले। ३.
दोहा कोश, सरह
लोग्रह गव्व समुव्वहइ, हउ परमत्थे पवीण।
कोटिह मज्झे एक्कु जइ, होइ णिरजण लीन ।। दो० को० का०
काण्ण समाइग्र ग्रमिग्ररस तुज्झ कहन्ते कन्त
कहहु विग्रक्खण पुनु कहहु किमि ग्रग्गिम वित्तन्त ।। कीर्ति० ३।१
राम चरित रसाल एहु णाह न राखेउ गोइ
कवन वस को राम सो कित्तिसिंह को होइ ।। कीर्ति० १।४५.
कवि मह नव जयदेव कवि रस मह एहु सिंहार
जगत सिंह रिपु राग्र मह तीनि त्रिभुवन सार ।। कीर्ति पताका

निर्विभक्तिक या शून्य प्रयोग दक्षिणी-पश्चिमी अपभ्रंश मे नही के बराबर है। पउमचरिउ मे सर्वत्र अकारान्त के स्थान पर उकारान्त प्रयोग हैं। उत्तरी पश्चिमी अपभ्रंश मे स्वल्प प्रयोग है। मध्यदेशी मे उकारबहुलता है पर कुछ अकारान्त प्रयोग भी उक्ति व्यक्ति० मे मिल जाते है। यह आश्चर्य का विषय है कि प्राच्य प्रदेश मे "शून्य" प्रयोग अत्यधिक हैं। प्रायः प्राच्य क्षेत्र के साहित्य का आधार यह शून्य प्रयोग है। यह विशेषता इतनी स्पष्ट लक्षित है कि सरह दोहा कोश के ४३ वें दोहे का प्रथम पाठ "मन्त ण तन्त ण धेउ न धारण" पाहुड दोहा मे "मतु ण तसु ण धेउ ण धारणु" (२०६) है।

यह न भूलना चाहिये कि सबोधन के एकवचन मे वैदिक और सस्कृत काल से ही निर्विभक्तिक अकारान्त प्रातिपदिक का प्रयोग चला आता था। "शून्य" रूप का यह प्रारम्भ था। प्राकृत और अपभ्रश मे यह सर्वदा मान्य रहा। पउमचरिउ आदि काव्यो ने भी सम्बुद्धि मे अकारान्त रूप ही रखा। इसी का प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी इत्यादि विभक्तियो मे विस्तार होता चला गया। इस प्रक्रिया मे शबर, गुर्जर आदि जातियो ने भी योग दिया। प्राच्य क्षेत्र मे बौद्धो का अधिक प्रभाव था और उनकी सस्कृत मे निर्विभक्तिक प्रयोगो का प्रचलन हो चुका था। दोहा कोश के प्रणेता भी बौद्ध रहे हैं अत. उसी निर्विभक्तिक प्रयोग पद्धति को प्रश्रय मिल गया।

कुछ विचारकों की दृष्टि में भाषा की विश्लिष्ट पद्धति का प्रभाव है कि समासों के पद विच्छिन्न होकर निर्विभक्तिक हो गये। षष्ठी समास और कर्मधारय समास का अधिक प्रयोग होता है, परिणामतः षष्ठी और विशेषण में प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति शून्य हो गई। शून्य प्रयोग आधुनिक आर्यभाषाओं का, विशेषत हिन्दी का चिह्न है।

-आ

स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ, हेम० ८।४।३३०, लक्ष्मी० ३।४।१

सिंहराज और पुरुषोत्तम ने भी यह स्वीकार किया है कि ह्रस्व को दीर्घ विकल्प से हो जाता है।

ढोल्ला सामला, ढोल्ला मइ तुहि वारिया (हेम० उदाहरण)

दोहा गाइ कहिज्ज पिय। सदेशरासक २।८८।

घरही वइसी दीवा जाली, कोणहि वइसी घण्टा चाली दो० को० सरह ४

एमहि करहा पेक्ख सहि (२५)

अक्खर वाडा (२५) सुइअणा (स्वप्न) पट्ठो (१३१)

(शहीदुल्ला ने दो० को० में १२.६८ प्रतिशतक आकारान्त पाठ अन्तिम ५ दोहों में पाये हैं जैसे अलिआ<अलीक सारा<सर्व (सर्वनाम), दूरा<दूर इत्यादि। पूर्वोक्त उदाहरण उनसे पहले के हैं।)

दक्षिणी पश्चिमी अपभ्रंश में "आ" रूप का सर्वथा अभाव है। उत्तरी पश्चिमी के प्रतिनिधि ग्रन्थ सदेशरासक में केवल एक "दोहा" शब्द है। प्राच्य क्षेत्र के ही काव्यों में, जिनमें निर्विभक्तिक अकारान्त रूप हैं, "आ" यह दीर्घ रूप भी कुछ शब्दों में उपलब्ध है।

प्रश्न यह है कि यह हेमचन्द्र के अनुसार ह्रस्व का दीर्घ रूप समझा जाय या संस्कृत बहुवचन के प्राकृत में विसर्ग के लोप के बाद का ही दीर्घरूप शनैः शनैः एकवचनार्थ भी प्रयुक्त समझा जाय। वैदिक भाषा में भी बहुवचन को एकवचन में लाने वाले प्रयोग थे। भाष्यकार ने "व्यत्ययो बहुलम्" की व्याख्या में अनेक व्यत्ययों में तिङ् का व्यत्यय भी बताया है। "चषाल ये अश्वयूपाय तक्षति" में तक्षन्ति इस बहुवचन के स्थान पर एकवचन है। पा० ७।१।४८ में "ऋजवः सन्तु पन्था" एकवचन का प्रयोग है। "या सुरथा रथीतमा दिविस्पृशा अश्विना" उदाहरण में सुरथौ, रथीतमौ, दिविस्पृशौ, अश्विनौ द्विवचन के स्थान पर आकारान्त रूप है। प्राकृत में वत्सा >वच्छा हो जाता है (प्रा० प्र० ५।२ से जस या शस् का लोप और ५।१११ के द्वारा दीर्घ)। पाहुड दोहा में प्राप्त आकारान्त रूप प्राय बहुवचन में प्रयुक्त से हैं और झुकाव एकवचन की ओर है—जैसे "अम्मिय विहडिय भेडिया पसु लोगडा भमतु (१८७)" वाद विवादा जे करहिं "(२१७)" विसया सेवहि जीव तुहुं (२०५)

"विसया चिंति म जीव" (२००) "जे पढिया जे पडिया" (१९६)। अन्तिम उदाहरण स्पष्ट बहुवचन है उससे पूर्व पूर्वतर के अवलोकन से एकत्व की ओर प्रवृत्ति लक्षित होती है। विद्धा वम्मा मुट्ठिइण (१५७) मे आकारान्त एकवचन में ही हैं। हेमचन्द्र ने "एइ ति घोडा" मे घोडा शब्द बहुवचनान्त बताया है, पर यही हिन्दी मे एकवचन है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे 'वहिणि महारा कन्तु' आकारान्त एकवचन का अच्छा उदाहरण है। आकारान्त प्रयोग मे स्वार्थिक क या अ प्रत्यय का योग भी सहायक हो गया है। घोटक<घोडअ<घोडा, उद्वृत्त सन्धि से सिद्ध होता है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे घोड<घोट शब्द का एकवचन मे प्रयोग हुआ है। हिन्दी (खडी बोली) मे घोडा एकवचन उपर्युक्त पद्धति से निष्पन्न होता है या बहुवचन रूप होकर शनै. शनैः एकवचन मे प्रयोग से। बकरा, गदहा, चणा (चना) आदि इसी तरह निष्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध मे पिशल का मत उल्लेखनीय है— "अपभ्रंश मे अन्तिम स्वर छन्द बैठने और तुक मिलाने के लिये इच्छानुसार दीर्घ और ह्रस्व कर लिये जाते हैं (१००) इसलिये कर्त्ता कारक मे बहुधा एकवचन के स्थान मे बहुवचन और बहुवचन के स्थान में एकवचन आ जाता है। इस नियम के अनुसार फणिहारा, वीसा, कन्दा, चन्दा और कत्ता=फणिहारः, विप कन्द, चन्द्रः और कान्तः (प्रा० पैं० १।८१) सीअला=शीतलः, दड्ढा=दग्ध से सम्बन्धित है"।[1]

—ए,—एँ,—अए,—अये

प्राच्यक्षेत्र के बौद्ध अपभ्रंश मे इन रूपों का प्रयोग उपलब्ध है। मागधी के "ए" रूप का प्रभाव इसमें स्पष्ट ढूंढा जा सकता है।[2] तगारे ने इसकी व्याख्या— अक से की है जो अय>-ए में रूपान्तरित हुआ। उदाहरण मअरन्दए<मकरन्दक (काण्हपा) और होमे>होमक तथा अव्भासे<अभ्यास—(सरहपा) दिये हैं। इसकी भी संभावना है कि ह्रस्वीकरण प्रवृत्ति के अनुसार मागधी ए इ में और फिर पूर्ववर्ती अ से सन्धि द्वारा ए मे भी परिणत हो गया हो।—होमक>होमए> होमइ>होमे।

सरह के दोहा कोश से ही एकारान्त और अनुनासिक एकारान्त के उदाहरण दिये गये हैं। उदाहरणो मे यह बहुत सन्देह है कि वे प्रयोग तृतीया एकवचन के हैं या क्रियाप्रयोग के हैं या सचमुच अविकारी कर्त्ता कारक के।

"कज्जे विरहिअ हुअवह होमे, अक्खि डहाविअ कडुअँ धूमे।
एक दण्डि त्रिदण्डी भअवाँ वेसँ, विणुआ होइअइ हस उएसँ॥

तगारे के पाठ से होमे और उएसे मे अनुनासिकता नही है। राहुल जी के पाठ मे है। सस्कृत मे यदि इसे परिणत किया जाय तो श्लोक होगा—

१. प्रा० भा० व्या० अनु० ३६४ पृ० ५१७
२. अशोक के शिलालेखों में "देवानं पिये" में इसका पूर्व रूप है।

कार्येण विरहिता हुतवहं होमन्ति (जुह्वति)
अक्षिणी दग्धापिते कटुकेन धूमेन
एकदण्डी त्रिदण्डी "भगवा" वेषेण
विज्ञानिन. भूत्वा हंसं उपदिशन्ति ।।

अथवा

विज्ञानिनो भवन्ति हंसस्य उपदेशेन ।

आगे भी "छारें<क्षारेण जड भारें<जटा-भारेण, उछे भोजऐं<उञ्छेन भोजनेन इत्यादि करण कारक के प्रयोग ही हैं। "णग्गण होइ उपाडिअ केसे" मे उत्पाटित का केश से सम्बन्ध प्रथमा विभक्ति मे ही संभव है अतः इसे "ए" का उपयुक्त उदाहरण समझा जा सकता है। यो व्याख्या करने वाले "मलिणें वेसें" और "उपडिअ केसें" मे मलिनेन वेशेन और उत्पाटितकेशेन के रूप मे "लक्षणे तृतीया" खोज सकते हैं। 'भुल्लें' और "तुल्लें" को भ्रष्टं और तुल्यकं से निष्पन्न कर अनुस्वार की व्याख्या "म्" की अनुस्वार मे परिणति द्वारा की गई है। परन्तु यहाँ भी करण कारक ही स्पष्ट अर्थ देता है—प्रथमा विभक्ति की अपेक्षा नहीं। सरह पाद ए या ए का करण और अधिकरण मे प्रचुर प्रयोग करते हैं। "गुरु वअणें दिढ भत्ति करु" में "गुरुवचन मे दृढ भक्ति करो" के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ संभव नही। सरहे गाइव (३६) अवश्य उपयुक्त उदाहरण है। -ए का अपवादात्मक प्रयोग मध्यदेशीय प्राचीन कोसली मे मिल जाता है। जैसे उक्तिव्यक्ति प्रकरण मे "अहो काहु ए सुआरे वेंटलि किएं राघ" "भो किमसौ सूपकार कृतविरोवेष्टनो राध्यति"[१], सुआरे=सूपकार। "माथें करोअ"—"मस्तकं—कुरति"[२] मे कर्म कारक मे—ए का प्रयोग है।

डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या को प्राचीन कोसली मे उ प्रत्ययबाहुल्य देखकर यह टिप्पणी करनी पड़ती थी—"प्राचीन कोसली के स्रोत कल्पनिक अर्धमागधी को, जो कि आदि म० भा० आ० का ही प्राचीन प्राच्य रूप है-ए ही देना चाहिये था……और इसे -इ के रूप मे (कोसली) उक्ति मे आना चाहिये। परन्तु कर्ता के लिए यह इ अनुपस्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० भा० आ० के आरम्भ होने से ठीक पहले पूर्वी या कोसली क्षेत्र -उ द्वारा आक्रान्त हो गया था, और इसका अशुद्ध प्रयोग कर्ता के अतिरिक्त अन्य कारको के लिए भी होने लगा था[३]। यह कथन यह मानकर चल पड़ता है कि मागधी स्रोत होने के कारण -ए ही होना चाहिए, और जब वस्तुतः वह नही मिलता तो कल्पना करनी पड़ती है कि -उ ने आक्रान्त कर लिया। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं वस्तुत प्राच्य अपभ्रंश मे -ए का प्रयोग

१. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—पृ० २१।
२. उ० व्य० प्र० की अंग्रेजी भूमिका—पृ० २६।

नही के बराबर है। उसमे भी अपभ्रंश का सामान्य प्रत्यय -उ है या शून्य प्रयोग है।

-ह,-हो

श्री शहीदुल्ला ने दोहा-कोशो मे इन प्रत्ययो का विरल प्रयोग पाया है। कण्हपा के कोश मे -ह ३.५७% और -हो १० ७१ प्रतिशतक है। इन्ही का सरह के दोहा-कोश मे प्रयोग क्रमश. १ ४६ और ०.७४ है। हश्रुति से इनकी व्याख्या की गई है। श्री तगारे ने इसका कारण बताया है कि प्राच्य अपभ्रंश मे सामान्यतया सम्बन्ध का प्रत्यय -ह है न कि -हो अत. उसका प्रसार कर्ता कारक मे नही किया जा सकता। वस्तुस्थिति सर्वथा ऐसी नही है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश मे "ङ सः सु--हो--स्सवः" (४।३३८) सूत्र से सम्बन्ध मे -हो प्रत्यय भी बताया है, -ह का तो विधान भी नहीं किया। यह ठीक है कि ह का प्रयोग पर्याप्त मात्रा मे पश्चिम और पूर्व दोनो में है। बिना इस षष्ठी प्रत्यय ह और हो के प्रसार किये भी ह और हो निपातो के प्रयोग से इसकी व्याख्या सम्भव हो सकती है।

जहि झण झरइ पवणहो तहि खग्र जाइ (दो० को० स० ३०)

सहलहो एहु साहाज्विअ देंक्खहु (दो० को० स० ८२)

संबोधन या आमन्त्रण

अकारान्त प्रातिपदिको से संबुद्धि मे कर्ता और कर्म की तरह ही प्रत्ययों का सम्बन्ध होता है। सस्कृत की तरह शून्य प्रयोग ही प्रायः काम मे आते हैं जैसे—

जलहर सहर एहु (विक्र० ४।११)

अरे पुत्त तत्त विचित्त (दो० को० स० १०४) अरे बढ़ आसाकहवि (दो० को० ११३) नाह तइउ मइ नउ परियाणिउ (भ० क० ६।११)

कहि जाइसि हिव पहिय कह (स० रा० २।४१)

अहो नरिंद महु मणु सघट्टइ (भ० क० ६।८)

वढ और जीअ—संबुद्धि में पा० दो० मे अनेक स्थलो पर प्रयुक्त हैं। कहीं-कही -आ और -उ[1] प्रत्ययो का भी उपयोग होता है।

मूढा सयलु वि कारियउ मे फुड्ड तुहु तुरु कडि—पा० दो० १३

अप्पा मिल्लिवि एक्कु पर—पा० ११७ करहा चरि—पा० ११२

कर्त्ता और कर्म बहुवचन

पुल्लिङ्ग अकारान्त प्रातिपादिको के कर्ता और कर्म के बहुवचन मे निम्न प्रत्यय उपयुक्त होते रहे है—

---

१. लक्ष्मीधर ने अपनी षड् भाषा चन्द्रिका के ३।४१ सूत्र की व्याख्या में लिखा है "संबुद्धौ। दे रामु। दे रामो। सुद्धावत्वमिति के चित्। तेषा मते दे राम दे राम इत्येव।"

शून्य,-अ

स्यम्—जस्—शसां लुक् (हेम० ४।३४४, तथा प० च० ४. १७

प्रा० स० ८ स० व्या० २१, जे जे सर्मुहिअ वाणिज्जिय (भ० क० ६।६)

"ए कहार काह् सपाडति—एतौ कहारौ किमत्र सपादयत', एते कहारा वा 'किमत्र सपादयन्ति" (उक्ति-व्यक्ति प्रकरण पृ० २१)

शून्य प्रयोग मे निर्विभक्तिकता के अतिरिक्त निम्न प्रक्रिया है—
'प्रा० भा० आ० संस्कृत आ.>म० भा० आ० प्राकृत आ> ह्रस्वीकृत रूप अ। महाराष्ट्री के कर्त्ता कारक में भी यहीं स्थिति है।

-आ

प्राकृत की तरह आकारान्त प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हैं—

जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मच्चन्तु (स० रा० -११)

ता सेसा मा भणिज्जन्तु (सं० रा० १७)

बज्झन्ति जेण जडा परिमुच्चन्ति तेण बुधा (दो० को० स०,९२)

बेण्णवि पन्था कहिअ मइ (दो० को० स० ८८)

दोनो ही उदाहरणो मे प्राकृत प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। सदेशरासक मे गाहा, भणिया, अणुरत्ता, दड्ढा, सयाणा, चड्डा, बहुवचनान्त प्रयोग हैं।

संस्कृत मे प्रथमा विभक्ति का आकारान्त बहुवचन विसर्गान्त होता है। विसर्ग का व्यंजन परे होने पर लोप हो जाता है। प्राकृत मे यह लोप सामान्यतः स्वीकृत हो गया। अपभ्रंश मे भी यही पद्धति कर्त्ता और कर्म दोनों के लिये रह गई। जैसे "विसया सेवहि जीव"—पा० दो० १२०।

-एँ :

दोहाकोश, सरह (१६) मे पाठ है—'णिज सहाव ण लक्खिअ बालें' इसमें बालें शब्द कर्त्ता बहुवचन है। राहुल जी ने इसी तरह इसे अभिगत किया है (भूमिका पृ० ५२)। इसकी व्याख्या सर्वनाम के रूप के अनुकरण पर की जा सकती है जैसे 'सव्वें' मे एकार है, वही यहाँ सानुनासिक हो गया है। वस्तुतः यह कर्मवाच्य का तृतीया का रूप समझा जाय तो अपवाद की आवश्यकता न रहेगी। संस्कृत में संपूर्ण पाठ का अनुवाद होगा—'निज' स्वभाव. न लक्षित बालेन' अपभ्रंश मे यह हेमचन्द्र ४।३४२ के अनुसार तृतीया प्रयोग है।

उ और ओ एकवचन मे ही प्रयुक्त होते है, परन्तु कहीं-कहीं बहुवचन मे भी उनका उपयोग मिल जाता है। सरह के दोहाकोश का पाठ है—

एवइ पढिअउ ए च्चउवेउ (एवमेव पठिता एते चतुर्वेदा),

परमात्म प्रकाश २।८ का पाठ है—हरिहरबम्हु (हरिहरब्रह्माण)

इसे या तो एकवचन का बहुवचनार्थ प्रयोग समझा जा सकता है या चारों वेदो के एकत्व और त्रिदेवो के एकत्व की विवक्षा से वस्तुत एकवचन ही। प्राकृत

कल्पतरु (१०) और प्राकृत सर्वस्व (१४) ने -हे, प्रा० क० त० ने (१८)-हो तथा पुरुषोत्तम ने -डा (१८) और -डु (२०) का भी बहुवचन में प्रयोग बताया है। पहले दोनों संबोधन मे प्रयुक्त होने वाले निपात हैं और शनै. शनै प्रत्यय का रूप समझे जाने लगे हैं। हेमचन्द्र ने 'आमन्त्र्ये जसो हो' (३।३४६) सूत्र मे -हो प्रत्यय का विधान कर 'तरुणहो, तरुणिहो'-उदाहरण दिया है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण में (पृ० २१) 'अहो पितरहो को तुम्ह तारिहं' प्रयोग है। 'हे है प्रयोगें' में हे और है संबोधन के लिये संस्कृत मे निरूपित ही थे। हो भो. का रूप समझा जा सकता है। डा और डु को तो वस्तुतः स्वार्थिक प्रत्यय ही समझना चाहिये, इनका वचन से संबन्ध नहीं है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण मे (४।४२९) यही स्वीकृत किया है। दोसडा, दिवहडा, रुक्खडा आदि इसी तरह के प्रयोग हैं जो राजस्थानी मे आज तक प्रचलित हैं। जैसे स्वार्थिक क प्रत्यय को बहुवचनार्थ नहीं समझा जाता है अपितु, तदन्त प्रातिपदिको से एकवचन, बहुवचन मे प्रत्यय किये जाते हैं वैसे ही डड -डुल्ल या ड और डु की भी स्थिति है।

-अहं :

संदेशरासक मे अबुहह=अबुधा. (२१), पवहंतयह=प्रवहन्त (१४१) अपवादात्मक प्रयोग कर्त्ता बहुवचन मे उपलब्ध हैं। इनका आधार सम्बन्ध एकवचन और बहुवचन -अह का प्रसार समझा जा सकता है। चाटुर्ज्या ने वर्णरत्नाकर में -आह् प्रत्ययान्त को विशेषण और भूत कृदन्तों के बहुवचन मे अविकृत. प्रयुक्त पाया है।[1] इस -आह् का सम्बन्ध वैदिक -आसः (देवास) के साथ भी जोड़ा जा सकता है। किसी लोकभाषा में स को ह होकर -आह और ह्रस्वीकृत -अह रूप रह गया होगा। एकवचन में भी इसके प्रसार से -अह के रूप का उपलब्ध होना संभव है।

नपुंसकलिंग अकारान्त के कर्त्ता कर्म के बहुवचन में रूप पुल्लिंग की तरह नहीं होते। यहाँ ही नपुंसकलिंग अपनी लिंगव्यवस्था स्पष्टत. प्रतिपादित करता है। उसका रूप -इं है। क्लीबे जस्-शसो रिं (४।३५३) मे हेमचन्द्र ने जस् और शस् के स्थान पर इं आदेश विधान किया है। इसी को लक्ष्मीधर (४।२४) मार्कण्डेय (१६) और तर्कवागीश (११) ने भी पुष्ट किया है। इ का पूर्ववर्त्ती स्वर कभी ह्रस्व रह जाता है और कभी दीर्घ और तदनुसार -(अ) इं और -(आ) इं दो रूप हो जाते हैं।

यथा—

जहिं जलइं (जलानि) कयावि न दूसियाइं (दूषितानि)—भ० क० ११५

कमलइं पेल्लवि अलि—उलइं करि गण्डाइं महन्ति (हेम० सूत्रोदाहरण)।

इं <प्रा० भा० आ० नि है। यहाँ नकार का लोप हो जाता है। परन्तु उत्तरवर्त्ती स्वर को आनुनासिक कर देता है।

१. वर्णरत्नाकर भूमिका, अनुच्छेद २६।

लिंग प्रकरण में यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि पुल्लिंग-बहुवचनार्थं नपुंसकलिंग बहुवचन का और न० लिं० बहुवचनार्थ पुं० लिं० बहुवचन का प्रयोग कुछ स्थलो पर लिंगव्यत्यय का उदाहरण है।

करण एकवचन :

अपभ्रंश मे करण कारक का एकवचन संस्कृत करण और अधिकरण विभक्तियो के सम्मिश्रण का परिणाम है। संस्कृत करण में एन और अधिकरण में -ए रूप (गजेन, गजे) रहता है। प्राकृत भाषा के द्वारा अपभ्रंश तक आते-आते न का मूर्धन्यीकरण और ए का ह्रस्वीकरण हो गया। इस प्रकार -एन>एण> इण और अंतिम वर्ण न पर स्वराघात न रहने से वह उच्चारण मे हलन्त होकर अनुस्वार में परिणत हुआ तथा अंत मे अपने समीपवर्ती स्वर को उसने अनुनासिक बना डाला, -एं>एँ>इ>इं।[1] अधिकरण विभक्ति से भी -ए> -एँ>-इं रूप विकास के क्रम मे सभव हैं, पर अनुस्वार लाने के लिये और सानुनासिक बनाने के लिये कोई आधार नही मिलता। इसे या तो आकस्मिक अनुनासिकीकरण मानना पड़ेगा या फिर संस्कृत सर्वनामो के -(अ) स्मिन् रूप के साधारणीकृत -अहि -अहिँ रूपों का प्रभाव।[2]

प्रत्येक रूप का विशद वर्णन करने से पूर्व करण और अधिकरण का अपभ्रंश मे सम्मिश्रण दर्शनीय है। विक्रमोर्वशीय मे करण और अधिकरण के स्पष्ट रूपों की तुलना—

करण	अधिकरण
गइ अणुसारे[3] <गत्यनुसारेण	एत्थ अरण्णे <अत्र अरण्ये
ललिअ पहारे[4] <ललितप्रहारेण	गिरिकाणणए<गिरिकाननके
मिअङ्क सरिसे वअणे[5] <मृगाङ्कसदृशेन वदनेन	कुसुमुज्जलए<कुसुमोज्ज्वलके
ए चिण्हे[6] <अनेन चिह्नेन	

१. ब्लाख और टर्नर ने -एन का रूप ही -एं स्वीकार किया है। देखिये पउमचरिउ भूमिका—(पृ० ६२)

२. हि० आ० अ०—तगारे पृ० ८१, आलोचना के लिये देखिये प० च० भूमिका पृ० ६३। वस्तुत -(अ) स्मिन् से -ए या -इ के विकास की संभावना कम है। सप्तमी स्मिन् ह्निं या म्मिं में परिणत हुआ है। अतः हमने केवल अनुनासिकीकरण में प्रभाव स्वीकार किया है।

३. गइ अणुसारे मइ लङ्घिज्जइ=गत्यनुसारेण मया लङ्घ्यते, विक्र० ४।३४

४. ललिअ पहारे णासिअ तरुवर=ललितप्रहारेण नाशिततरुवरः, विक्र०

५. णिसम्मिहि मिअङ्कसरिसे वअणे=निशामय मृगाङ्कसदृशेन वदनेन, विक्र० २०

६. ए चिण्हे जाणिहिसि=अनेन चिह्नेन ज्ञास्यसि, विक्र० २०

करण मे -ए रूप का विधान लक्ष्मीधर ने स्पष्ट रूप से षड्भाषा. चन्द्रिका ३।४।५ मे किया है।[1] तर्कवागीश ने कल्पतरु मे (१५) भी इसे माना है। श्री तगारे ने व्यर्थ मे लक्ष्मीधर पर यह आरोप लगाया कि लिपिकारो के अनुनासिक चिह्न के छोड़ देने के कारण वे भ्रान्त हो गये।[2] वे तर्कवागीश को इस आरोप से इसलिये मुक्त करते हैं कि प्राच्य अपभ्रश मे निरनुनासिक ए प्रयोग है। वे ऐसा मान लेते हैं कि पश्चिम अपभ्रंश मे अनुनासिकीकरण अनिवार्य है। विक्रमोर्वशीय के उपर्युक्त सभी उदाहरणो मे अनुनासिकता का अभाव है। सभवतः श्री तगारे ने विक्रमोर्वशीय के जिस संस्करण को आधार बनाया हो उसमे अनुनासिक रूप ही हो।

सरह दोहाकोश में भी करण और अधिकरण मे सादृश्य है, कुछ स्थलो पर तो करण और अधिकरण का निर्णय करना कठिन हो जाता है। लक्षणे तृतीया और विषये सप्तमी दोनो को अर्थ मे भी समीप ले आते हैं। दोहाकोश मे -ए और -एँ दोनो प्रयुक्त है, केवल एँ नही।

करण :

कज्जे विरहिअ<कार्येण विरहिताः (२)

अक्खि डहाविअ कडुएँ धूमे<अक्षिणी दग्धापिते कटुकेन धूमेन
लोमुपाडणे अत्थि सिद्धि<लोमोत्पाटेन अस्ति सिद्धि
पिञ्छी गहणे दिट्ठु मोक्ख<पिञ्छीग्रहणेन दृष्ट मोक्ष
उञ्छे भोअणें होइ जान<उञ्छेन भोजनेने भवति ज्ञानम्
किन्तह दीपे किन्तह णेवज्जे<किं तत्र दीपेन किं तत्र नैवेद्य न
णिअ सहाव ण लक्खिअ वालें<निज स्वभाव न लक्षित. बालेन
णिअ मण साच्च सोहिअ जव्वें<निजं मन सत्येन शोधयति यदैव।

अधिकरण :

जइ उआअ उआएँ धाइअ<यदि उपाये धावति—(३२)
अहियाण दोसे ण लक्खिअ तात्त<अभिमानदोषे न लक्षितं तत्त्वम् (३४)
आगें पच्छे दस दिसें<अग्रे पश्चे दश दिशि (दिक्षु)
झाणे जो किअ मोक्खादास<ध्याने यः करोति मोक्षावासम्
पढमे जह आआस विसुद्ध<प्रथमे यदि आकाश विशुद्ध

यही करण और अधिकरण की रूपात्मक एकता की प्रवृत्ति, जो वस्तुतः प्राकृतकाल मे ही प्रारम्भ हो गई थी, अपभ्रश मे निरन्तर बढती गई।

करण के रूपः—

(१) एण आट्टो णानुस्वारी, हेम० ८।४।३४२. एट्टि (हेम० ८।४।३३३, सिंह० १२ क्रम० २४ : मार्कं० २१, पुरु० १७।४६, ल० ४,५)

---

१. टो डिदेत्वमिति केचित्। रामे
२. हि० ग्रा० अ०—तगारे पृ० ११७

दइए पवसन्तेण (हेम०)

जेणऽज्ज सयल सिरिय—स० रा० १.

दोहा पच कहिज्जसु गुरु विणएण सउ—स० रा० ७४.

संदेशरासक मे -एण रूप १० प्रयोगो मे आया है। दवेण, मणेण, णिलएण, महजणेण, सुहजणेण, विणएण, पिएण, सोसणेण (१२६), विरहेण और गुरु मदरेण हैं (११६)। अन्तिम दो तो सर्वथा संस्कृत तत्सम पद हैं। शेष प्राकृत रूप है। ६५ प्रयोगा मे केवल १० एण के हैं।

त कम्मेण केण परमेसर—भ० क० १६।१

ज चितइ मणेण—भ० क० १६।५

अहम्मेण, धम्मेण, कज्जेण, छलेण, वणिवरेण—भ० क० में प्रचुर प्रयोग है।

दूरत्थेण णिसिमरिन्देण सुर वरिन्दो। प० च० १७।१०.

वयणेण तेण करे धणु हरु किउ लुर णन्दणेण १७।८—प० च०, १६ वी संधि के २ और ३ कडवक—प० च० में प्रचुर प्रयोग हैं।

जणेण, सोहणेण—(णा० च०) जेण, विसेय सुहेण, खणेण, तणेण, णिम्मल एण। पा० दो०, अथिरेण, महलेण, णिग्गुणेण, काएण, पा० दो०।

पाहुड दोहा मे 'एण' ही प्राय करण मे प्रयुक्त है।

वस्तुतः -एण का अपभ्रंश मे प्राकृताभास ही समझना चाहिये। महा०, अर्ध माग०, जै० महा०, जै० शौर, शौर०, माग०, पैशा०, चू० पै०, इत्यादि सभी प्राकृतो में यह रूप उपयुक्त है।[1] अपभ्रंश की यह कोई अपनी विशेषता नहीं।

(२) -<-एँण<-एण-इण का प्रयोग प्राकृत मे नहीं। एण का ह्रस्वीकृत रूप -इण अपभ्रंश की अपनी विशेषता है।—(हेम० ८।४४१० से ह्रस्व संभव है)।

संदेशरासक मे इस प्रकार के २० प्रयोग हैं—जैसे निरंतरिण, तरुच्छायतरिण (६४) इत्यादि। करिण, गणहरिण पुण्णोदइण, हरिवलिम—भ० क०

(३) -एण <एण वैयाकरणो मे मार्कण्डेय ने ही १७।२६ मे इस रूप का विधान किया है। महाराष्ट्री प्राकृत मे इसके प्रयोग मिलते हैं।

अपभ्रंश मे भी उसी का अनुसरण है।

केवलेण, दोहएण, हुएण—भ० क०

सीहेण विरुद्धें णं जोइओ गइन्दो—प० च० १७।१०

समरन्दरणेण, सन्दणेण—प० च० १७।८

---

१. प्रा० भा० व्या—पिशल, अनु० ३६३ पृ० ५१५।

जसेण—णा० च०

(४) -ए और -एँ <एन् <एन या सप्तमी -ए की अनुस्वारान्तता और अनुनासिकीकरण.

हेम० ८।४।३३३ और ३४२; ल० ३।४।११, ३।५।५,

त्रिवि० ३।४।५ और ११. सिंह० १२; क्रम० २४; मा० १७

कहुएँ, धूमें, लोभुपाइणें, भोअणें, बालें, साच्चें—दो० को० स०

बवखलोएँ, मंगलतोएँ, कज्जें, कासें, गव्वे, पमत्तें, वाले—भ० क०

राएं घाएं सणेहे, अमरिन्दें साणन्दें, णेरिय-देवें, वरुणें, धरिणेन्दें, ईसाणें—प० च० (२।५)।

गुरु उवएसें,—पा० दो, अत्थें, गुणधम्मे, भावें, भिच्चें—(णा० च०)

जीमें, नाकें, हाथें, जालें, मत्रें—उ० व्य०

(५) -इ या इँ <एँ, -'एँ' का ह्रस्वीकरण।

अवियारिँ, घणवातिँ भविसिँ, परितोसिँ, भ० क०

सुहिं, खणि—णा० च०

(६) -ए लक्ष्मीधर ३।४।५, तर्क० १५

विक्रमोर्वशीय के उदाहरण पूर्वोद्धृत

कज्जे, गहणे, उच्छे, दीपे, णिवज्जे—पा० दो०

धर्मे सब व्यवहार पअट—धर्मेण सर्वो व्यवहार प्रवर्तितः

—उ० व्य०, काने (६।२८)—उ० व्य०

(७) -इ < -एँ < ए.

अवगहि, अद्दहाणि, जणि, पौरि—भ० क०

श्री तगारे ने अधिकरण कारक एक० व० को करण ए० व० में परिणत होने का प्रधान आधार इस -इ रूप के प्रयोग को समझा है। उन्होंने जसहर चरिउ के तीन उदाहरण कालि <कालेन, सुहि <सुखेन, दसणि <दर्शनेन देकर इसकी पूर्व परम्परा स्थापित की है। श्री भायाणी ने इस कथन की कड़ी आलोचना की है। उनके अनुसार शुद्ध पाठ कालि <कालें छन्द की गणना के अनुसार है, सुहि के स्थान पर सुनहु पाठ है, एक ही पाठ शुद्ध है दसणि, वह भी उत्तरकालीन प्रयोग है अतः परम्परा निराधार है। उनका परिणाम है कि ब्लॉख और टर्नर के मत से -एण का ही रूप -ए है न कि सप्तमी के -ए का रूप।

करण बहुवचन

(१)-(अ) हिं सिस्सुपोहिं (हेम० ८।४।३४७, त्रि० ३।४।१६,
ल० ३।४।१६ (अजन्त पुंल्लिग) पुरु० ४३.

(२) -(ए) हिं भिस्येद्वा. हेम० ३।४।३३३, त्रि० ३।४।४, ल० ३।४।४,
सिंह० १३।१४, मार्क० १८।२९, तर्क० ३।२।१२।
अहिं और एहिं रूप का मूल वैदिक भाषा मे ढूंढा जा सकता है।

"सुतेभि॰ सुप्रयसा मादयैते" "असुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम्"
"गम्भीरेभि. पथिभि. पूर्विणेभि." "देवो देवेभिरागमत्"

"अग्निर्देवेभि." इत्यादि प्रयोगो मे अकारान्त से भिस् प्रत्यय ही रह जाता है (पा० बहुलं छन्दसि ७।१।१०) संस्कृत भाषा की तरह ऐस् (अतो भिस् ऐस् -पा० ७।१।९) नही होता। ये ही भिसन्त रूप महा०, अर्ध मा०, जै० मा० और जैन शौ० प्राकृतो में -एहि,-एहिं, एहिँ रूपान्त बन जाते है। प्राकृत मे भ का उच्चारण ह हो जाता है। इस प्रकार -एहिँ <—एहिं <—एहि <—एभि <—एभि. विकास का क्रम है। दूसरा विकासक्रम मूल प्रातिपदिक के अकार मे बिना परिवर्तन किये हुए अँहि <—अहिं <अहि < -(अ) भि है। वेद मे—अभि प्रत्ययान्त प्रयोग नही है। अकारान्त से भिन्न शब्दो के भिसन्त प्रयोग का मिथ्यासादृश्य द्वारा अपभ्रंश मे यह रूपान्तरण हुआ है। व्याख्या का एक और आधार भी विचारणीय है। अपभ्रंश मे हि और हिं का अनेक स्थलो पर प्रयोग है। क्या यह मूल प्रातिपदिक के साथ हि निपात का प्रयोग नही समझा जा सकता ? एकवचन मे वह हि रहता है और बहुवचन में हिं। प्राकृत व्याकरण मे अधिकरण एकवचन मे अकारान्तभिन्न प्रातिपदिको से -हि प्रत्यय ही होता है (हेम० ८।४।३३१ और ८।४।३५३)[1]।

प्रयोग—जइ णउ विसअहिं लीलिअइ—दो० को० १००
बह्मणेहिं, अहरेहिं, कण्णेहिं, खवणेहिं—दो० को०
रायवयल्लहिं, छहरसहिं पचहिं रूवहिं चित्तु—(पा० दो० १३२)
सव्वेहिं, भासुरेहिं, सुरेहिं—प० च० १७।६।
तारेहिं, हारेहिं, रसन्तेहिं, कुण्डलेहिं, फुरन्तेहिं—प० च० १४।६।
बिन्दुअहिं, पुण्णहिं वयणहिं, कुलेहिं दिएहिं—भ० क०
हंसिहिं, णावहिं, तुरगमिहिं किरणुक्कसिहिं, फणिंदिहिं, महाविसिहिं—सं०रा०
सुरवेरेहिं, लोयणेहिं, किंकरेहिं, कुंकुमेहिं। णा० कु० च०

(३)-ए लक्ष्मीधर ने षड्भाषा चन्द्रिका के ३।४।४ की व्याख्या मे "भिसो ङिदेत्वमिति केचित्" लिखकर करण ब० व० मे रामे रूप उदाहृत किया है। तर्कवागीश ने भी ३।२।१२ मे इस नियम का निर्देश किया है। सभवत लक्ष्मीधर "केचित्" से इन्हीं का निर्देश कर रहे हो।

प्रयोग अन्वेषणीय है। एकवचन का मिथ्यासादृश्यात्मक प्रयोग बहुवचन

---

१. देखिये पदान्त में स्वरानुनासिकीकरण पृष्ठ

में भी संभव है जैसे बहुवचन -एहिं और -अहिं का एकवचन में प्रयोग हो जाता है।

अधिकरण एकवचन

करण और अधिकरण के रूपसाम्य के कारण अधिकरण का विचार पहले कर लिया जाता है—

(१)-ए संस्कृत, प्राकृत अधिकरण एकवचन   ङिनेच्च हेम० ८।४।३३४, लक्ष्मीधर तथा त्रिविक्रम ३।४।६, सिंह० २०, क्रम० २८,

—अए < -अके प्रवर्धित रूप तर्क० १५, मार्क० २३, २६।

अरण्णे < अरण्ये, काणण (काणणाए) ए < काननके, कुसुमुज्जलए < कुसुमोज्वलके -(विक्र०)

अभिन्तरे, चित्ते, वद्धें, मुक्के, कमणे, —दो० को०

काले, पाउसे, सम्मत्ते, सोहग्गे; अच्छन्तए, उन्हालए, तित्थेरए—भ० क०।

समए, पाउसे, पत्ते, हियए, —स० रा०, जणे, णरे—णा० च०

(२)-इ < एँ < ए

हेमचन्द्र ८।४।३३४ और उन्ही के अनुसार लक्ष्मीधर और त्रिविक्रम तथा सिंहराज क्रमशः ३।४।६, तथा ५०,

अग्गइ, अट्ठमइ, कालि, गयउरि, पंगुरणि, लोइ, —भ० क०

तिहुयणि, पहिरि, सिवणि, सुविणतरि, सिहरि, घण अतरि ६३ प्रयोग —स० रा०

अग्गि, भुवणयलि, णिम्मलि, सग्गि, णरि—णा० च०

(३)-(ए)—हिं और -(अ) हिं क्रम० २८, तर्क० ३।२।१२ निरनुनासिक हि। णामेहिं (४७), वहिं (१०१), हत्थहि (८६), गुणहि (१०५) चित्तहिं (११६) मरुत्थलिहिं (४४) हिअहिं (१२२)—दो० को०; सुण्णहिं (१५५) वरसिहरिहि, सलिलिहिं (१४४)—स० रा०; गिरिसिहरिहि, कज्जामभिहिं—इ+हि के १२ उदाहरण, पुव्वदिसिहि, एकहिं, अंगहि —पा० दो०, संसारेहिं -ए+हिं—पा० दो० १६१

(४)-एँ मार्क० २३।, क्रम० ५।१३२ :

दोसें, पढमे, णिउत्तणें, चित्तन्तें, अग्गें, पच्छें, बाहरें, मग्गवरें, दन्सणें, वअणें, लोआचारें—इत्यादि प्रचुर प्रयोग दोहाकोश मे हैं।

सानुनासिक—इँ < एँ, प्रवधित रूप—अइँ < अएँ

कीलन्तइँ,, तडतणइ, पकइँ, वयणिँ, वयणइँ, वेलाचलइँ—भ० क०

धम्मिं णट्ठि—पा० दो०, णरकोट्ठइ—णा० च०

(५)-म्मि < म्हि < स्मिन्—सवनाम के साथ प्रयुक्त -स्मिन् के व्यापक प्रयोग का

शौर०, पै० और चूलि० पैशा० प्राकृतों द्वारा अपभ्रंश मे प्राकृताभास रूप।
कालम्मि, गोत्तम्मि, घारम्मि, भाणम्मि, वयणम्मि—भ० क० एआरिसमि, ओयंमि, रहसोयरमि—स० रा०

(६)-अ या शून्य- प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी के निर्विभक्तिक प्रयोग अधिक व्यापक होकर तृतीया और सप्तमी मे भी प्रयुक्त होने लगे हैं। आ० भा० आ० में यह प्रवृत्ति बढती गई है। शून्य के प्रयोग के अतिरिक्त करण और अधिकरण के इ की क्षीणता ने भी -अ को जन्म दिया है,
—अ<—इ< -ऍं< -ए।
दर (२८), जुवलय (५२), सुमण (१८३), मग्ग (१०५), दक्खिण, विओय, पल्लव, घर इत्यादि—सं० रा०। दुआर(३७-२६) कांध (६।२१), गीव (६।२३), सिंहासन (१४।२४) उ० व्य०।

-अँ —अ का ही अनुनासिकीकृत रूप उक्ति व्यक्ति० में प्रयुक्त है—
हाथें (७।१०), खेतें (१३।२२), सरदें रितुं (१५।२४) मसाणें (३४।८१)

-उ —बद्धउ तिहुयणु परिभमइ (पा० दो० १६०) प्रथमा एक० का मिथ्या सादृश्य अथवा स्वरसाम्य का प्रभाव।

अधिकरण बहुवचन :

(१)-(अ) हिं -(इ) हिं, -(ए) हिं
भिस्सुपोर्हि—हेम० ८।४।३४७. (विशिष्ट व्याख्या करण बहु० व० में देखिये)—तृतीया बहुवचन के समान अकार को एकार नही होता। यद्यपि करण के अनुरूप अधिकरण में और अधिकरण के अनुरूप करण में प्रयोग हो जाने से -एहिं और -आहिं दोनो में प्राप्त होते हैं।
-एहिं का ह्रस्वीकृत रूप -(इ) हिं है।
दस दिसहिं, विसअहिं—दो० को०
पुक्खरिहिं, (१४१) दह दिसहिं (१४४) इत्यादि १४ प्रयोग—सं० रा०।
सव्वहिं राअहिं, छह रसहिं, पचहिं रूवहिं चित्तु—पा० दो० (१०१) वहूणहिं —भ०क० तरगहिं (णा० च० ३।८।७), दियतहिं (णा० च० १।१३।६)

(२)-एँ एकवचन के सादृश्य पर बहुवचन मे भी प्रयोग। यथा—दस दिसें (दो० को०)

(३)-अ या शून्य रूप—अधि० एक० व० के समान बहुवचन में भी प्रयुक्त हो जाता है।
चरण (स० रा० २७)

-अँ या अनुनासिकीकृत रूप—सबहिं भूतें दया करु (उ० व्य० ६।३०) ओढें कामठें (उ० व्य० ३६।१०)

अपादान कारक एकवचन

(१) -हे क० सेहेंहूं (हेम० ८।४।३३६), पुरु० १७।४४, सिंह० १२ ल०, और त्रि० ४।७, क्रम० ३०, तर्क १२, मा० १७,। जोअन्तहें वि निहेलणनाहहु— कुमारपाल च० ८।१६) वण—वणिमहें, सुह—वणिमहें, उज्जहें, दुग्गेज्झहें -प० च०।

(२) -हु<हो हेम० ८।४।३३६, ल० और त्रि० ४।७, सिंह० १२। दोसहु (६।२१।१२) वंचणमइहु (३।२१।८) -भ० क० विजयनरहु (सं० रा० २।१।) वडवानलहु (स० रा० २।७९) इत्यादि ४ प्रयोग-सं० रा०। वच्छहु गृह्णइ (हेम०)।

(३) -हो (पुरु० १७।४४, क्रम० ३० तर्क० १२।१५, मा० १९) हेम० ने इसे षष्ठी विभक्ति का चिह्न ही स्वीकृत किया है। धीरे-धीरे अपादान और संबन्ध एकाकार होने से -हो का प्रयोग भी अपादान मे होने लगा। धीर वि णर णट्ठा रणे रायहो, जलहितरंग णाइं गिरिरायहो (णा० च० ८।२।१०) सग्गहो पडियउ, केलासहो होतउ (णा० च० ३।१५।१३) अदत्त दाणहो (५।१५।५), जंपाणहो (८।५।२), तमरहो (६।१६।२) परदेसहो (८।१।५), सणेहहो (८।५।२) -भ० क०।

-ए तर्कवागीश ने पचमी का विभक्ति चिह्न बताया है। (१५)। इसका अपभ्रंश मे विरल प्रयोग है। सरह के दोहाकोश मे सानुनासिक प्रयोग हैं—णिअ मण दोसें ण वाजइ वालो=निज मग दोषात् न वर्जयति बाल.; अहिमाण दोसें ण लक्खिअ तात्त=अभिमान दोषात् न लक्ष्यते तत्त्वम्; हे तो पचमी। तृतीया का -एँ रूप ही अपादानार्थ में प्रयुक्त समझा जा सकता है। इस तरह का उपयोग उत्तरकालीन पउमचरिउ मे भी मिलता है—

अण्णेहिं किय णिविंत्ति अण्णेकहिं=अन्यै कृता निवृत्ति. अनेकेभ्य.। आ०भा० आ० हिन्दी मे "से" परसर्ग करण और अपादान दोनो का चिह्न है। श्री तगारे को कोई एकारान्त प्रयोग नही मिल सका अत. उन्होंने इसे उपेक्षणीय माना और वैयाकरण का आविष्कार समझा।[1]

-अहु कृत क्रमदीश्वर ने अपादान का प्रत्यय -अहु बताया है। यह शौरसेनी और मागधी -अहो का ह्रस्वीकृत रूप है या अर्धमागधी का ही -अहु रूप है। अपभ्रंश में प्रयोग अन्वेपणीय है।

सरह के दोहाकोश मे -ह और -हि का भी प्रयोग आपादान अर्थ में उपलब्ध है।[2]

---

१. हि० ग्रा० अ०—तगारे पृ० १२९

२. दोहाकोश—राहुल सांकृत्यायन, भूमिका पृष्ठ ५१।

गुरु आएसहं एउ विआत (२८)=गुरोरादेशात् एतद्विज्ञातम्, तव्वें भव—णिव्वाणहिं मुक्कम (३२)=तदैव भवनिर्वाणात् मुच्यते ।
जोइय भिण्णउ भाय तुहुं देहहं ते अप्पाणु=योगिन् भिन्न ध्याय त्वं देहात् तवात्मानम् । इस पाहुड दोहा (१२६) तथा "णिय देहह परमत्थु" (१२८) मे -हं का प्रयोग अपादानार्थक है ।

अपादान बहुवचन

-हुं भ्यसो हु (हेम० ८।४।३३७, ल० त्रि० ४।८, सिंह० १६, क्र० ५।२६, तर्क० १३, मार्क० २०) जिह गिरि सिङ्गहु पडिअ सिल (हेम०)
अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपादान बहुवचन हु और सबन्ध बहुवचन हं का भेद नही किया जाता था । हं का ही प्रयोग सर्वत्र प्राप्त है । हु का प्रयोग अपभ्रंश मे विरल है । प्राच्य क्षेत्र मे तो इसका सर्वत्र अभाव है । हरिवंश में अहु के ६ प्रयोग उपलब्ध हैं परन्तु उनका रूप सदेहास्पद है ।[1] शेष साहित्य मे यह अनुपलब्ध ही है । मार्क० और तर्क० ने (२० और १३) मे) अपादान मे हं की स्थिति भी स्वीकार करके दोनों का सम्मिश्रण स्पष्ट कर दिया है । हुं का मूल प्राकृत मे उपलब्ध नही होता । प्राकृत मे सुंतो, हिंतो, -हिं, -आओ, -आउ और -अत्तो प्रत्यय हैं । पिशल ने प्रा० भा० आ० द्विवचन "भ्याम्" से इसको ढूंढने का प्रयास किया है ।[2] परन्तु कठिनता -याम् को उं में परिवर्तित करने मे होती है । ब्लाख ने सबन्ध के हं और हं के सादृश्य पर अपादान मे हु और हु की कल्पना की है । इन सब कल्पनाओ से पूरा सतोष नही होता । निपातो के योग से विभक्ति बनने की धारणा को इस सबसे बल मिलता है ।

संप्रदान-संबन्ध, षष्ठी विभक्ति एक वचन

संप्रदान प्राकृतकाल मे ही सबन्ध मे समाविष्ट हो गया था । अपादान का भी शनैः शनैः इसी मे अन्तर्भाव होता गया । उपर्युक्त अपादानार्थ प्रत्यय सबन्धार्थ प्रत्ययो के समीपवर्ती हैं या एकरूप हैं ।

(१)-सु ङस सु—हो-स्सव (हेम० ८।४।३३८), ल० और त्रि० ४।६, सिंह० १५, क्रम० ३१, तर्क० १४, ।
परमेसरासु—भ० क०, जयंघरासु -णा० च०

(२)-हो हेम० ८।४।३३७, ल० और त्रि० ४।६, सिंह० १५ क्रम० ३१ तर्क० ३१ ।
बहुलहो चक्क फिरन्ते (दो० को० ४८) कुलहरहो, जणहो, णरहो, घणहो, भविसत्तहो, हरियत्तहो, भ० क० । पलित्तहो, रत्तहो, फेडन्तहो, डहन्तहो,

---

१. हरिवंश पुराण की भूमिका—पृ० १४४
२. प्रा० भा० व्या०—पिशल अनु० ३६६

हरन्तहों—इत्यादि ७।२,—भण्डारहों, जिणेसरहों, हरहो आदि १।१, पडिवक्खहो, महरक्खहो, थाणहो—इत्यादि ५।१०, पउमचरिउ में सामान्यत. -हो का निरपवाद प्रयोग। परमेसरहो (४९) देहहो (३४) पा० दो०, दुद्धहो, भट्टगारहो, तंबारहो (णा० च० ३।२) भासिय सम्महो, समागमहो, दीविय दिप्पइहो, रविप्पहहो (म० पु० २९।५) णरणाहहो—णा० च०।

-हु <हो, ह्रस्वीकृत रूप—कालहु तणअ (दो० को० ५७)

या हु <स्सु बालहु, सम्पुरिसहु—भ० क०, मेटहु जेट्ठ, विश्वकर्महुँ मेल -की० ल० अरिछवग्गाहु—णा० च०।

(३)-स्सु <स्स <स्य हेम० ८।४।३३७, ल० और त्रि० ४१६, सिंह० १५,। तो निरु सव्वसु वि। कु० पा० च० ८।१७।

(४)-स्स >स्य—क्रम० ३१, मार्क० २९। लोयस्स—भ० क०, मीरसेणस्स -सं० रा० मणस्स, कस्स -पा० दो०, राअस्स, णायस्स, दणुयस्स, मणुयस्स -णा० च०।

(५)-(अ) ह <स <स्स <स्य—तर्क ७

परलोअह, सुअलोअह (४८)—भ० क०, इक्किक्कह, भणंतह, तह, सरीरह (१३९), सुसंतह, कुसंतह (९५) -सं० रा०।

चित्तह पसर णिरंतर देक्खी (दो० को० ८१) गउ निय -य-न-नयह कुन्नुमणु, गुरुयणह कुमारिं कहिय बत्त (प० सि० च० ४।२।३) रज्जह नीति (की० ल० २।३३), लोअह सम्मदे (की० ल० २।१७८) राअह नन्दन (की० ल० २।५२)

ह का प्रयोग अपभ्रंश मे पर्याप्त है। आश्चर्य का विषय है कि हेमचन्द्र ने इसका विधान नही किया।

(६)-अ या शून्य षष्ठ्या (हेम० ८।४।३४५), सिंह० १७ ल० और त्रि० ४।१६। हेमचन्द्र ने षष्ठी विभक्ति का प्राय: लोप विधान किया है। अपभ्रंश में शनैः शनैः यह प्रवृत्ति बढती गई। क्योकि "शेषे षष्ठी" प्राय सवत्र सभव थी अतः निर्विभक्तिक या शून्य प्रयोग व्यापक होते गये। प्राच्य क्षेत्र के अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बहुत पहले से थी। पश्चिम क्षेत्र मे -हो या उससे सम्बन्ध प्रत्यय ही अधिक प्रयुक्त होते थे। (देखिये कर्त्ता, कर्म मे शून्य प्रयोग)।

पवमत (७०)=पवसंतह, सुमरंत (६८), जत—मह (१०९) गिरंत—पढतह (१५७), सुमरंत—णियतह (१५८) अलहत (१९१) पिय (=प्रियस्य) विरत्तु हुई चित्त (१०१), णिद्दय (=निर्दयस्य) किं पि भरौं (९५) -स० रा०। जिय जल मज्झें चन्दडा (११८) णिअ मण दोसेंण बाजइ वालो (३३) अहियाण दोसेंण लविक्खअ ताए (दो० को० ३९)

(७) -हि देहहि उब्भइ जरमरणु, देहहिं वण्ण विचित्त;
देहहो रोया जाणि तुहु देहहि लिंगइं मित्त ॥ (पा० दो० ३४)
-हि कालहि पवणहि रविससिहि चहु एकट्ठइं वासु (पा० दो० २१६)

(८-११) तर्कवागीश ने उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त -हे (१३)—हस्सु (१४) -हं (१३), -हुं (१३) प्रत्ययों का भी विधान किया है। इनमें से -हे अपादान का चिह्न है जो सम्बन्ध से एकाकार होने पर तदर्थ भी उपयुक्त हो जाता है। हस्सु <ह+स्सु का सम्मिश्रण है या मध्यवर्त्ती ह श्रुति का परिणाम है। -ह और -हु ये दोनो बहुवचनार्थ प्रत्यय हैं। बहुवचन का भी कदाचित् एकवचनार्थ प्रयोग होने के कारण इनकी गणना कर ली गई है। संबन्ध कारक केवल संबन्ध, अपादान और सम्प्रदान के लिए ही नहीं अपितु कर्म के लिए भी प्रयुक्त होता था जैसे जसहर चरिउ के प्रथम श्लोक में—
तिहुवण सिरिकंतहो अइस भमवंतहो अरहतहो महवम्महो।
पणविवि परमेट्ठिहि पविमल दिट्ठिहि चरण जुयल णय सयमहहो ॥
महापुराण की ३८ वी संधि के प्रारम्भ में—
बभहु बभालयसामियहु ईसहु ईसदवहु
अजियहु जियकामहु कामयहु पणविवि परमजिणिदहु ॥
यह भी ध्यान देने की बात है कि एक ही कवि पुष्पदंत ने हो, हु और हि तीनो का प्रयोग एतदर्थ किया है।
करण के लिए भी सवन्ध का प्रयोग है—मणु मणहो मिलिउ करु करहो मिलिउ (णा० छ० १।१८।६)=मन मनसा मिलितं कर करेण मिलितम्। कहा जा सकता है कि षष्ठी विभक्ति सामान्य विभक्ति का रूप ले चली थी।

-सम्बन्ध बहुवचन

-ह आमो हं हेम० ८।४।३३९ ल०, त्रि० ४।१० सिह० १६, क्र० ३२ तर्क० ३।२।१४, पु० ४५)
एक्कमिक्कु ववसाउ करतहं समसाहिट्ठिउ भइ भरंतह (म० क० ३।११।१)
मि तिहुअण—परमेसरहं। (प० च० १।१।१५)
तित्थइ तित्थ भमयतह (पा० दो०) छिल्लउ होहि म इदियहं।
(पा० दो० ४३)

को रक्खइ वलवतह सरणहं (णा० च० ५।३।४) परमाउसु जिण हरि बल रायह (म० पु० ११।६।८) पउत्तु कुणंतह, मतावनतह (ज० च० ३।३६।१४) करहि पुज्ज गुरुसुरवरह, देहि दाणु मुणिदियवरहं (प० सि० च० १।५।६८)

अपभ्रंश मे -ह ही प्रधानत सम्बन्ध बहुवचन प्रत्यय स्वीकृत है। इसके विकास का क्रम प्रा० भा० आ० सर्वनाम मे प्रयुक्त और प्राकृत में अन्यत्र गृहीत—

-षां > सा > सं > हं है।

-हुं (पुरु० ४५)

यह अपादान बहुवचन मे दिखाया जा चुका है कि हु और हं का अभेद हो चला था। पुरुषोत्तम ने इसे समझ कर हं और हुं दोनो का विधान किया। दोनों किस तरह मिलते हैं या उनके प्रयोग मे किस तरह अव्यवस्था है इसका अच्छा उदाहरण प० च० की तीसरी संधि का तेरहवाँ कडवक है। मुद्रित पाठ है—

मालूरपवरथणाहँ छण्णवइ सहास वराङ्गणाहँ—२

तहो दह -पञ्चासउ णन्दणाहुं, चउरासी लक्खइं सन्दणाहु—३

अगली चतुर्थ पंक्ति मे गयवराहुं, हयवराहु कह कर बाद मे पाचवी पंक्ति मे वरवेणुवाहँ, णराहिवाहँ पाठ दिया है इसके अनन्तर मण्डलाहुं और हलाहुं से छठे पद्य की समाप्ति है। विभिन्न पाठभेदो मे भी अपने मे एकरूपता नही, अगर एक स्थान पर हं दिया है तो दूसरी जगह हु कर दिया है। इस उदाहरण मे यह उल्लेखनीय है कि हं या हुं से पूर्व अकार को दीर्घ कर दिया गया है और स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनो मे एक से रूप हैं। तर्कवागीश ने भी हं और हुं दोनो के प्रयोग की सरणि का अनुभव करते हुए नियम दिया—

आमस्तु हं नु, वणहं बहूहं

प्रयुज्यते, केऽप्यपरे बहूहुं ॥ १४ ॥

उदाहरण में वणहं और वहूहं के साथ वहूहुं भी दिया।

-हं प्राच्य क्षेत्र मे और सुदूर पश्चिमोत्तर मे हं प्रत्यय का उपयोग है। इसे एकवचन का बहुवचन मे प्रसार समझा जा सकता है।

जैसे—जरामरणहं, तुरङ्गहं, नितम्बहं (दो० को०)

फणिंदहं, निम्मलचंदहं; णवसरयहं (स रा० १६०, १६१)

-शून्य प्रयोग अर्थात् विभक्ति शून्य अकारान्त रूप (हेम० ८।४।३४५) और ल० ४।१०)।

अइमत्तहं चत्तकुसहं गय कुम्भइं दारन्तु (हेम० उदा०)

इसमे गय सम्बन्ध बहुवचन का प्रयोग है जिसके विशेषणो मे बहुवचन की विभक्ति का उपयोग है। यह शून्य प्रयोग, जैसा पहले देख आये है, प्राच्य प्रदेश में प्रायः चलता रहा है। पश्चिमी क्षेत्र मे विभक्ति का ही प्रयोग है।

-आणं < प्रा० भा० आ०, आणाम्, आनाम्।

प्राकृत प्रभाव से—आण का प्रयोग भी प्राप्त होता है।

पुरोहो णिरोहो व्व भीमावयाण णिवासो पयासो पयासपयाणं। (महापुराण १२।४।५)

खवणान (दो० को० स०—८) मे -आण के स्थान पर आन ही विभक्त्यन्त है।

स्त्रीलिंग अकारान्त या आकारान्त रूप

ह्रस्वीकरण प्रक्रिया से स्त्रीलिंग के दीर्घान्त शब्द प्राय ह्रस्वान्त हो जाते हैं— यद्यपि दीर्घान्त शब्द भी प्रयुक्त होते रहते हैं।[1] ह्रस्व अकारान्त होने पर भी स्त्रीलिंग के रूप सर्वथा पुल्लिग की तरह नही हैं। हेमचन्द्र के आधार पर एक शब्द के उदाहरण से यह स्पष्ट हो सकेगा—

कह=कहा (कथा)

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	कह, कहा	कहाउ, कहाओ
कर्म	कह, कहा	कहाउ, कहाओ
करण	कहए (कहइ)	कहहिं
अपादान	कहहे (कहहि)	कहहु
संबन्ध	कहहे (कहहि)	कहहु
अधिकरण	कहहिं	कहहिं
संबोधन	कह, कहा	कह, कहा, कहहो, कहाहो

कर्त्ता और कर्म के पुल्लिग एकवचन मे शून्य प्रयोग के अतिरिक्त -उ और -ओ विभक्त्यन्त भी प्रयुक्त होते हैं परन्तु स्त्रीलिंग में केवल शून्य प्रयोग हैं, यद्यपि कहीं-कहीं -उ का प्रयोग भी प्राप्त है।[2] इसके विपरीत बहुवचन मे स्त्रीलिंग ने शून्य प्रयोग छोड़कर -उ और -ओ विभक्त्यन्त ले लिये हैं जबकि पुल्लिग में शून्य प्रयोग ही प्रयुक्त होते हैं (हेम० ८।४।३४८, तर्क० ३।२।११. मार्क० १५)। स्त्रीलिंग मे रूपो मे और भी सरलता हो गई है। करण एकवचन मे -ए (या उसका ह्रस्वीकृत -इ कहीं कहीं) प्रयुक्त होता है (हेम० ८।४।३४९), जब कि पु० लि० मे -एं, एण इत्यादि भी विकल्प थे। करण बहुवचन में कोई भेद नही। अपादान और सम्बन्ध के एकवचन मे -हे (हेम० ८।४।३५०) और बहुवचन मे -हु (हेम० ८।४।३५१) का प्रयोग है। एकवचन मे हु और बहुवचन में हु और ह के रूप कार्य मे नहीं आये। अधिकरण एकवचन मे भी -ए और -इ के स्थान पर स्त्रीलिंग मे हिं (८।४।३५२) और उसी का अनुस्वारान्त रूप हिं बहुवचन मे प्रयुक्त होता है। यो तर्क वागीश ने बहुवचन मे इससे अत्यधिक भिन्नता प्रदर्शित की है। उनकी सम्मति मे अपादान और सम्बन्ध के बहुवचन मे (चाहे पु० लि० हो या स्त्री लि०) ह और हु तथा सम्बन्ध

---

१. देखिये ह्रस्वीकरण प्र० और शब्द रचना स्त्री प्रत्यय प्र०

२. तर्कवागीश ने स्पष्ट नियम दिया—

"स्त्रया सुपो लुक्, प्रकृतेश्च ह्रस्व स्याद्वा न वा" ···३।२।८, अर्थात् स्त्रीलिंग में सु_ का लोप और प्रकृति का ह्रस्व, विकल्प होता है। तदनन्तर ग्रहान्यतोऽपि क्वचिद्_उ प्रयोज्यो

"राहीउ बालाउ जुवाण कण्हु" ३।२।१०

"राहीउ बालाउ=राधा बाला"।

में हं होता है। हम पहले भी देख चुके हैं कि साहित्य मे हं और हुं के प्रयोग हैं तथा एकवचन के रूप मे अनुस्वार की योजना से बहुवचन बनाने की पद्धति है (देखिये अनुस्वार प्रकरण। अतः तर्कवागीश का कथन युक्तिसंगत है। उन्होंने स्त्रीलिंग के णईहं, बहुहुं (अपा० तथा संब० ब० व०) और बहूहं (संब० ब० व०) स्त्रीलिंग के उदाहरण दिये हैं। स्त्रीलिंग अकारान्त शब्द के रूप को ही अन्य स्वरान्तों मे भी आधार माना गया है। इस आधार पर प्रत्यय-व्यवस्था निम्न है—

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	शून्य, -उ	-उ, -ओ
कर्म	शून्य, -उ	-उ, -ओ
करण	ए	हिं
अपादान	हे, (हो, तर्क०)	हं हुं
संबन्ध	हे, (हो, तर्क०)	हं, हुं
अधिकरण	हि	हिं
संबोधन	शून्य	शून्य, -हो

विभक्तियों और प्रत्ययो का विकास पुल्लिंग अकारान्त शब्द के रूपों की व्याख्या से ही गतार्थ हैं। विभक्ति प्रत्ययो का स्वरूप दोनो जगह एक ही है।

	प्रत्यय	प्रयोग
	कर्त्ता और कर्म शून्य ए० व०	तसु गेणिहि नामिं चंदलेह (चन्द्रलेखा) कंचणवन्न देह (काञ्चनवर्णदेहा) प० सि० च० २।१।५। पूरिय हिय इच्छा आणवडिच्छा—आकारान्त शब्द णिद्ध, मुक्ख, वाय, कत, मुंडमाला, सेलिंदबाला।
	ब० व०—(अ)उ, (आ) उ	—महिल उणउ मुणंति (३।११।३) धीयउ कंदप्पहो दिण्णउ (३।७।१६) एंतु पियाउ (३।७।१३) —प० सि० च०
करण	एक० व० -इ, -ए	—हसलीलाइ, दाढाइ मुद्धए, वालियाए, कण्णए, अण्णेकए।
	ब० व० हिं	—वीयहिं
संबन्ध	एक० व० हे० (हि)	—कलहे, धीयहे, भामहे, ता दुट्ठहि किं सिर-कमलु लेविं—ततृ दुष्टाया. किं शिरः-कमलं गृहणीयाम्। प० सि०च०
	ब० व० हं, हुं, आण	—अच्छाहुं, महिलहुं, विलयाण

लक्खाइं (णा० च० २।२६)
अइनिगुणहु गुरुयणहारियाहं मोहिज्जइ
कोवि न भरियाहं प० सि० च०=
अतिनिर्गुणानां गुरुस्तनहारिकाणां
मुह्यते कोऽपि न भार्याणाम्।

अधिकरण ए० व० इ —दिसि
संबोधन ए० व० —सीलु धारेहि वच्छि=शीलं धारय
वत्से। प्राकृत प्रभाव से वच्छि<
वच्छे<वत्से।

इकारान्त और उकारान्त पुं० लि० और न० लि० शब्द

कर्त्ता और कर्म मे शून्य अर्थात् निर्विभक्तिक प्रयोग होता है (केवल विकल्प से ह्रस्व को दीर्घ हो जाता है—जैसे—गिरि, गिरी (हेम० ८।४।३४४)

करण एकवचन मे -एं, ण, ०, (हेम० ८।४।३४३)
जैसे—गिरिएं, गिरिण, गिरिं

करण बहुवचन मे— -हिं यथापूर्व (हेम० ८।४।३४७)
जैसे—गिरिहिं

अपादान एकवचन में -हे (हेम० ८।४।३४१)
जैसे—गिरिहे

अपादान बहुवचन मे—हुं (हेम० ८।४।३४१)
जैसे—गिरिहुं

सबन्ध एकवचन मे -शून्य, हे, हु, ए (तर्क० ३।२।१४)
जैसे—गिरि, गिरिहे, गिरिहु, गिरिए

सबन्ध बहुवचन में -शून्य, हु, हुं (हेम० ८।४।३४५ और ३४०) तर्क० ३।२।१४
जैसे—गिरि, गिरिहु, गिरिहुं

अधिकरण एकवचन में -हि (हेम० ८।४।३४१) जैसे—गिरिहि

अधिकरण बहुवचन मे -हु हेम० ८।४।३४० मे प्रायोधिकार से सुप् को भी हुं
जैसे—गिरिहुं

सबोधन एकवचन में —शून्य जैसे—गिरि, गिरी

सबोधन बहुवचन में —शून्य और हो,
जैसे—गिरि, गिरी, गिरिहो।

तर्कवागीश (३।२।१६) और मार्कण्डेय (२४) तृतीया एकवचन में -एण भी प्रत्यय का योग करते हैं—

उदाहरण असिएण=असिना और परसुएण=परशुना दिये गये हैं। इसी प्रकार बहुवचन मे -एहिं प्रत्यय जैसे—"असिएहिं जेण विइण्ण मच्च इसुएहिं"

तासु"=असिभि येन विदीर्णः मृत्युः इषुभिस्तस्य, यह उदाहरण दिया गया है।

सम्बन्ध एकवचन मे हेमचन्द्र ने कुछ विशेष प्रतिपादन नही किया है और तदनुसार केवल विभक्तिलोप ही रह जाता है, परन्तु तर्कवागीश ने इसे ए, हु और हे जोड़कर पूरा किया है।[1]

अपभ्रंश मे इकारान्त और उकारान्त शब्द स्वल्प है। मुणि, सूरि, अंजलि, पइ आदि कुछ इकारान्त तत्सम और तद्भव शब्दो को छोड़कर व्यंजन-लोप से बने करि, ससि, केसरि, वणि इत्यादि शब्द हैं। इसी प्रकार वाउ, पहु आदि।

उदाहरण—

कर्त्ता और कर्म शून्य प्रयोग—हत्थि ण होई=हस्ती न भवति (णा०च० ३।१६।१२)
—मुणि वदिवि=मुनिं वन्दित्वा (णा० च० १।१२१)
—पहु सरइ थुथाई=प्रभुः स्मरति स्तौति (णा०च० १।११८)
—पणवेप्पिणु पंचगुरु=प्रणम्य पंचगुरून् (णा०च० १।१।१)

कर्त्ता ए० व० —विहरन्तु महामुणि धम्मघोसु=विहरन् महामुनिः धर्मघोष। —प० सि० च०

कर्म ए० व० —पणमेवि सूरि वदति साहु=प्रणम्य सूरिं वन्दन्ते —सर्वे प० सि० च०

करण ए० व० णा० —मुणिणा, वणिणा, पहुणा

ब० व० हिं —गुणेहिं, रमणकोडिहिं

-हि —कन्नजलिहि पियहु जिण वयणइं=कर्णाञ्जलिभिः पिवत जिन—वचनानि।

संबन्ध ए० व० -हुं, हे —णियगुरुहु, वइरिहुं, पहुहे

-हि —कयमडण जती पइहि पासि=कृतमण्डना यान्ती पत्युः पार्श्वे।

ब० व० हिं —जिनमुणिहिं मणु रावइ

अधिकरण ए० व०—हे, हि—सुरगिरिहे (१।३।१४), उभयगिरिहि (१।८८)
—पइहि (ह्रस्वीकृत)>पइहे।

इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्द—

स्त्रीलिंग अकारान्त शब्द के लिए जो प्रत्यय दिये गये हैं, वही इनमें भी प्रयुक्त होते हैं। तर्कवागीश (३।२।१७) और मार्कण्डेय (२६) ने अधिकरण एकवचन मे -ए प्रत्यय का विधान कर -णइए -बहूए उदाहरण दिये हैं।

संबोधन में -हे की और वृद्धि करके -बहूहे उदाहरण दिया है (तर्क० ३।२।१७, और मा० २७)

---

१. ईद् क्त ए वा ङः, विभाषितो हे। प्रा० क० ३।२।१४

कारक—प्रत्यय	उदाहरण
कर्ता कर्म ए० व० शून्य	—मणोहरि, कुलउत्ती, मोइणि
कर्ता ए० व० शून्य	—तुहु अम्हहु सरसइ (सरस्वती), जयन्ति (जयंती) सावित्ति (सावित्री) गउरि (गौरी) भयवइ (भगवती) (प० सि० च० १।५, ६४, ६५) सर्वत्र ह्रस्वीकृत रूप ।
कर्म ए० व० शून्य	—मुणिवरहु वाणि विसुणेविणु=मुनिवरस्य वाणीं नि श्रुत्य—
कर्ता, कर्म ब० व० -(इ) उ, (ई) उ	—पचवि गईउ (१।१२।३) हारावलिउ, किंकिणिउ, विलासिणिउ ।
करण ए० व०—इ, ए	—जयमईए, पहुमत्तिए, कतीए, पउलोमीए ।
-ए	—जसवंइ करि लेविणि तिए वुत्त=यशोमती करे गृहीत्वा तयोक्ता (प० सि० च०)
करण ब० व०—हिं	—घरिणिहिं, करिणिहिं, देविहिं, ब्रहिणिहिं
-हि	—निय सहिहि पयच्छइ सामि हत्थ=निजसखिभि प्रयच्छति स्वामिहस्ते ।
संबन्ध ए० व०—हे	—सुंदरिहे, जणणिहे, मुत्तिहे, गच्छतिहे—णा० च० विहट्टिहे, नाविहे, करिणिहे, गणियारिहे—प० च०
-हिं	—सेड्ढिहिं, महिहिं, पुरिहिं रमणिहिं—प०च०
सबन्ध ए० व०—हि (ह्रस्वीकृत) > हे	—पाडेमि सीसि जसवइहि वज्जु=पातयामि शीर्षे यशोवत्याः वज्रम् प० सि० च०
ब० व०—हं, हुं	—जुवइहुं (णा० च०)
-हिं	—परमेसरिहिं, सरिहिं, सेड्ढिहिं, कमलिणिहिं
अधिकरण ए० व०—इ, हे	—कुसुम मजरिहे (२।१.६)
-हि	—तोहि घर पालतिहि जाइ कालु=तस्यां गृह पालयन्त्या याति काल. ।
संबोधन एकवचन	—मं रोयहि घणसिरि (प० सि० च० १।५।६३) पुत्ति,

परसर्ग

विभक्तिप्रधान प्रा० भा० आ० मे नाम का आख्यात से सम्बन्ध निरूपण का कार्य कारक विभक्तियाँ करती थी । उन विभक्तियो के रहते भी आवश्यकतानुसार

कर्मप्रवचनीयो और निपातो या परसर्गों का उपयोग हो जाया करता था। षष्ठी विभक्ति सबन्धमात्र का बोध भी करने लगी तो विशेष-संबध-बोधनार्थ अन्य शब्दों के साहचर्य की अपेक्षा हुई। समास मे विभक्ति का लोप होने से निर्विभक्तिक शब्दों के साथ भी उन विशेषार्थबोधक शब्दो का योग हुआ। पचतन्त्र के 'यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्ये आत्मन. प्रतिबिम्ब ददर्श' 'भासुरकसमीपं प्राप्तः' 'अर्थस्य कृते सकलं प्रणष्टम्' इत्यादि वाक्यो मे 'उपरि' 'मध्ये' 'समीपं' 'कृते' विशिष्टार्थबोधक हैं। पालिभाषा मे 'गोतमस्य सन्तिके' 'निब्बाण सन्तिके' उदाहरण हैं। अपभ्रश मे धीरे-धीरे विभक्तियो के क्षीण होने से परसर्ग की अपेक्षा और बढ गई। आ०भा०आ० विशेषतः हिन्दी मे कारक विभक्तियो का स्थान परसर्गों ने ले लिया। हेमचन्द्र ने ८।४।४२५ मे तादर्थ्य द्योत्य होने पर प्रयुक्त केहिं तेहिं आदि की निपात सज्ञा दी है। निपातो को अव्यय कहा गया है।[1] अपभ्रश मे प्रयुक्त निपात या परसर्ग प्रारम्भ में अन्य निपातो की तरह विभिन्न लिंगो, विभक्तियो और वचनो मे भी प्रयुक्त होते रहे हैं पर शनै. शनै सर्वथा 'असत्ववाची' वनकर और 'असर्वविभक्ति' रूप लेकर अव्यय की कोटि मे आ गये। अपभ्रंश मे मुख्यत उपयुक्त निम्न परसर्ग हैं—

करणार्थ परसर्ग—

सउँ<सवँ (हेम० ८।४।३९७) <समम् -भ० क० में सउं और निरनुनासिक सउ दोनो प्रयोग हैं।

समउ<समकम् परिवर्धित रूप (सम+क)—जे पिव तेण समउ पव्वइया—(प० च० २।१२।२)

समाणु<समान—हेमचन्द्र ८।४।४१८ मे समम् को समाणु आदेश किया है।

जैसे 'तेण समाणु सणेहे लद्धा (प० च० २।११।७),

सहुँ<सह—सानुनासिक सहुँ और सहु दोनो के प्रयोग प० सि० चरिउ मे हैं—जैसे सहु सुयसालि—१।१७, छिन्नजइ सहुँ होट्ठेण नक्कु १।१४६, भ० क० मे सहुँ, प० च० मे सहुँ और सहु।

सरिस<सदृश—(सार्वनामिक विशेषण से संपन्न क्रियाविशेषण) दो० को० स० में सरिस और सरीस दोनों का प्रयोग है। भ० क०, प० च०, सं० रा०, आदि मे प्रयुक्त।

सवो<सओ<सवँ<समम्—कीर्त्तिलता मे सउ का ओकारान्त रूप सओ है जो लेखन पद्धति मे सवो है। 'भाविनी जीवन मानसवो।'

सवो के अतिरिक्त सनो और से का भी कीर्त्तिलता में प्रयोग है। आ० भा०

---

१. स्वरादिर्निपातमव्ययम्-पाणिनि १।१।३७

आ० मे स्यो सर्ओं सो और से इसी परम्परा मे प्रसूत हैं।

संप्रदानार्थक परसर्ग (तादर्थ्य)

केहिं—हेम० (८।४।४२५) तउ केहिं पिय=तव कृते प्रिय। सर्वनाम किम् की अपभ्रंश प्रकृति क के तृतीया रूप कें+हिं<केन+हि से सपन्न।

किहँ—(उ० व्य०) चटर्जी ने कृत>किअ>किह या सभावित अधिकरण रूप किअ+हिं>किहइँ>किहँ बताया है। वस्तुत. यह भी किं का ही रूप है, कथ=किह (हेम० ८।४।४०१) और तादर्थ्य मे प्रयुक्त हो गया है।

तेहिं—(८।४।४२५) केहिं की तरह तत् से सपन्न तें+हिं<तेन+हि। रेसि और रेसिं (हेम० ८।४।४२५) सर्वथा देशी निपात प्रतीत होते हैं। 'अन्नहि रेसिं'।

तणेण—(हेम० ८।४।४२५) वहुतणहो तणेण (हेम० ३६६ उदा०—१) विशिष्ट विवेचन सबन्धार्थक तनय परसर्ग मे। आ० भा० आ० मे 'उसके तईं' इत्यादि मे प्रयुक्त तईं<तहिं<तेहिं है।

<कज्जे<कार्ये=कृते, कज्जेण<कार्येण=कृते, कारणें<कारणेन प० च० मे तादर्थ्य मे प्रयुक्त हैं।

कर=कृते—वणिए कर घणु घर=वणिजे घनं धारयते (उ० व्य० १४) कर मूलतः अपभ्रश √कइ का पूर्वकालिक रूप है। सप्रदान अर्थ मे परसर्ग बन गया है।

अपादानार्थक परसर्ग

लइ[1]—(दो० को०) जा लइ उवज्जइ, ता लइ महासुह (२०) यस्मात् और तस्मात् अर्थ में।

सभावित विकास—लइ<लअइ<लगइ, लग्गेवि की तरह लग्गेवि √लग्+एवि (हेम० ४।४४०)=लगित्वा=आरम्य। अपादान अर्थ मे 'से प्रारम्भ करके' अर्थ मे प्रयुक्त। 'तहोदिवसहो लग्गेवि अद्ध वरिसु (प० च० १।११।४)

होन्तउ, होन्त, होन्ति, हुंत, हुति—

हेमचन्द्र ने ८।४।३५५ के उदाहरण मे 'जहा होन्तउ आगदो।' तहां होन्तउ आगदो। कहाँ होन्तउ आगदो।' मे इसके प्रयोग किये हैं। हिन्दी मे इसका अर्थ होगा 'जहा से आया'। मूलरूप मे जहाँ का अर्थ यतः या 'जिससे' था। शनै शनै जहा, वहा, कहा स्थान वाचक हो गये और पुनः अपादान अर्थ के लिए होन्तउ जैसे परसर्ग की आवश्यकता हुई। होन्तउ √भू+शतृ (वर्तमान कृदन्त)<हवन्त<भवन्त. का रूप है, हिन्दी मे 'होता हुआ' अर्थ है। प्रारम्भ मे यह विशेषण के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। पर शनै-शनै समाणु, कज्जे आदि की तरह परसर्ग हो गया।

---

१. राहुल साकृत्यायन—दो० को०—भूमिका।

मूलत 'जहां होन्तउ आगद.' का अर्थ जिस जगह से होता हुआ आया है, परन्तु उपर्युक्त दिशा से अपादान अर्थ मे परिणत हो गया।[1] होन्तउ का ह्रस्वीकृत रूप हुंत उक्ति व्यक्ति प्रकरण मे पूर्णतः अपादानार्थ है—गाव हुंत आव=ग्रामादागच्छति, ईहां हुंत गा=इतो गत (पृ० १४)। पहले प्रयोग मे 'गाव' निर्विभक्तिक है, दूसरे प्रयोग मे 'ईहां' हेमचन्द्र के पूर्वोक्त उदाहरणो की पचमी विभक्ति की परम्परा मे है। कीर्तिलता मे दुल्हुन्ते आआ बड बड राआ (२।२१८) और यात्रा हुतह परस्त्रीक बलया माग (२।१०६) होन्त के अपादानार्थ रूपान्तर है। अपादान मे 'हुति' प्रयोग भी है अस्—अन्त (सन्त=) >अहन्त >अहुन्त हिं >हुति या हुती। भविसयत्त कहा मे प्रयुक्त होन्तउ के प्रयोग स्थलो मे अपादानअर्थ नही है यह सत्य है। वह शुद्ध विशेषण है। सनत्कुमारचरिउ के होन्तु या स्त्री हुंति सचमुच वर्तमान कृदन्त विशेषण ही है। १२वी शताब्दी तक के इस प्रकार के साहित्य को देखकर तगारे ने होन्तउ को इसके बाद प्राच्य क्षेत्र आ० भा० आ० मे अपादानार्थ स्वीकार किया है। इसमे विशेष आपत्ति की बात नही पर विचारणीय है कि वररुचि ने ५।७। मे अपादान भ्यस् को हिंतो और सुन्तो आदेश किये हैं। हेमचन्द्र ने पचमी विभक्ति मे हिंतो और सुन्तो को ग्रहण किया है (८।३।८ और ६) क्या यह हिंतो और सुन्तो भू और अस् के हवन्त <भवन्त और सन्त <अस्+अन्त से सबद्ध नही ? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि होन्तउ पहले से अपादानार्थ प्रयुक्त होता था। जो स्थिति कज्जे, लइ आदि मे है वही यहाँ भी है। वे भी स्वतत्र अर्थ रखते हुए परसर्ग भी हैं।

पासिउं <पार्श्वात्—'अण्णहिं पासिउ अण्णहिं लिज्जइ' (भ० क० २।१।७) स्थानवाची पार्श्व सज्ञा से परसर्गात्मक उपयोग। 'एअहो पासिउ' (प० च० १०।८।२) मे एतस्य कारणात् अर्थ है।

पास <पास्स <पार्श्व—(भ० क० ४।२३।१०), ओझा पास बीदा ले=उपाध्यायादधीते। (उ० व्य० पृ० १४)

पास का करणार्थक और निकटार्थक प्रयोग भी है।

तौ—

तौ का प्रयोग परसर्ग की तरह है या विभक्ति की तरह यह विचारणीय है। उ० व्य० मे अपादानार्थ मे "अम्हतौ, तुम्हतौ, तातौ, इत्यादि प्रयोग दिये हैं। सज्ञा के साथ जो परसर्ग होकर अलग रहते हैं वे सर्वनाम मे मिलकर विभक्ति प्रत्यय बन जाते हैं। आ० भा० आ० अवधी, व्रज आदि मे ते और तें रूप परसर्गात्मक मिलते हैं। "जनु जल ते काढे" "जब तें ब्याहि राम घर आये" हिन्दी मे "से" रूप है। तौ

---

१. तुलना कीजिये बीम्स का कम्पेरेटिव ग्रामर २,२१७

<तउ<तो=तः (ततस्तदोस्तो -हेम० ८।४।४१७), विकास तत् सर्वनाम से ठीक प्रतीत होता है। तत् सर्वनाम का संस्कृत प्रथमा एकवचन मे स रूप होता है। त -प्रकृति का स रूप नित्य सम्बन्धी जो के साथ आने वाले सो मे भी मिलता है। ते= से इसी तरह सम्भव है। चटर्जी ने अन्त से त को विकसित करने का प्रयास किया और श्री शहीदुल्ला ने अ से जो बहुत युक्तियुक्त नही लगता। सर्वनामात्मक प्रयोग ही तो या ते को मानना चाहिये। संस्कृत मे "पचम्यास्तसिल्" पा० ५।३।७ द्वारा तस् प्रत्यय भी उसी दिशा का संकेत देता है। की० ल० मे "तहूँ" इसी अर्थ में है।

ठिव—

आल्सडोर्फ के मन्तव्यानुसार जब ठिउ परसर्ग का अधिकरण के साथ प्रयोग होता है तो वह अपादान का अर्थ-देता है। तगारे ने इसकी आलोचना इस आधार पर की है, जो यथार्थ भी है, कि १२वी शताब्दी से पूर्व स्था-अधिकरण का प्रयोग और ठिउ शब्द का भी प्रयोग अपादान अर्थ में नही है। हरिवंश के "तहिं तिग्गउ" तिर्तहि णिस्सरि आदि मे अधिकरण वाचक "तहिं" सर्वनाम का प्रयोग अपादानार्थ (तहाँ से निकला) मे अवश्य है, परसर्ग नही। हितोपदेश का "विवराभ्यन्तरे स्थित." का सीधा अर्थ "विल के अन्दर स्थित" रूप है—"विल मे से" उसका भावार्थ है। हितोपदेश के अर्थप्रयोग से 'स्थित" अपादानार्थक नही हो जाता। भ० क० में स्थित>थिय है। ठिय का प्रयोग नही है। पउमचरिउ मे भी नही है। पा० दो० मे ट्ठिय (१०२) और ठिन (९९,११०) आदि शब्द अवश्य है पर दोनो भूतकाल कृदन्त विशेषण हैं। जैसे—अकुलीणउ महु मणि ठियउ=अकुलीन मेरे मन मे बसा है (पा० दो० ९९)। सावय धम्म दोहा के "सूरहु गयनि थियेन=सूर्यस्य गगने स्थितेन (स्थित्वा) या" पाणिअ गहिर ठिअने=गभीरे स्थितेन दोनो प्रयोग अपादानात्मक नही। कण्ह के दोहाकोश के ठिय, ठाइ और सरह दो० को० के ट्ठिम पूर्ववत् स्थित ही अर्थ देते हैं। प० च० के ठाइ, ठाउ और ठिय -स्था के विभिन्न रूप हैं जिनका अपादान से कोई संबन्ध नही है।

संबन्धवाचक परसर्ग

केर, केरअ, कर

अपभ्रंश के परसर्गों में सबसे अधिक व्यापक प्रयोग "केर" और उसके विभिन्न विकारो का है। प्रा० भा० आ० मे "तस्येदम्" (पाणि० ४।३।१२०) सबन्ध बोधक अनेक तद्धित प्रत्ययो का व्यापक अधिकार, सूत्र है, उसी तरह प्राकृत मे "इदमर्थस्य केर" (हेम० ८।२।१४७) व्यापक नियम है। अपभ्रंश मे इस सम्बन्धवाची केर प्रत्यय ने सम्बन्ध बोधक कारक परसर्ग का रूप ले लिया। हेमचन्द्र ने "संबन्धिनः केर-तणौ (हेम० ८।४।४२२) वहिल्लादिगण) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। तद्धितान्त होने के कारण लिंग, कारक, वचन आदि का उपयोग केर के साथ पहले होता ही रहा है। केरउ पुंल्लिग मे (प० च० ४।३।८) केरी स्त्रीलिंग मे (प० च०

५।३।३) और केराइ नपुंसकलिंग मे (प० च० ६।११।६) रूप हैं।" जसु केरए हुंकारडएं मुहहु पडन्ति तृणाइं (हेम० उदा०) मे विशेष्य हुंकारडए के अनुसार केरए मे भी करण की तृतीया विभक्ति ए० व० है। यही कारण है आ० भा० आ० हिन्दी में इसके रूप का, की मे पु० लि० और स्त्रीलिंग तथा "के" मे बहुवचन है। धीरे-धीरे "असर्वविभक्ति" हो जाने से केर परसर्गात्मक अव्यय हो गया।

तगारे को प्राच्य अपभ्रंश मे केर का प्रयोग नही मिला यह आश्चर्य की बात है "सो भव -रक्खस केरो दास" (७३), जणकेर मण पत्तम ण जाइ (१११) "मण माआ केर सहाव" (११६)—ये तीन प्रयोग सरह के दोहाकोश मे हैं। कीर्त्तिलता मे केर विविध रूप में ७३ बार प्रयुक्त है, ये विविध रूप केरा, केरी, करी, करेओ, करे, करो, को, कइ, के, का, का और क हैं। कीर्त्तिपताका मे भी इनकी पर्याप्त संख्या है।

प्राच्य की तरह पाश्चात्य क्षेत्र मे भी केर का प्रयोग था। यह ठीक है कि पूर्वकाल मे यह कम व्यवहृत था उत्तर काल मे अधिक। पा० दो० मे० केरअ एकबार (३६), भ० क० मे केरउ तीन बार केरी तीन बार आया है। पर० प्र० मे केरा चार बार आया है। जसहर चरिउ और महापुराण मे केर का उपयोग है। प्राय. सर्वत्र षष्ठी विभक्ति के साथ यह केर का प्रयोग है। आ० भा० आ० के प्राच्य क्षेत्र में -अर अंश और पश्चिम क्षेत्र मे क—अश का परसर्गात्मक उपयोग हुआ है।

तण, तणअ (हेम० ८।४।४२२)

केरअ की तरह तण का भी लिंग, कारक और वचन मे सबन्धी विशेष्यानुसार प्रयोग होता है। कालहु तणअ गइ (दो० को० ५७) कहो तणउ रज्जु कहो तणउ भरहु (प० च० ४।५।२) उदाहरण हैं। तणेण, तणअ, तणय, तणउ, तणा, तणइ, तणिय, तणइ प्ररूप है। शनै शनै यह असर्वविभक्ति अव्यय हो गया। पर० प्र०, सा० दो०, पा० दो०, प० च० आदि के उदाहरणो से स्पष्ट है कि इसका सबन्ध कारक के साथ अथवा समासयुक्त अथवा निर्विभक्तिक पद के साथ व्यवहार में होता है।[१]

अधिकरणार्थक परसर्ग

उप्परि (पा० दो०, भ० क०) <उपरि> उवरि (प० च०)

तणु उप्परि अणुराउ (पा०दो० २२) पप्छु -सिलोवरि सुखर सारउ (प० च० २।३।८) मे निर्विभक्तिक पदो के साथ परसर्ग का प्रयोग है। दूसरे उदाहरण को समास कहा जा सकता है। की० ल० मे उप्परि (२।१२३) और उप्पर (२।१३०)

---

१. तगारे ने करणार्थक भी तण को स्वीकार किया है, हि० ग्रा० भ० पृ० १६७, परन्तु इसका खण्डन श्री भायाणी ने पउम चरिउ की भूमिका पृ० ६७ पर किया है।

श्रा० श्रा० हि० ऊपर के पूर्वगामी शब्द हैं। सबे नश्वर उप्परि, महि मंडल उप्परि कीο लο मे निर्विभक्तिक के साथ परसर्ग काम मे आया है।" माझ (की० ल०) <मज्झ<मज्झे (प० च०) <मध्ये>मज्झम्मि (पा०दो०) सबन्धी शब्द षष्ठी में या समास मे आते हैं।

ग्रा० भा० ग्रा० गुजराती मे भणि=प्रति अर्थ मे परसर्ग है। इसका पूर्वरूप "भणेवि" प० च० मे प्रयुक्त है। भणेवि मूलत भण+एवि=भणित्वा पूर्वकालीन क्रिया है परन्तु परसर्ग बनकर रूपात्मक और प्रति अर्थपरिवर्त्तन करके अर्थात्मक परिवर्त्तन का उदाहरण है।

द्वितीय अध्याय

सर्वनाम

प्राकृत वैयाकरणों ने पाणिनि के सर्वादिगण को सर्वनाम[1] संज्ञा का आधार बनाया है। अपभ्रंश मे भी सर्वनाम के शब्दरूपों का निर्धारण करते हुए हेमचन्द्र ने ८।४।३५५ में सर्वादि का ही स्मरण किया है। प्रा०भा०आ० संस्कृत मे ३५ सर्वनाम[2] परिगणित थे। अपभ्रंश व्याकरण और साहित्य में प्रयुक्त सर्वनामो की संख्या पर्याप्त कम हो गई है। मुख्यतया किम्, यत्, तत् इदम्, एतद्, अदस्, सर्व, युष्मद्, अस्मद् के अपभ्रंश रूपो का ही प्रयोग है।

इन सब प्रातिपादिको के रूपो मे कुछ विशिष्ट परिवर्त्तन हो गये हैं, जिनका आगे विचार किया जायगा।

अपभ्रंश भाषा के सर्वनामो का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

१. पुरुषवाचक — अस्मद् (हउं), युष्मद् (तुहुं), तत् (सो)
२. निश्चयवाचक —इदम् (आय), एतद् (एह) अदस् (ओइ)
३. संबन्धवाचक — यत् (जो), तत् (सो)
४. प्रश्नवाचक — किम् (कवण, कांइ)
५. अनिश्चयवाचक —कोइ < कोवि < कोपि, किछु (उ० व्य०)= किञ्चत् या कुछ (की० ल०)
६. निजवाचक — आत्मन् (अप्पण)
७. विविध — सर्व (सव) अन्यत् (अण्णु), इतर (इयर)

पुरुषवाचक सर्वनाम

उत्तम पुरुष वाचक प्रा० भा० आ० अस्मद् शब्द विभिन्न विभक्तियों और वचनों की रूपावली मे विभिन्न रूप धारण करता था। द्वितीया विभक्ति से सप्तमी विभक्ति तक बहुवचन मे अवश्य "अस्म" प्रकृति रह जाती थी जैसे अस्मान्, अस्माभि, अस्मभ्यम्, अस्माकम्, अस्मासु, परन्तु प्रथमा विभक्ति को छोड़कर अन्यत्र एकवचन मे "म" -प्रकृति का प्रयोग था जैसे "माम् मया, मह्यं, मद्, मम, मयि, मा मे; द्विवचन में सर्वत्र "आव" प्रकृति काम मे आती थी जैसे "आवाम्, आवाभ्याम्,

---

१. सर्वादीनि सर्वनामानि—पा० १. १. २७
२. सर्वादयश्च पंचविंशत्—सिद्धान्त कौमुदी, अजन्त पु० प्र०

आवयो" । प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अहम् और बहुवचन में वयम् सर्वथा भिन्न प्रकृति के थे । पाणिनि ने उत्तम पुरुष के अर्थ में प्रयुक्त सब रूपों का "अस्मद्" प्रकृति की रूपावली मे समाहार किया ।

प्राकृत में द्विवचन के अभाव मे "आव" प्रकृति का अभाव हो गया । "अस्म" प्रकृति का प्रयोग अस्म > अह्म > अम्ह (हेम० ८।२।७४) बनकर न केवल बहुवचन में अपितु एकवचन मे भी होने लगता है । इसी प्रकार एकवचन की म प्रकृति भी एकवचन और बहुवचन दोनो मे चली गई है । वस्तुत. वचन की दीवार प्राकृत मे टूटने लगी थी और उसी का यह परिणाम है । इसके अतिरिक्त अनेकविध रूपो का समावेश भी हो गया जो विभिन्न बोलियो मे प्रचलित होगे, उदाहरणार्थ केवल अपादान के एकवचन मे २६ रूप मिलते है । प्राकृत मे अस्मद् के रूप सब प्राकृतो को मिलाकर निम्न हैं—

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	अम्हि, हं, अहमं, अहं[1] अहम्मि, अम्मि	मो, मे, वअं, अम्हे, अम्हो, अम्ह,
कर्म	म, णे, ण, मि, मिमं, ममं, अम्मि, अहं, मम्ह, अम्ह	अम्हे, अम्हो, अम्ह, णे
करण	मि, मइ, ममाइ, मए, मे मम, णे मआइ, ममए	णे, अम्हेहिं, अम्हेहिँ, अम्हेहि, अम्हाहि-हिं-हिँ, अम्हे, अम्ह
अपादान	मइ, मम, मह, मज्झ, मईहिंतो, मइत्तो, मईओ, मईउ, ममाहिंतो, ममतो, ममाओ, ममाउ, ममा, ममाहि, महाहिंतो, महत्तो, महाओ, महाउ, महा, महाहि, मज्झहिंतो, मज्झत्तो मज्झओ, मज्झाउ, मज्झा, मज्झाहि (ज्झ, -हिंतो, -त्तो के साथ अनेक रूप)	अम्हाहिंतो, अम्हेहिंतो, अम्हासुंतो, अम्हेसुंतो, अम्हत्तो, अम्हाओ, अम्हाउ, अम्हाहि, अम्हेहि, ममाहिंतो, ममेहिंतो, ममासुंतो, ममेसुंतो, ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममेहि । (अम्ह और मम प्रकृति के साथ हिंतो, सुंतो त्तो और हि के रूप)
सम्बन्ध	अम्ह, मज्झ, मज्झ, मह, मह, मह, मे, अम्ह, मम,	अम्हे, अम्हो, अम्हाण -णं, मज्झाण -ण, ममाण -णं, महाण -ण, मज्झ, अम्ह, अम्हं, -णे -णो ।

[1] मागधी में वररुचि के अनुसार अहके < हके < हगे तीन रूप बनते हैं । प्रा० भा० आ० का अवर्धित अहक ही एकारान्त हो जाता है । मकार लोप में अहन और अह के अकार लोप से हं रूप बनता है । अपभ्रंश की उकारान्तता में हउ और हउ निष्पन्न होते हैं ।

	एकवचन	बहुवचन
अधिकरण	मि, मइ, ममाइ, मए, मे, अम्हे, अम्हम्मि, ममे, ममम्मि, मज्झे, मज्झम्मि, महे, महम्मि ।	अम्हासु -सुं, अम्हेसु -सुं, ममसु -सुं, ममेसु -सुं, मज्झसु, -सुं, मज्झेसु -सुं, महसु -सुं, महेसु सुं ।

लक्ष्मीधर के अनुसार अधि० एकवचन में अम्हत्थ, अम्हस्सिं, ममत्थ, ममस्सिं, मज्झत्थ, मज्झस्सि, महत्थ, महस्सिं रूप और होते हैं । षड् भाषा शब्द मंजरी ने बहुवचन मे ममासु-सु, मज्झासु-सुं, महासु-सुं का और प्रयोग बताया है । यदि विश्लेषण किया जाय तो एकवचन प्रकृति "म" के मम, मज्झ, मह तथा बहुवचन प्रकृति "अस्म" के अम्ह रूपो का दोनो वचनो मे विभक्ति के विभिन्न प्रत्ययो के साथ प्रयोग सामान्य हो गये हैं । विभक्ति और वचन की आकुलता का यह अच्छा उदाहरण है ।

हेमचन्द्र, त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर के अनुसार अपभ्रंश रूपावली निम्न है—

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	हउं (हेम० ८।४।३७५ त्रि० और ल० ४।५५)	अम्हे, अम्हइ (हेम० ४।३७६, त्रि०[1] ४।४८)
कर्म	मइ (हेम० ४।३३७, त्रि० और ल० ४।४६)	अम्हे, अम्हइ (हेम० ४।३७६ त्रि०[1] ४।४८)
करण	मइं (हेम० ४।३३७, त्रि० ल० ४।४६)	अम्हेहिं (हेम० ४।३७८) अम्हेहि (त्रि० और ल० ४।४९)
अपादान	महु, मज्झु (हेम० ४।३७९, त्रि० ल० ४।४७)	अम्हह (हेम० ४।३८०, त्रि० ल० ४।४४)
सम्बन्ध	" "	" "
अधिकरण	मइ (करणवत्)	अम्हासु (हेम० ४।३८१, त्रि० ल० ४।५०)

इस रूपावली से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रश मे सरलीकरण की प्रक्रिया बहुत अधिक हो गई है । प्राकृत के मूल प्रकृत्यंश तो वही रह गये पर रूप कम हो गये । म -प्रकृति के रूप एकवचन मे ही और "अस्म" -प्रकृति के रूप बहुवचन में ही प्रा० भा० आ० के समान रह गये । "हउं" कर्त्ता मे मइ कर्म, करण, अधिकरण ३ कारको मे और महु, मज्झु अपादान तथा सम्बन्ध मे प्रयुक्त हैं । वैदिक भाषा के

१. त्रिविक्रम के अनुसार सूत्र 'अम्हइं अम्हे जशशसो.' है जो हेमचन्द्र से भी मेल खाता है । परन्तु लक्ष्मीधर का पाठ अम्हइ अम्हेइ तशशसोः है, जिसके अनुसार अम्हेइं रूप बनता है न कि अम्हे । लक्ष्मीधर का पाठ उचित नहीं प्रतीत होता, अपभ्रंश साहित्य में अम्हे का प्रयोग पर्याप्त है ।

"अस्मे"[1] का विकार "अम्हे" कर्ता कर्म मे है। "अम्ह" प्रकृति का करण में "हि" तथा अपादान और सम्बन्ध मे -ह अपभ्रंश प्रत्ययो के साथ प्रयोग है। अम्हासु म० भा० आ० के द्वारा प्रा० भा० आ० का अस्मासु है।

क्रमदीश्वर (४०) तर्कवागीश (२३) और मार्कण्डेय (४८) ने कर्त्ता एकवचन मे हमु और हमु का विधान किया। यह अह्म रूप का वर्णविपर्ययात्मक प्रयोग समझा जा सकता है। आ० भा० आ० हिन्दी मे "हम" का प्रयोग प्रधानत बहुवचन में है और गौणत एकवचन मे। पुरुषोत्तम (६६) और क्रमदीश्वर ने कर्मकारक मइं का निरनुनासिक रूप मइ भी प्रदर्शित किया है जो प्राच्य क्षेत्र की प्रवृत्ति है, सरह दोहाकोश मे मइ (१२२) प्रयोग है। म (तर्क० ६) आअक्खहि मं ता -विक्र० ४।२० और मो (तर्क० ३१, मार्क ७८) भी रूप हैं। कीर्त्तिलता मे मो रूप सम्बन्ध कारक मे (३।६८) आया है। पाहुड दोहा मे (१२२) मो मुझ के अर्थ मे प्रयुक्त है।

अपादान और सम्बन्ध मे पुरु० और मार्क ने सानुनासिक 'महु' का विधान भी किया है, मह और मज्झ अकारान्त प्रयोग हैं।

करण ब० व० मे अम्हे, अम्हहिं (त० २३, मा० ५२) अम्हइ, अम्हहइं (मा० २५), अपादान और सबन्ध ब० व० मे अम्हइ, अम्हहिं (मा० ५५), अम्ह (क्रम० ४७, त० २३) तथा अधि० ब० व० मे अम्हमु (मा० ५४) अपने मुख्य रूप के समीप हैं।

आ० भा० आ० हिन्दी का मैं <मइ, हम <हमु <अह्म, मुझे <मुज्झ का उच्चारणानुरूप सरलीकरण है, हउ या हौं का प्रयोग व्रज और अवधी में है, हुं गुजराती मे है। अपभ्रंश साहित्य मे शब्द रूपो का निदर्शन निम्न है—

हउ <हउ <अहम <अहकम्, यश्रुति मे <अहयं भी मध्यवर्ती रूप है—
हइ (हउ) पं० (पइ) पुच्छिमि=अह त्वा पृच्छामि (विक्र०) तउ णिलज्ज मणइ हउ पण्डिअ (दो० को० स० ७५) हउ पुणु जाणामि (दो० को० स० १४४) हउ मन्द बुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु (भ० क० १।२) हउ गोरउ हउं सामलउ हउ मि विभिण्णउ वाण्णि (पा० दो० २६) सो पिहिमिहे हउं पोयणहो सामि (प० च० ४।४।३) तिह हुतउ हउ इक्किण इक्कणि लेहउ पेसियउ (स० रा० ६५) हउ प्रयोग (स० रा० ८०, १३४)
कित्तिसिह गुण हओ (=हउ) कओ पेअसि अप्पहि कान (की० ल० ४।४)
हउ सहसी जिणउ -अहं महस्रमपि जयानि (उ० व्य० ६।२८) हौं प्रयोग भी है।
इन उदाहरणो से सिद्ध है कि हउ या निरनुनासिक हउ अप० मे सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।

---

१. अस्मे इन्द्रा बृहस्पत—, पाणिनि सू० ७।१।३९ में शे प्रत्यय का विधान।

हमु <हमुं <अह्म <अस्म.

मद करिअ हमु (की० ल० स्त० तीर्थ प्रति का पाठ ४।४),

नेपाली प्रति म "मद करिअ हु न्ते" पाठ है। इन दोनो पाठो से तो यह ध्वनि निकलती है कि हउ और हमु मे निकटता है, समवत हउ <हमु है।

अम्हे <अस्मे, ह्रस्वोच्चारण होने पर अम्हि <अम्हे, अम्हइ <अम्हहिं (न० लि० -इं का प्रभाव जो सामान्यतया बहुवचन सूचक है अथवा हिं का अवशेष)

कर्तृ कारक -अम्हे थोवा रिउ बहुव। हेम० ३७६.

तुम्हतो अम्हे—

युष्मत्तो वय (उ० व्य० २७) अम्हे दुइ=आवां द्वौ (१४ २७) अम्हेइं -वयमेव उ० व्य)

जिवँ अम्हइं तिवँ ते वि (हेम० ३७६)

तो अम्हे वि ले हु परमत्थे (प० च० २।१५।७)

तहिं अम्हइ मय मारिच्य भाम (प० च० १०।४।३)

कर्म कारक—अम्हे वेकूरवइ, अम्हइ देक्खइ (हेम० ३७६)

"विआलि को हउ मागिहउ ? -अम्हे -अस्मानेव -(उ० व्य० २२।६)

अमहं का ही रूपान्तर आम्ही मराठी मे प्रयुक्त होता है। गुजराती मे अम्हे है।

मइं —<मइ <मए (प्राकृत) <मयि -प्रा०भा०आ० के अधिकरण से विकसित रूप का करण और फिर कर्म के लिए प्रयोग। अनुनासिक निष्कारण प्रतीत होता है या करण के अनुस्वार रूपो का मिथ्यासादृश्यात्मक प्रभाव है।

मइ जाणिअ मिअ लोअणि, ए मइं पुहवि भमन्ते (विक्र०) वेण्णावि पन्था कहिअ मइ (दो० को० स० २२) मइं (मया) तुम्ह पसाएं, एव्वहिं मइ (मा) मिल्लिवि (भ० क० २१।५)

फुडु अविखउ मइ तुज्झु (पा० दो०)

"मा मइ मि घरेसइ दहवयणु" -(प० च० १५।६।२) कर्म कारक।

मइ सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ -(प० च० १।३।१) -सम्बन्ध मइ मुइय विज्ज किं आविहसि (स० रा० १६१)

प्राप्य मां मृतामवद्य किं विधास्यसि। टिप्पनक मे "मयि मृताया" द्वारा अधिकरण मे "मइ" प्रयोग बताया गया है। इस अर्थ मे कर्म कारक है।

यह ध्यान देने योग्य है कि करण कारक का अधिकाश प्रयोग कर्मवाच्य मे हुआ है और इस तरह मइ कर्त्ता का बोधक हो जाता है। आ० भा० आ० हिन्दी मे मैं <मइ का ही रूप है जो कर्त्ता ए० व० है। उ० व्य० प्र० २२।६ मे "मैं" का प्रयोग है -को मैं भोजन मागव -को मया भोजनं याचितव्य।

अम्हेहिं < अम्हेहि < *अस्मेभि (अस्माभि.) प्राकृत मे अस्मद् के दकार का लोप होकर अकारान्त अस्म शब्द रह जाता है, वैदिक भाषा के अनुकरण मे भिस् के योग में एकार। अम्हहिं रूप भी उपलब्ध है।

किउ अम्हहिं को अवराहो (प० च० २।१३।६)

अम्हेहिं ज किअउ (हेम० ४।३७१)

अम्हेहिं केण वि विहिवसेण (कु० च० ८।३६)

महु < म+हु=मत् और मम, मज्झु

एत्थ अरण्णे भमन्ते जइ पइ दिट्ठी सा महु कान्ता (विक्र० ७।२०)

जइ पइ पिअअम सा महु दिट्ठी (विक्र०) तुज्झ के प्रयोग के आधार पर मुज्झ की कल्पना की जा सकती है। मुज्झ < मज्झु (स्वरव्यत्यय)

विसमा होसहिं मज्झु (पा० दो० ११६)

महु किम्पि न भावइ (दो० को० ८)

अकुलीणउ महु मणि ठियउ (पा० दो० ६६)

कोउहल्लु महु एउ भडारा (प० च० १।१२।६)

ठावर महत्थ मज्झु भणहो (प० च० ११।६।६)

म० क० मे महु, मज्झु तथा महा पु० मे उनके अतिरिक्त महुं का भी प्रयोग -(१।१०।३ मे) है। कनकामर के क० च० मे मह महे (२।४।१०) प्रयोग भी दर्शनीय हैं। कीर्त्तिलता में मस्सो, मस्स, मह के अतिरिक्त मुज्झु के मज्झ,- मुझ, मझु रूप भी है।[1]

माजे मझु पुत्त जाइअ (की० ल० ३।१५)

मज्झु पियारी एक्क पइ वीर पुरिस का रीति (की० ल० २।३४)

अम्हहं < अम्ह हं, अम्हह=अस्माकम्

तिहिंमि अम्हह निरुत्तु (भ० क० २१।८।२)

जसहर चरिउ ४।४।७ मे अम्हह तथा अम्हाण भी प्रयोग हैं।

अम्हह मोह परोहु गउ (कु० पा० ८।४०) कीर्त्तिलता मे अह्म और अम्मह प्रयोग उपलब्ध हैं।

णो < नः तर्क० ने (२३) णो प्रयोग भी दिया है। यह प्राकृताभास है। अम्हासु < अस्मासु

सजमु कुत्र अम्हासु (कु० पा० ८।४०)

मध्यम पुरुष सर्वनाम

अस्मत् के समान ही युष्मत् की भी विकास प्रक्रिया समझी जा सकती है। प्रा० भा० आ० से म० भा० आ० और उसमे आ० भा० आ० मे युष्मत् के प्रयोग

---

१. कीर्त्तिलता—भूमिका डा० बाबूराम सक्सेना पृ० ३३।

अस्मत् के ही समानान्तर है। एकवचन मे "तु" या 'त -" और बहुवचन में "तुम्ह" प्रकृति के आधार पर रूपावली चलती है।

हेमचन्द्र या तदनुयायी त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर और सिंहराज के अनुसार निम्न रूप हैं—

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	तुहु (हेम० ८।४।३६८, त्रि० ल० ४।३७, सिंह० ४७)	तुम्हे, तुम्हइं (हेम० ४।३६९)
कर्म	तइं, पइं (हेम० ४।३७०)	तुम्हे, तुम्हइं (हेम० ४।३६९)
करण	तइं, पइं (हेम० ४।३७०)	तुम्हेंहिं (हेम० ४।३७१)
अपादान	तउ, तुज्झ, तुध्र (हेम० ४।३७२)	तुम्हह (हेम० ३७३)
सम्बन्ध	" "	" "
अधिकरण	पइं तइं (हेम० ४।३७०)	तुम्हासु (हेम० ३७४)

प्रा० भा० आ० मे एकवचन मे "त्व"[1] प्रकृति है द्विवचन मे "युव" और बहुवचन में "युष्म"। प्राकृत मे ही द्विवचन का अभाव हो गया अत: युव अप्रचलित हो गया। प्राकृत मे त्व का तु (व का सम्प्रसारण रूप) और युष्म का तुम्ह विकार है। य का त मे परिणत होना कठिन है अत: पिशल ने मूल शब्द "तुम[2] की कल्पना की है। अपभ्रंश मे सामान्य प्राकृतो की "तु" या महाराष्ट्री की "त" प्रकृति एकवचन में और "तुम्ह" प्रकृति बहुवचन में अनुसृत हुई। अपभ्रंश की नवीनता कर्म, करण और अधिकरण एकवचन मे तइं के साथ पइं का भी समावेश है। "त" के साथ "प" प्रकृति का मूल विचारणीय है। ऋषभ पचाशिका और जैन० महा० मे धनपाल ने मइं और पइं रूपों का व्यवहार किया है।[3] पइं का प्रयोग कालिदास के विक्र० में पर्याप्त है अतः इसे प्राचीन प्रयोग ही समझना चाहिये। कनकामर ने इसका सभी विभक्तियो मे प्रयोग किया है। अपभ्रंश मे त का प मे उच्चरित होना केवल पइं में ही नही अप्प<अत्त<आत्मन् तथा पण<तण<त्व (भावाचक) प्रत्यय) में भी उपलब्ध होता है। तुहु<तुहु<तुह . एकवचन रूप

प्राकृत मे तुम, तुं, त के अतिरिक्त तुह[4] रूप भी मिलता है। लक्ष्मी मे तुहं प्रयोग भी है। तर्क (२२) और मार्क० (४१) अपभ्रंश में तुह रूप ही देते हैं। ये दोनो उकार बहुला अपभ्रंश मे तुहुं बन सकते हैं। ह, हु, हु, तीनो

---

१. सर्वनाम के त्वत् और त्व का परिगणन है "उत पश्यन्त ददर्श वाचमुतत्व श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्" में इसका प्रयोग है। निरुक्त में त्व को अनिश्चयवाचक बताया गया है। संभवतः इसी का अनुकरण युष्मद् के त्व रूप में हुआ हो।

२. प्रा० भा० व्या० -पिशल अनु० ४२२ पृ० ६२०

३. प्रा० भा० व्या० -पिशल अनु० ४२१ पृ० ६२०

४. युष्मत् के सपूर्ण रूपों के लिए देखिये पिशल अनु० ४२० पृ० ६१५

अपभ्रंश के कारक प्रत्ययाश्च हैं। तु+हु=त्वं खलु (हेम० ८।२।१९८) से भी सम्भव है। यो तुम्ह से तुहु और अस्म से हउ का विकास भी ढूंढ़ा गया है।

तुहं—(पुरुषोत्तम १७।६४, क्रम ४०, तर्क २२ मार्क० ४२ -ढक्की मे भी यह रूप है)

तुहं—दीसहि गोरि धीरु वीरु विक्कम चरिउ (भ० क० ५।१३।९)

सुन्दर तुहु वि खणु (भ० क० ५।१३।७)

मोक्खु ण पावहि जीव तुहु (पा० दो० ११), म फुडु तुहु तुरु कढि (पा० दो० १३)

जिहि अग्गिहि तूं विलम्बियउ (सं० रा० ७७)

उ० व्य० प्र० मे तुहिं (२१-२१), तुही (२२-५) और तुं (१६-६) उपलब्ध हैं। यदि हिं और ही को हि अव्यय समझा जाय तो मूलरूप तु ही बचता है। तू था तु आ० भा० आ० हिन्दी का पूर्वरूप है।

पइं<त्वयि, पइं, एइं[1]—विक्रमोर्वशी मे पइ, पइ, पैं, पै चार रूप प्रयुक्त हैं जो लिपिकारो ने सामयिक उच्चारणानुरूप लिखे होंगे। जइ पइ (त्वया) पिअ-अम सा अहु दिट्ठी,

कइ पइ (त्वया) सिक्खिअ (विक्र०)

हइ मे (त्वा) पुच्छिमि, वहिण पैं (त्वा) इम अव्यत्थिअम्मि (विक्र०)

अण्णु वि पइ देसतरु जतहो (भ० क० ३।१०।८)

हा इउ पुत्त काइ पइ जपिउ (भ० क० ३।१०।६)

अण्णु वि तेण समउ तउ जतहो (भ० क० ३।१०।६) जो तउ करइ (ल० क०, भ० क० मे तिमइ प्रयोग भी (१४४।९) है।

स० रा० ७७ मे पइं और १२४ मे तइ का प्रयोग है—

काइ तइ अप्पियइ। पा० दो० मे पइ त्वम्, त्वा और त्वया के लिए १७६, २०६ और १० दोहा मे आया है।

"जो पइ जोइउ भमेइ=य त्व प्रष्टुं भ्रमसि।

की० ल० ३।६१ मे तोहें कर्मकारक मे प्रयोग है।

तुमा का प्रयोग प्रा० पैंगल मे है -सई उमा, रखो तुमा (पृ० ३४५।८)

तुज्झ<*तुह्य (मह्यं की तरह)<तुभ्य, (भ को ह, ह्य को झ और द्वित्वीकरण)

ए चिण्हे जाणिहिसि आअक्खि तुज्झ मई (विक्र०)

देखिये पिशल अनु० ४२० पृ० ६१५

१. लक्ष्मीधर ने ३।४।४० सूत्र ङ्‌ य म् टा एइं तइं दिया है और व्याख्या में भी एइं रूप रखा है। त्रिविक्रम का पाठ, ङ्‌यम्टा पइं तइं है जो हेमचन्द्र से तथा साहित्य के प्रयोगों से मेल खाता है। संभवत. लिपिकार के प्रमाद से पइं को एइं लिखा गया है। एइं का साहित्य में प्रयोग नहीं है।

तुज्झ का तुज्झु रूप भ० क०, पा० दो० (११६), दशरूपक, सं० रा० (१२०, १६१) मे प्रयुक्त है।

तुज्झह—तुज्झह कारण रण भमन्ते (विक्र० ४।७१)

तुध्र < तुद्ध < तुद्ध < त्वत् -ह ?

मुक्खु वि तुध्र न दूरि (कु० पा० ८।३५) प्रयोग अत्यन्त विरल।

पुच्छिय तुद्धु पुत्तु कि आयउ (भ० क० ६।२०)

मइ पिअसहि तुद्ध अक्खिउ (भ० क० १६।५)

तउ < तव—अण्णु वि तेण समउ तउ जतहो (भ० क० ३।१०।६), जो तउ करहु (भ० क० ३।१०) इनके अतिरिक्त तुह (ज० च० १।७।१३), तुहिं (पा० दो० २१६), तुहु तथा तूस (ज० च० १।७।११) प्रयोग भी प्राप्त हैं। तु -प्रकृति से अपभ्रंश प्रत्यय -ह > स > स्स > स्य से यह सिद्ध होता है। लक्ष्मीधर का तओ (४।४१) भी तव का उच्चारण भेद है।

बहुवचन रूप

तुम्ह < तुष्म प्रकृति से ही सभी बहुवचन बने हैं। १००० ई० से पूर्व -ह प्रयोग उपलब्ध नही।

तुम्हे < तुष्मे (युष्मे—वैदिक भाषा), संस्कृत भाषा के सर्वनाम बहुवचन सर्वे की तरह।

तुम्हे > तुम्हइ (ए का उच्चारण अइ) > तुम्हइं (तुम्हहि का रूप या आकस्मिक अनुनासिकीकरण या न० पु० का मिथ्या सादृश्य), तुम्हे > तुम्हि (ह्रस्वीकरण), तुहं।

तुम्हइ लगहो परलोय कज्जे (भ० क० २१।५।१२)

तुम्हहिं जतहिं जइ खणु वि (म० क० ११।५।२)

विज्जाहर तुम्हे अम्हे कइद्धय कवणु छलु (प० च० ७।४।६)

के तुम्हइ काइ अरखन्ति किय (प० च० ६।१२।५)

तुम्हे जेहा वय गुणवन्ता (प० च० ५।६।४)

तुम्हेहिं < तुष्मेभि (युष्मेभि) = युष्माभि, तुम्हहिं प्रयोग भी है।

तुम्हहिं > तुम्हइ

तुम्हेहि इह जम्मम्मि (कु० पा० ८।३४)

तुम्हेहिं वि ज न सुउ (स० रा० १।१८) तुम्हि प्रयोग भी ११७ पद्य में है।

तुम्हहिं जतहि जइ खणुवियामि (म० क० २१।५)

अहो तुम्हइ ज सुणिउ देसतरि (भ० क० ६।७६।७)

तुम्हहं < तुम्ह + ह (अपभ्रंश प्रत्यय)

तं पेक्खेवि सस तुम्हहं केरी (प० च० ५।५।३)

निवसिय तुम्हह मि पासि (भ० क० २१।५)

भ० क० मे तुम्हहं, तुम्हें, तुम्हहु और तुम्ह प्रयोग भी संबन्धार्थ में प्राप्त हैं जो अन्य विभक्तियो के साकर्य का परिणाम है।

प्रा०—पैंगल मे तुम्ह (पृ० १२२—३) तुम्हा (पृ० ४३६।४) तुमह (तुम्ह में स्वर भक्ति या तुम+ह १२७।५), तुम्हाणं (प्राकृताभास पृ० २०७।६) प्रयोग भी उपलब्ध हैं। तुम्हाण (भ० क० ४।१३।१०) मे भी प्रयुक्त हो चुका था।

तुम्हासु <तुष्मासु (युष्मासु)—प्राकृताभास

जइ सजमु तुम्हासु (कु० पा० ८।३६)

अपभ्रंश साहित्य में प्रचलित इन रूपो के अतिरिक्त तर्कवागीश, मार्कण्डेय और क्रमदीश्वर ने कुछ और रूप भी अपने व्याकरणो मे निष्पन्न किये हैं जैसे कर्म में तोम (प्राकृत तुम का तोम), तो (तू का ओकारान्त रूप), सम्बन्ध में तिम्ह (तुम्ह का स्वर परिवर्त्तन) तुम्भ[1] (तुम्ह को म्हो म्भो वा हेम० ८।४।४१२ सूत्र के अनुसार म्भ रूप) तुब्भ (क्रम०। सभवतः तुम्भ मे व का लोप और भ के द्वित्वीकरण का परिणाम) वे रूप व्याकरण मे सभावनाओ के या सादृश्य के आधार पर निर्मित हैं।[2]

प्रथम या अन्य पुरुष सर्वनाम—संस्कृत व्याकरण पद्धति पर अस्मद् और युष्मद् को छोड़कर शेष सभी सर्वनाम प्रथम पुरुष के अन्तर्गत ही हैं। केवल अर्थ और प्रयोग की स्पष्टता के लिए ही निश्चयवाचक आदि भेद किये गये हैं। युष्मद् और अस्मद् मे लिंग भेद का प्रश्न नहीं था, तीनो मे एक समान ही रूप थे। अन्य सर्वनामो मे तीनों लिंग व्यवस्थित थे। उनका विशेषणात्मक उपयोग होता था। अपभ्रंश मे सरलीकरण के प्रभाव से लिंगो का भेद शिथिल हो गया था। सर्वनाम प्राय नाम (सज्ञा) की विभक्ति का रूप ग्रहण करने लगे थे। परिणामत. अपभ्रंश में स्त्रीलिंग और विभक्तियो के विशेषतः वहुवचन मे विस्तृत प्रयोग न तो व्याकरण में और न साहित्य मे सुलभ हैं। जो भी रूप उपलब्ध हैं उनका विवरण दिया जाता है।

प्रा० भा० आ० सर्वनाम तत् प्रातिपदिक का स्वरान्त रूप त ही प्राकृत तथा अपभ्रंश मे प्रकृति का काम देता है, केवल कर्त्ता एकवचन मे वह प्रा० भा० आ० की तरह स आदेश धारण करता है। हेमचन्द्र व्याकरण में निम्न विशिष्ट रूप हैं—

कर्त्ता कर्म ए० व० त्र ० (हेम० ८।४।३६०) विकल्प से जैसे त्रं रणि करदि न, भ्रान्ति, अन्यत्र सो और तं जैसे सहि सो सोक्खहं

---

१ ग्रियर्सन ने इन्डियन ऐंटिक्वेरी में तर्कवागीश के प्राकृत कल्पतरु के पाठ की मार्कण्डेय से तुलना करते हुए तुम्भ रूप पर टिप्पणी की है। मार्कण्डेय उड़ीसा का निवासी था और वहा अब भी तुम्भ ही बोला जाता है। मार्कण्डेय की सभी पाण्डुलिपियों में तुम्भ पाठ है। यद्यपि मुद्रण में इसे सर्वत्र तुम्ह कर दिया गया है। उड़ीसा में मुद्रण म्ह होता है, उच्चारण म्भ होता है परन्तु इस स्थल पर सर्वथा विपरीत स्थिति है।

२. प्रा० भा० व्या० पिशल अनु० ४१६ पृ० ६०६

ठाउ (३३२), त बोल्लिअइ जुनिव्वहइ ।

अपादान	ए० व०	तहां (हेम० ८।४।३५५), तो (हेम० ८।४।४१७)
सम्बन्ध	ए० व०	तासु (हेम० ८।४।३५८) विकल्प से, अन्यत्र तस्सु । तहो (३३८) स्त्रीलिंग तहे (हेम०) ३५९)
अधिकरण	ए० व०	तहिं (८।४।३५७)

प्रयोगानुसार निम्न रूपावली पूरी की जा सकती है—

	एक वचन	बहु वचन
कर्त्ता और कर्म	सो (पुं० लिं० हेम० ३३२ उदाहरण) <सः-जइ सो घडदि प्रयावदी (हेम० ४०४) सो जिण नाहिं विसेष (दो० को० ४५) भ० क० ५।१।८। कर्त्ता	ते प्रा० भा० आ० का प्राकृत रूप । तें दिढ लागइ तें भव पारू (दो० को० १२९ "तें अवडयहि वसन्ति" (हेम० ३३९) प० च० ८।८।९
	सु सो (ह्रस्वीकरण, हेम० ४।३३१, प० च० ८।८।९) जइ न सु आवइ दूइ (३६७) सहु सु थणवइ पुत्तु (भ० क० १०।१०।२)	ति <ते (ह्रस्वीकरण, उदाहरण हेम० ३३०) एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग"
	से (मागधी प्रभाव) "एत्थु से चन्द दिवाअर" (दो० को०) गीति—मोट-५७)	ता (आकारान्त रूप) जाल्लइ उवज्जइ ताल्लइ बाज्जइ ता लइ परम त— महासुहसिज्झइ (दो०को०२०)
	अमरे गानसवंहि सोई (कर्म का० दो० को० १४)	तहिं—जो अवाच्य तहि किम वक्खणे—(दो० को० ४२)
	तं >तम् कर्म मे प्राकृत रूप त का भी प्रयोग है। तं सकेउ त चिन्तामणि रूप पणमह (दो० को० २३)	ताहिं—की० ल० स०— (पृ० २८, ५०)
करण	तेण (भ० क०) <तेन "परिमुञ्वन्ति तेण वुधा" णाह ण आणिउ तेण -(स०रा० १९९) तिणि <तेण -(दो० को० ९२)	तन्हि—की० ल० स०— (पृ० ३६) तेहिं (हेम० ३७० उदा०-१)

	एक वचन	बहुवचन
	प्राकृत प्रयोग। तिणि सूडिय झडि (स० रा० १६२) तें<तेण, तिं<तें, ताइ और ताए—(भ० क० भूमिका पृ० २२)	ता तेहिं पवेहिं। भ० क०
अपादान	तहां तो, ता का कहवि ता तेहिं पत्तिहिं (हेम०)।	तहु
संबन्ध	तासु <तस्सु <तस्स <तस्य, तसु<तासु, (३६६ उदा० ३) तहो<तसु, तह (भ० क०) <तहु (भ० क०)<तसु तासु परिज्ञाने अन्य न कोई (दो को० ११) तहो रयणइ तासु रज्जु (प० च० ४।६।१) इसी तरह भ० क०, की० ल०, प्रा० पैंगल ३०, ६ आदि। तसु परिजानहु अन्य न कोई (दो० को० १४) प्रा० पैंगल (४२।८) आदि इक्कहु तह खलहु (सं० रा० ६६) की० ल०। तस्स वयणु आयन्नि (सं० रा० ६८)	ताहं (३६७ उदा० २ तह, ताण, (प्राकृत) ताह पराई कवण घृण,- भ० क०।
अधिकरण	तहिं<तहि जहिं जाणसि तहिं लग्गु (दो० को० २२) किं तहि देसि णहु फुरइ (सं० रा० १८३) भ० क०, तम्मि—प्राकृताभास (भ० क०)	तहिं तेसु—प्राकृताभा (भ० क०)

स्त्रीलिंग में कर्त्ता-कर्म ए० व० मे सा जैसे "सा पइँ दिट्ठी जहण-भरालस (विक्र० ३२), सा मालइ देसन्तरिय (हेम० ३६८, उदा० १) तथा सा दिसि जोइ म रोइ=ता दिश दृष्ट्वा मा रुदिहि (कर्मकारक हेम० ३६८ उदा०) सो सा पिक्खइ (भ० क० ५।८८), कर्म मे त भी रूप होता है जैसे सं० रा० २६ और २७ मे, और ताह, तहिं (विक्र० ६६) पुणि तहिं पाविमि, मेल्लुइं ताह कमन्ती। करण ए० व० ताएँ (हेम० ३७० उदा० २) ताइ (भ०क०) और तीए (प० च० ७।३।४) अपा० संब० ए० व० तिहिं तहि, ताहि

भ० क०) तथा तहे रूप मे। पुंलिंग के अन्य रूप भी बहुलांश मे प्रयुक्त होते है।

नपुंसक लिंग मे कर्त्ता—कर्म ए० व० ता रूप विक्र० (४।२०), दो० को० (२०) की० ल० (पृ० २२, १००); त और त्र रूप (हेम० ८।४।३६०) का उदाहरण) या ज वाहिउ त सारू (हेम० ३६५ मे उदा० ३), स० रा० १५६ मे है। बहुवचन मे ताइं<तानि (भ० क०) है यद्यपि ताइ का सामान्य प्रयोग भी है।

शुद्ध प्रथम पुरुष सर्वनाम का उदाहरण 'सो गुण हीणो अहवा निरक्खर' (दो० को० ३७) और सु का उदाहरण (हेम० ३६७) दिया जा चुका है। अन्य उदाहरणो मे निश्चयवाचक, सबन्धवाचक सर्वनाम के उदाहरण भी अन्तर्भूत हैं।

प्रा० भा आ० यत् और तत् म० भा० आ० ज—और तक त—के रूप दिये जा चुके हैं। ज—के रूप भी उसी के समान हैं। व्याकरण में यत् और तत् के लि० एक ही सूत्र हैं।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता, कर्म	जो<य., स० रा० ८१, —जो सो जाणइ (दो० को० १२६) वरिस सएण वि जो मिलइ (हेम० ३३२उदा०), जु<ओ (ह्रस्वीकृत) वयणु जु खडइ (हेम० ३६७ उदाहरण)	जे<ये—जे करूण मुणन्ती (दो० को० १२६), जे महु दिण्णा दिअहडा (हेम० ३३३) जि<जे० स० रा० २१, ६४ आदि।

जे— (एकारान्त मागधी रूप का बहुवचन का एकवचन मे प्रयोग)
मुक्कावथि जे सअल जगु णहि णिवद्धो को वि (दो० को० ८०)
णउ तसु दोस जे एक्कवि ट्ठाअ (दो० को० ६१)

ध्रुं— (हेम० ८।४।३६०) प्राङ्गणि चिट्ठदु नाहु ध्रुं त्रं रणि करहिं न भ्रान्ति

द्रुं— लक्ष्मीधर और त्रि० (३।४।३१) ने द्रुं विधान किया है।

जं— कर्मकारक मे, ज ज जोअमि सोवि (दो० को० ५८) स० रा० ३० आदि, भ० क०।,

	एकवचन	बहुवचन
करण	जेण<येन, जो जसु जेण होइ मन्तुट्ठ (दो० को० १२) जिणि, जिण<जेण, सं० रा० ६१ और ६२ जें<जेण (भ० क०)	जेहिं भ० क०) जिहि (सं० रा० ७७) जहि

	एकवचन	बहुवचन
	जिं<जें (ह्रस्वीकृत) -भ० क०	
अपादान	जहाँ (हेम० ८।४।३५५), जा जो जहाँ होतउ सो तहाँ होन्तउ (कु० पा० ८।२६)	जहु
सम्बन्ध	जासु<जस्सु<जस्स<यस्य तिच्छइ रूसहिं जासु (हेम० ३५८ उदा०) जिह -सं० रा० ६१) स० रा०७०, भ० क० वामद्धु व दहिण अद्ध जासु (प० च० १।६।८) आदि जसु<जासु—जो जसु जेण होइ सन्तुट्ठ (दो० को० १२) प० च० १।३।१४ आदि, सं० रा० ३, भ० क०, जहो<जसु, जइ<जहु<जसु स्त्रीलिंग जहे, जहे केरउ (हेम० ३५९ उदा०)	जाहं, जहं, जाण
अधिकरण	जहिं<जहि जहिं कप्पिजइ सरिण सरु (हेम० ३५७ उदा० १) जहि मण पवण न सचरइ (दो० को० ४९) जम्मि -प्राकृताभास (भ० क०)	जहिं

स्त्रीलिंग मे कर्त्ता ए० व० मे जा (भ० क०), करण ए० व० जाएं (भ० क०) बहुवचन मे जाउ (भ० क०) सबन्ध ए० व० मे जहे (हेम० ४।३५९) ब० व० मे जाहिं प्रयोग उपलब्ध हैं। नपुंसकलिंग मे कर्त्ता ए० व० मे ज (स० रा० १।१९)। स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग मे अन्य प्रयोग पुल्लिंग की तरह ही होते हैं। सबन्धवाचक रूपो से ही जो और सो का नित्य सम्बन्धी रूप भी गतार्थ हो जाता है।

सामीप्य बोधक निश्चयवाचक सर्वनाम प्रा० भा० आ० इदम्<आय -इय।

प्रा० भा० आ० मे इदम् प्रातिपदिक ने अय -(प्र० वि० ए० व० अयम्) इम -(शेष प्र० और द्वि० वि० जैसे इमौ आदि), अन -(तृ० -ए० व० अनेन, ष० स० द्वि० व० अनयो) एन -(एनेन) और अ -(अवशिष्ट रूप अस्मै, अस्मात् आदि, एभि, एषु मे "अ" को ए हो जाता है) प्रकृति को अपनाया प्राकृत मे भी प्राय. सभी प्रकृतियाँ रह गई।[1] अपभ्रंश मे आय, आअ और इय-प्रकृति मुख्यत. प्रयुक्त हैं।

---

१. प्राकृत के रूपों के लिए देखिये प्रा०भा० व्या० पिशल अनुच्छेद ४२९, ४३१ पृ० ६३५ से ६४१ तक।

वैयाकरणो ने इदम् सर्वनाम के विषय मे दो ही नियम दिये हैं—

१. इदम् को स्यादि प्रत्यय परे होने पर आय, आज आदेश हो जाता है (हेम० ८।४।३६५) ल० और त्रि० वि० के अनुसार आज ३।४।३६,

२. नपुंसकलिंग मे इदम् को कर्त्ता कर्म ए० व० मे इमु आदेश हो जाता है। (हेम० ८।४।३६१) अन्यत्र सर्वनाम और सज्ञा सबन्धी सामान्य नियम कार्य-विधि सपन्न करते हैं। प्रयोगो और उदाहरणों के आधार पर निम्न रूपावली है—

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता कर्म	आउ, आओ, आअ (ल०) आइउ (भ० ४।६), आयउ (भ० क०)	आआ, आए (ल०)
करण	आएण, आएण वि किं न भज्जत (हेम० ३६५ उदा० २)। पु० लि०, आएँ, एण, एण (भ० क०) स्त्रीलिंग आयए, आयहि (भ० क०)	आयहिं (भ० क०) आयएहिं (प० च० १०।६।७)
अपादान तथा सम्बन्ध	आयहो, आयहो दड्ढकलेवरहो (हेम० ३६५ उदा० ३)।	आयहं आयहिं (भ० क०)

स्त्रीलिंग मे आआ<आया प्रकृति हो जाती है। नपुंसकलिंग मे कर्त्ता कर्म एकवचन मे इमु और बहुवचन मे आयइ के रूप साहित्य मे प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। जैसे इमु धम्मक्खरू जाणि कु० पा० ८।२८)
आयइ कित्ति लिहि मणु धारिवि (पा० दो० १४४)
आयइ लोअहों लोअणहँ (हेम० ३६५ उदा० १)
सामीप्यबोधक निश्चयवाचक सर्वनाम प्रा० भा० आ० एतद्<एअ या एय।

प्रा० भा० आ० के कर्त्ता ए० व० की एष-प्रकृति म० भा० आ० मे एस-हो गई; पुल्लिग मे एसो, स्त्रीलिंग मे एसा और नपुंसकलिंग मे एस रूप निर्माण हुआ। अपभ्रंश मे स ह मे परिणत हो गया और क्रमशः एहो<एसो<एषः, एह (ह्रस्वीकरण)<एसा<एषा और—एहु<एस (हेम० ८।४।३६८)। अन्यत्र प्रा० भा० आ० की एत-प्रकृति से त लोप होने पर म० भा० आ० मे एअ या यश्रुति हो जाने पर एय-प्रकृति बनी और उसी से विभिन्न विभक्तियो और वचनो मे प्रत्यययोग से रूप बने। अपभ्रंश ने भी प्रकृति अश मे यही परम्परा अपनाई पर

अत्ययांश मे अपभ्र श पद्धति । एतद् और इतद् दोनो शब्दो के रूपों की अनेक स्थलों पर एकाकारता हो गई और ओर उनका पृथक्करण सभव नही । इसका कारण शौरसेनी में तकार का लोप होने के स्थान पर दकार मे परिणत होना है (हेम० ८।४।२६०) और मागधी मे भी इसी का अनुकरण करता है ; एतद्>एद और इदम् >इद<एद, न० लि -मे एदं और इद मे बहुत अन्तर नही, ए का ह्रस्वोच्चारण होने ही लगा था। अपभ्र श मे भी कुछ स्थलो पर दोनो के एक ही रूप रह गये।

व्याकरण और साहित्य मे प्रयोग के आधार पर इस सर्वनाम के निम्न रूप हैं—

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता, कर्म	एहो (हेम०), एहु (भ० क),	ए (प० च०), दो० को०, इय, ए (भ० क०)
पु०लि०	प० च०, की० ल० > इहु (भ० क०) एउ (भ० क०) इउ (भ० क०) एहउ (प० च०) <एयक परिवर्धित एह, एहि (की० ल०)	
न० लि०	एहु (हेम०), (दो० को० ५१) > इहु, एउ (पा० दो० भ० क०, प० च०) इउ (भ० क०, प० च०), एय (भ० क०)	
स्त्रीलिं०	एह (हेम०, भ० क०), इह (भ० क०) (इयउ (भ० क०) एय (भ० क०), एही (पा० दो० १५ की० ल०)	
करण		
पु०लि०	एण एण (भ० क०)	एयहि (भ० क०) एय
सबन्ध		
पु०लि०	एयहो (भ० क०)	एयहं (भ०क०)
स्त्रीलिं०	एयहिं (भ० क०) एयहि (भ० क०)	

दूरत्व बोधक प्रा० भा० आ० अदस्>म० भा० आ० अनु

अपभ्रश मे दूरत्वबोधक त -प्रकृति से बने शब्द रूपो का ही अधिक उपयोग हुआ है। अमु<अदस् के रूपो का उपयोग प्राय परित्यक्त हो गया। जिस प्रकार इदम् का इमु प्राकृत रूप और आत्मन् का अत्त प्राकृत रूप नही के बराबर काम में आया है उसी प्रकार अदस् का प्राकृत अमु रूप भी अपभ्रश ने नही अपनाया। अदस् के कर्त्ता और कर्म कारक ब० व० मे ओइ रूप अपभ्रश मे अधिक उपयुक्त हुए हैं।

सामीप्यबोधक एतद् का एइ रूप उच्चारण से ही समीपता को बोधित करता है और उसीके विपरीत अदस् का ओइ उच्चारण से ही दूरत्व को निर्दिष्ट करता है। वस्तुत अदस् का रूपान्तर ओइ मे सभव नहीं। देशी भाषा का बोलचाल का यह साकेतिक शब्द अपभ्रश मे गृहीत प्रतीत होता है।

हेमचन्द्र ने "बड्डा घर ओइ" (८।४।३६४ उ०)उदाहरण दिया है। कीर्त्तिलता मे केवल ओ का प्रयोग (२।७१। और १।११) एकवचन मे किया गया है। ओ को प्रकृति मानकर उसी का बहुवचन ओइ ओ हि समझा जा सकता है। प्राच्यक्षेत्र मे ए और ओ[1] या ई[1] का ऊ क्रमशः समीपता और दूरत्व को बोध करने वाले सर्वनाम हैं।

ओकरा (की० ल० २।१।१३०) और ओके (वर्णरत्नाकर ५६ ख) के प्रयोग ओ को सम्बन्ध कारक ध्वनित करते है जिसके साथ परसर्ग करा और के योग किये गये है। चटर्जी ने वैदिक "ओ" को मूल शब्द स्वीकार किया है। कीर्त्तिलता मे "ओ राओ विअक्खण तुम्हे गुणवन्त" (३।६०) मे ओहु का प्रयोग कर्त्ता कारक मे किया है। यह ओहु खडी बोली के वह सर्वनाम का पूर्वरूप हो सकता है।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता, कर्म	ओ, ओहु	ओइ
सम्बन्धवाचक	ओ	

दूरत्व बोधक तत्>त सर्वनाम के रूप प्रथम पुरुष या सम्बन्ध वाचक सर्वनाम की तरह ही होते हैं।

प्रश्नवाचक प्रा० भा० आ० किम्>म० भा० आ० क

यत्, तत् और किम् इन तीनो सर्वनामो की ज, त, और क प्रकृतियो का अपभ्रंश मे प्रयोग हुआ है। पहले दोनो सर्वनामो की तरह ही क के भी रूप होते हैं। इसके साथ ही काइ और कवण दो और प्रकृतियाँ (हेम० ८।४।३६७) भी नियोजित हैं। वस्तुतः काइ अपभ्रश नपु सकलिंग ब० व० (हेम० ४।३।५३) का रूप है जिसके प्रयोग मे विभक्ति और वचन का प्रतिबन्ध जाता रहा। कवण भी कः पुन. का रूप है कवण<कवुण<कः पुन.। मूल प्रकृति प्राकृत की तरह केवल "क" ही है।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता, कर्म	को (को णहु पुच्छिअ) किवि, केवि (भ० क०, प० च०)<केवि दो० को०, पा० दो०, विक्र० ४।७१ कवण दो० को०। (प० प्र० २।१७१, प० च०) कवणु (भ० क०) कोवि<कोपि (भ० क० पा० दो०)	

१. ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ -की० ल० १।११।१२

	एकवचन	बहुवचन
	कमला, कवण (की० ल०)	
	कोई, कोइ (भ० क०, पा० दो०) <कोवि	
	कुइ<कोइ (पा० दो०, भ० क०)	
	काहु (की० ल०)	
न० लि०	किं (विक्र० ४।३२)	काइँ (भ० क०)
	कि (पा० दो० ७०)	
	कवि, कवण (भ० क०)	
	काइं (प० च०, की० ल०)	
करण	कइ (विक्र० ४।३२ कइ पइ सिक्खिउ ए गइ)	केहि, कैहिं
	केण (दो० को, भ० क०)	
	कवणें	
अपादान	किहे (हेम० ८।४।३५६)	
सम्बन्ध	कासु, (दो० को०, भ० क०, प० च०) <कस्स (पा० दो०) <कस्य, कसु (दो० को०) <कासु	
	कहो, (भ० क०)	
	कहु (भ० क०) <कसु	
	काहु (की० ल०)	
अधिकरण	कहिं (भ० क०)	

स्त्रीलिंग मे का -प्रकृति से कर्त्ता और कर्म ए० व० मे का या क (ह्रस्वीकृत), करण मे काए और काइं । सम्बन्ध मे काहे, कहे, काहि, कहि रूप उपलब्ध होते हैं।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम कोइ या कोई प्रश्नवाचक क -प्रकृति से ही स्पष्ट हो जाता है। प्रा० भा० आ० मे किं शब्द के रूपो के साथ अपि, चित्, चन के योग से सख्यात्मक और परिमाणात्मक अनिश्चय का बोध होता है। म०भा०आ० के द्वारा अपभ्रंश ने कोइ और किछु या कछु रूप प्राप्त किये। आ० भा० आ० मे कोई और कुछ (कछु का स्वर व्यत्यय) प्रयुक्त होते हैं। कोइ का प्रयोग विक्रमोर्वशीय मे "णिसिअरु कोइ हरेइ" (४।८) मे है, पा० दो० और भ० क० इत्यादि अपभ्रंश ग्रन्थों मे इसका अनुसरण हुआ। किछु और कछु उत्तरकालीन प्रयोग हैं।

निजवाचक अप्प<आत्मन्

प्रा० भा० आ० आत्मन् शब्द म० भा० आ० मे अत[1] और अप्प (हेम० ८।२।५१) मे परिणत होता है। अपभ्रंश में अप्प प्रकृति ही प्राय गृहीत हुई। सरह

---

1. अत्तदीपो भव (पालि)

के दोहाकोश में अप्पा, अप्प, अप्पण, अप्पणु, अप्पाण, अप्पउं इत्यादि प्रयोग पर्याप्त हैं पर अत्ता प्रयोग नहीं। यही स्थिति अन्य अपभ्रंश साहित्य मे भी है।

कर्त्ता कर्म—अप्पा (दो० को०, प० प्र०, की० ल०) आकारान्त प्रयोग <आत्मा;
अप्प <अप्पा (दो० को०, पा० दो०)—शून्य प्रयोग;
अप्पु (की० ल०),
अप्पउ, अप्पउं (दो० को०)—उकारान्त प्रयोग
अप्पय (प० च०) <अप्पअ <आत्मक
अप्पणय और अप्पाणय (प० च०) <अप्पणअ, परिवर्धित
प्रयोग=आत्मीय
स्त्रीलिंग मे अप्पणीय =आत्मीय

करण—अप्पाए (पा० दो० ७५)
अप्पुणु (पा० दो० ८३)
अप्पहिं (दो० को०)
अप्पें, अप्पिं (प० प्र०)

सम्बन्ध—अप्पाण (दो० को०, भ० क०, पा० दो०) अप्पण (पा० दो०)
अप्पणु (दो० को०), अप्पुणु (भ० क०), अप्पूण (प० च०) <आत्मनः
अपन (की० ल०) अपने, अपनेहु, अप्पन (की० ल०)
अप्पह, अप्पहो, अप्पहु।

अधिकरण—अप्पें, अप्पि
आपें (की० ल०)

विविध सर्वनाम

प्रा० भा० आ० का सर्व शब्द म० भा० आ० में सव्व हो जाता है। अपभ्रंश में भी सव्व प्रकृति ही है। सर्व को आदेशान्तर साह (हेम० ८।४।३६६, ल० त्रि० ३।३।५१) भी होता है। व्याकरण के नियमानुसार सव्व के सभी विभक्तियो के रूप निम्नलिखित हैं जिनका अनुगमन अन्यत्र किया गया है—

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	सव्वु, सव्वो, सव्व, सव्वा, सव (उ० व्य०)	सव्वे, सव्व, सव्वा
कर्म	सव्वु, सव्वे, सव्व, सव्वा	सव्वे, सव्वि, सव्य, सव्वा, सवहिं (उ० क०) सवै (उ० क०)
करण	सव्वेण, सव्वें, सव्वे	सव्वेहिं, सव्वाहि, सव्वाहिं, सव्वे।
अपादान	सव्वहं सव्वाह (हेम० ४।३५५)	सव्वहु, सव्वाहु
सम्बन्ध	सव्वसु, सव्वासु, सव्वसु	सव्वेसिं, सव्वहं, सव्वाह

	एकवचन	बहुवचन
	सव्वहो, सव्वाहो	सव्व, सव्वा
	सव्व, सव्वा	
	सवहि (उ० व्य०)	
अधिकरण	सर्व्वाहि, सव्वाहि (हेम० ४।३५७)	सव्वहिं, सव्वाहि, सवहि (उ० क०) सव्वसु, सव्वासु

साह प्रकृति के साहो, साहु आदि रूप सभव हैं। काव्य मे साह रूप का उपयोग विरल है। पउमसिरिचरिउ मे 'घणसिरिहि विहाण ह कहिउ साहु' (१।२१०), जसु विमल कित्ति जगु भमइ साहु (४।१९६) या कु० पा० च० साहू वि तोउ तडप्फडइ (८।३०) उदाहरण हैं। हेमचन्द्र ने अपने सूत्र के उदाहरण साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण। उद्धृत किया है, पाहुड दोहा मे पाठ है "सयलु वि को वि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण (८८)।" हेमचन्द्र ने सयलु<सकल को उदाहरणार्थ साहु वि मे परिणत कर लिया है। इस साहु को श्री मोदी और भायाणी ने सर्व खलु[1] से निष्पन्न किया है, साहु<सावहु<सव्वहु<सर्व खलु, गुजराती मे सहु इसी का विकास है। एक दूसरी शृंखला भी ढूंढी जा सकती है। साहु<साउ (प० च० १६।८।३)<सावु (प० च० ७.७४)<साव (प० च० १।८।१०) <सव्व (प०च० १२।४।२)<सर्व, सभी अवान्तर रूप पउम चरिउ के हैं। साउ में ह श्रुति के समावेश से साहु समझा जा सकता है। पिशल ने[2] साह को शाश्वत् से सिद्ध किया है जिसमे अर्थ विघातक है।

प्रा० भा० आ० का अन्य शब्द म० भा० आ० मे अण्ण रूप धारण करता है। अपभ्रंश मे भी वही प्रकृति है। शब्द रूप अकारान्त सव्व की तरह चलते हैं—

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता कर्म	अण्ण, अण्णु (दो० को०, पा० दो०, प० च०)	
करण	अण्णें (दो० को०)	अण्णहि
सम्बन्ध	अण्णह	
अधिकरण	अण्णहिं (भ० क०)	

प्रा० भा० आ० का इतर म० भा० आ० का इयर ही अपभ्रंश मे प्रकृति है। अकारान्त सर्वनाम की तरह शब्द रूप चलते हैं। प्रयुक्त रूप—

कर्ता कर्म ए० व० पु० लिं० तथा न० लिं० मे इयर, स्त्रीलिंग मे इयर तथा ब० व० मे इयरे (भ० क०)। प्रा० भा० आ० मे एक भी सर्वनाम के अन्तर्गत है। अनिश्चयवाचक सर्वनाम की तरह अपभ्रंश मे भी इसका प्रयोग उपलब्ध होता है।

---

१. पउम सिरि चरिउ—शब्द कोश पृष्ठ ४८

२. प्रा० भा० व्या०

सार्वनामिक विशेषण

सर्वनामो से बने कुछ सार्वनामिक विशेषणो का अपभ्रश मे प्रयोग होता है। इनके निर्माण मे जिन तद्धित प्रत्ययो की अपेक्षा होती है उनका विवेचन अगले प्रकरण के अन्तर्गत है। मुख्य विशेषण निम्नलिखित हैं—

(१) सम्बन्ध वाचक (तस्येदम् अर्थ मे) तद्धित प्रत्यय ईय के स्थान पर अपभ्रश मे आर (डार) प्रत्यय उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष के साथ आदिष्ट होता है (हेम० ८।४।४३४)। परसर्गों मे सम्बन्धार्थ मे केर प्रत्यय का विधान किया जा चुका है जो प्रा० भा० आ० कार्य से निष्पन्न होता है। इसी कार्य का दूसरा विकास कार्य>कारी>म० भा० आ० आर>अप० आर मे परिणत होता है। इसी के योग से निम्न विशेषण बनते है—

उत्तम पुरुष एकवचन—महार, महारु, महारा<सबन्ध कारक मे प्रयुक्त मह+आर जैसे बहिणि महारा कन्तु (हेम० ३५१।१) हमार<महार वर्ण व्यत्यय के परिणाम स्वरूप, हमारा मेर<म+केर या मे+र, मेरा, मेरू, स्त्रीलिंग मे महारी<महार+ई (स्त्री प्रत्यय) हमारी; मेरी<मेर+ई (स्त्री प्रत्यय)

उत्तम पुरुष बहुवचन—अम्हारय<अस्म+कार+क अम्हारा<अम्हारय अम्हारी <अम्हार+ई (स्त्री प्रत्यय)
वर्ण व्यत्यय और युक्त विकर्ष के आधार पर आ० भा० आ० हिंदी का हमारा और हमारा रूप।

मध्यम पुरुप एकवचन—तुहार, तुहारअ, तुहारा, तुहारु<तुह+आर तेर, तेरु, तेरा (त+केर, या ते+र) जैसे, सदेसें काई तुहारेण (हेम० ४।४३४ उदा०) स्त्रीलिंग—तुम्हारी, तेरी

प्रथम पुरुष—ताहर<सबन्धकारक ताह+र, तोहर (प्रा० पै० २।२५) मैथिली मे "तोहर सदृग एक तुहि माधव" विद्या० मे तोहर रूप है।

(२) प्रा० भा० आ० यादृश, तादृश, कीदृश, ईदृश का "दृश" अश अपभ्रश -इस या -रिस मे परिणत हो जाता है। हेमचन्द्र ने इसी को "अइस" (डइस) प्रत्यय विहित किया है (हेम० ८।४।४०३)

जइस<यादृश, तइस<तादृश, कइस<कीदृश, अइस<ईदृश। तइसओ और जइसओ (की० ल०) जैसे प्रयोग तादृशक: और यादृशक के रुपान्तर हैं। केरिस<कीदृश, हारीस<अस्मादृश, तुम्हारिस<*तुष्मादृश=युष्मादृश, अन्नाइस <अन्यादृश, अवराइस<अपरादश।

हेमचन्द्र ने ८।४।४१३ सूत्र मे अन्यादृश से ही अवराइस रूप का विधान किया है जो ध्वनि विज्ञानुसार सभव नही, अर्थानुसार प्रयोग ही उनका ध्येय प्रतीत होता है।

(३) प्रा० भा० आ० यादृक्, तादृक्, कीदृक और ईदृक् से हेमचन्द्र ने (८।४।४०२) दृक् अश को एह आदेश विधान किया है और जेहु, तेहु, केहु (केहउ) और एहु बनाकर उदाहृत किये है। वस्तुत यादृश तादृश कीदृश और ईदृश से विकृत जइस, तइस आदि मे के सकार को इकार और उद्वृत्त सधि हो जाने से ये रूप बनते हैं। यादृश > जइस > जेह > जेहु (उकारान्त प्रयोग), तादृश > तइस > तेह > तेहु, कीदृश > कइस > केह > केहु, परिवर्धित रूप केहउ, ईदृश > अइस > एह > एहु। स्त्रीलिंग मे ईकारान्त रूप जेही, केही आदि।

(४) परिमाणवाची विशेषण प्राकृत पद्धति पर तथा विकसित अपभ्रंश पद्धति पर दो रूप निर्माण करते है। प्रथम पद्धति मे प्रा०भा० आ का कियत् या कियत्य > केत्तिक > केत्तिय > कित्तिउ या स्वार्थं ल प्रत्यय होने पर केत्तिल या केत्तुल रूप धारण करता है। इसी प्रकार यावत्क > जेत्तिक > जेत्तिय > जित्तिउ और जेत्तिल या जेत्तुल, इयत्क > एत्तिक > एत्तिय > एत्तिउ और एत्तिल या एत्तुल; तावत्क > तेत्तिक > तेत्तिय > तेत्तिउ और तेत्तिल या तेत्तुल। आ० भा० आ० हिन्दी में जितना कितना आदि इसी परम्परा मे हैं। पालि मे कियत्क का कित्तक रूप और इयत्क का एत्तक रूप होता है।

द्वितीय पद्धति मे—वड < *वद्ध < वृध अन्त मे आदिष्ट होता है (हेम० ८।४।४०७ और ४०८)। वैदिक भाषा मे "वृध [1]" अन्त में प्रयुक्त होता है। उसीका लोकभाषाओ द्वारा वड रूप सभव है। पिशल ने एवड्ड और एवड्ड रूपो का मूल *अय-वड मे ढूंढा है।[2] वस्तुत विकास की शृखला होगी—इयद्वृ > इअवड > एवड > एवडु; इयद्वृद्ध > इअवद्ध > इअवड्ढ > इअवड्डु > एवड्डु। इसी प्रकार जेवड्डु और तेवड्डु प्रयोग हैं। आ० भा० आ० मे मराठी—वड्ड रूप का तथा गुजराती—वड्डु रूप का अनुसरण करती है।

१. सदावृधः सखा—साम० उत्तरार्चिक अ० १. खं० ३. मं—१, इसी नकार इयान् वर्धते इति इयद्ध, कियान् वर्धते इति कियद्धः।
२. प्रा० भा० व्या०—पिशल अनु० ४३४ पृ० ६४४

तृतीय अध्याय

विशेषण

संख्यावाचक शब्द

विशेषणो मे रूपात्मक योजना सज्ञा की तरह ही है। शनैः शनैः विशेषण विशेष्य के अनुरूप लिंग, विभक्ति और वचन का अनुसरण न कर शून्य रूप धारण करने लगे हैं यह पहले विवेचन किया जा चुका है। सार्वनामिक विशेषणो का वर्णन सर्वनाम के अन्तर्गत आ चुका है। कृदन्त विशेपण क्रिया प्रकरण मे समाविष्ट हैं। संख्यावाचक विशेषण अपने ध्वन्यात्मक और रूपात्मक परिवर्त्तन के कारण अपभ्रंश में महत्त्वपूर्ण हैं। अत उन शब्दो का विवेचन आगे किया जा रहा है।

पूर्णांक बोधक

एक्क, एक और एग—प्रा० भा० आ० का एक शब्द म० भा० आ० में निष्कारण द्वित्वीकरण की पद्धति पर एक्क उच्चरित होता रहा है। सभी प्राकृतों में यही सामान्य रूप है। अपभ्रंश में भी मुख्यत. यही रूप स्वीकृत है। भ० क० के विभिन्न समस्त और असमस्त १६ प्रयोगो मे से १४ "एक्क" के हैं। अन्य दो प्रयोग सस्कृत तत्सम "एक" और स्वार्थिक प्रत्यययुक्त "एकल्ल" हैं। सरह दोहाकोश में सस्कृत तत्सम "एकाकार" के अतिरिक्त अन्यत्र एक्क या एक प्रयोग हैं। पा० दो०, प० च०, की० ल०, प्रा० प० इत्यादि सभी ग्रन्थो में यही स्थिति है। अपभ्रंश के घोषीकरण नियम के अनुसार क का ग उच्चारण हो जाने से एक > एग हो जाता है, इस रूप के सरक्षण मे अर्ध मागधी और जै० महा० का भी हाथ है। सदेश रासक में एग का ही व्यवहार है (१८०)। एक + दश का अपभ्रंश मे एगारह > एग्गारह > एक्कादश > एकादश भी इसी का अनुसरण करता है। एग का ह्रस्वीकृत रूप इग भी है जिसका प्रयोग इग्गारह (प्रा० पै १५८।४) मे है। एक मे क का लोप होने से एअ और ह्रस्वीकृत रूप इअ भी निष्पन्न होते हैं, यश्रुति के समावेश से एय भी सभव होता है। अतः एअदह और इअदह > एकादश के प्रा० पैंगल मे और एआरह प० च० (१८।१२) मे प्रयुक्त रूप हैं। अन्यत्र एक्क, एक्कइ, एक्कठ, एक्कक, एक्कदह—प्रा० पैं०, एक्कचक्क, एक्कंग, एक्कन्त, एक्कम्मुह, एक्कमार, एक्कल्लिय, एक्कवार आदि—भ० क० मे द्वित्व हो जाता है। कुछ स्वल्प प्रयुक्त रूपो को मिलाकर एक की परिवर्त्तन सारणि निम्न है—

ऐंक्क < एक्क < एक > एग्ग > एग > एअ > एय > एअ > इअ, इक्क < एक्क।

"एक" का विभिन्न लिंगो मे प्रयोग होता है और अकारान्त प्रातिपदिक की तरह रूपविधान होता है। जैसे—एक्क, एक्कु, एक्का, एक्को, एक्के, एक्केण, -प्रा० पैं०, एक्कलिय=एकाकिनी -भ० क०। आ० भा० आ० ने संस्कृत तत्सम एक को गृहीत किया है जिसकी दिशा उ० व्य० प्र० मे उपलब्ध हो जाती है।

दु—(प्रा० पैं०) <दो (प्रा० पैं०, प० च०, भ० क०) <दुअउ (प्रा० पैं०) <द्वौ, दुइ (पा० दो०, प्रा० पैं०, उ० व्य०, प० च०) <द्वि या द्वौ हि दूं (उक्ति० व्य०), दुहु (की० ल०), दुअओ (की० ल०), यह द्वौ की एक विकास शृंखला है जिसमे व का लोप हो गया है और दकार अवशिष्ट रह गया है।

बे<द्वे (सं० रा०, प्रा० पैं०), बि (भ० क०) बेइ, बिण्णि, बेण्णि (दो० को० स०, भ० क०), वे<द्वे (पा० दो०, प० च०), वेण्णि (प० च०)—यह द्वे की दूसरी विकास शृंखला है जिसमे दकार का उच्चारण लुप्त हो गया और व या व का परिवर्त्तित वर्ण ब अवशिष्ट रह गया।

आ० भा० आ० हिन्दी बंगला आदि मे पहली विकास शृंखला रह गई तथा गुजराती आदि मे दूसरी विकास शृंखला। परन्तु उपर्युक्त उदाहरणो को देखकर यह नियमित नही किया जा सकता कि कोई विशेष प्रवृत्ति पश्चिमी अपभ्रंश की है या पूर्वी अपभ्रंश की। श्री तगारे का यह कथन कि प्राच्य अपभ्रंश मे ब< द्व प्रयोग निरपवाद है, कीर्त्तिलता के प्रयोगों से खण्डित है। संदेशरासक और भ० क० जैसे पश्चिम के काव्यो मे भी बकारादि संख्या है। पाहुड दोहा और पउम चरिउ मे दोनो प्रकार के प्रयोग हैं। वस्तुत दोनो विकसित रूप साथ-साथ चलते रहे हैं और आ० भा० आ० मे आकर व्यवस्थित हुए हैं। दकारादि संख्या का विकास द्वौ (पु० लिं०) से है जिसमे मध्यवर्त्ती वकार पूर्ववर्त्ती दकार और उत्तरवर्त्ती औकार मे समीकृत हो गया। व का उच्चारण स्थान दन्त और ओष्ठ्य है, पूर्ववर्त्ती द दन्त्य है और उत्तरवर्त्ती औ ओष्ठ्य है, अत उनमे समीकरण स्वाभाविक है। बकारादि संख्या का विकास द्वे (न० लिं०) से है, ए का उच्चारण सर्वथा भिन्न होने से और उस पर आघात रहने से व क्षीण नही रहा, द ही क्षीण होकर नष्ट हो गया।

समस्त पदों मे सामान्यतया दु ही पूर्वपद बना रहता है जैसे—दुक्कइ, दुक्कल, दुगण, दुग्गुरु, दुमतो, दुज्जे, दुणा आदि, प्रा० पैं०, दोखड, दोखडइ, -भ० क०, दोहा—स० रा० आदि। परन्तु संख्यावाची अन्य शब्दो के साथ बकारादि प्रयोग अधिक हैं। जैसे—बारह, बाइस, बाआलीस, बेआसी आदि। दु के विरल प्रयोग दुआरह आदि मे है।

यह संख्या विभिन्न विभक्तियो और कारकों मे प्रयुक्त होती है, जैसे—दु, दो, दूं (द्वाभ्याम्) दोन्नि, दुन्नि, बिण्णि (त्रीणि के मिथ्या सादृश्य पर), दोहिं, दोहि, बिहिं (द्वयो अधिकरण), दुण्ह, दोण्ह (द्वयो -सम्बन्ध)।

तिण्ण—(दो० को०) तिण्णि (प० च०) <त्रिणि; ति (समास मे निरपवाद, दो० को०, भ० क०, प० च०, स० रा०, प्रा० पैं० आदि) <त्रि; ते<तइ<त्रयः या त्रै (समास में); तिम्र<त्रिक (प्रा० पैं०)। आ० भा० आ मे तिण्ण का विकास तीन प्राय स्वीकृत हुआ है। समानयुक्त पदों मे पूर्वपद त्रि का रूप ति हो जाता है जैसे, तिहुमण, (दो० को०), तिउणिय, तिभाय, तिवग्ग, तिविह, तिसुट्ठि, तिमुट्ठि -भ० क०, तिउर<त्रिपुर, तिहुवण, तिवल -स० रा०, तिहुवण -पा० दो०, तिवार, तिलोग्र -प० च०, तिग्रल, तिगण, तिगग्रण -प्रा० पैं०, आदि। तइलोय (पा० दो०, प० च०) <त्रैलोक्य। अन्य सख्यावाची शब्दो के साथ समास मे त्रि>ते मे परिणत रहता है—तेरह, तेइस, तेतीस तेतालीस आदि।

तिण्ण या तिण्णि यद्यपि संस्कृत नपुंसकलिंग के विकास हैं तथापि अपभ्रंश मे उनका उपयोग बिना किसी लिंग का ख्याल किये हुए होता है। तिम्र का पु०लिं० मे प्रयोग है। तीणि (प्रा० पैं०) न०लिं मे प्रयुक्त है। कारको मे तिग्र, तिण्णा और तिण्णि -कर्त्ता कर्म में, तिहिं, तिहिं, अधिकरण मे।

चउ—(दो० को०, प० च०, भ० क०, पा० दो०, स० रा० इत्यादि प्राय. संपूर्ण अपभ्रंश मे) <चतुर, चयारि (प० च०) <चतारि (भ० क०) चत्तारि, (प० च०) <चत्वारि; चार (दो० को०) <चारि, चारु -की० ल० <चयारि का ही रूप है। आ० भा० आ० के चार उपयोग का विषय है। समास मे चउ रूप का प्रयोग है जैसे—चउक्कय<चतुष्कक, चउगणी, चउद्दिसि, चउवेइ<चतुर्वेदिन् -स० रा०, चउप्पय चउरंग, चउविह, -भ०क०। सख्यावाची शब्दो के साथ भी चउ ही रहता है और आ० भा० आ० का अउ=औ प्रवृत्ति के अनुसार चौ रूप धारण कर लेता है जैसे—चउदस, चउदह (प० च०) चउवीस (भ० क०) चउतीस (प० च०), चउआलीस (प्रा० पैं०) आदि। चौद्दह (की० ल०), चौपाई मे चउ=चौ है। समास मे चारि का भी प्रयोग उपलब्ध है। जैसे—चारिग्रा<चतुष्पद, चारिदहा <चतुर्दश -प्रा० पैं। चारि संस्कृत नपुंसकलिंग से विकसित होने पर भी सभी लिंगो में और कारको मे प्रयुक्त होता है -प्रा० पैं० मे चारि=चत्वार, चतस्र, चत्वारि, चतुर, चतुर्भिः (१४ प्रयोग)

पंच—(प० च०, पा० दो०, भ० क० आदि) <पञ्च संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश सर्वत्र यही रूप स्वीकृत है। अपभ्रंश मे अनुस्वार है (समस्त पदो मे भी "पंच" ही रहता है जैसे—पंचपाग्र (प्रा० पैं०), पंचविह, पंचाल, पंचुंबर <पचोदुम्बुर, -भ० क०, पंचमुह, पंचाणण -प० छ०। सख्यावाची शब्दों के साथ समास मे पंच>पण्ण या पण हो जाता है जैसे—पण्णरह, पण्णारह प० च०, प्रा० पैं०) अथवा पंच भी बना रहता है जैसे पंचवीस (प० च०)।

सभी लिंगो मे पच रूप ही रहता है। कारको मे अविकारी रूप पच है, करण-अधिकरण मे हि और सम्बन्ध मे -हा और -ह प्रत्यय होते हैं।

छ— (प० च०, भ० क०) <छह (प० च०, पा० दो०) छअ (प्रा० पैं०) छउ (प्रा० पैं०, भ० क०) <षष्। आ० भा० आ० ने इमी छ रूप को स्वीकार किया है। समास मे छ ही रूप रह जाता है जैसे -छक (प० च०) <छक्का (प्रा० पैं०) <षट्क, छगण, छमत्ता, छमुडवारी, छप्पय (प० च० प्रा० पैं० आदि)। सख्याओ के साथ समास मे भी छव्वीस, छत्तीस, छआलीस आदि रूप हैं। इसका अपवाद सोलह <षड्+दश है। इसमे मूर्धन्य को दन्त्य स हो गया है। सिंहली मे इस सकारादेश का रूप 'स, सअ <षण्' मे मिलता है।

सात— (की० प०) <सत्त (प० च०, पा० दो०, भ० क० इत्यादि -अनेक अप० काव्य), <सप्त >सत्ता (प्रा० पैं०)। समास मे भी सत्त ही पूर्वपद में रहता है जैसे सत्तगल, अत्तूमअ सत्तारह सत्ताइस आदि। आ० भा० आ० ने सात को स्वीकार किया है।

अट्ठ— (प० च, भ० क०, प्रा० पैं० आदि) अट्ठा, अट्ठामा, अट्ठाइ, अट्ठाइ, अट्ठाईं, अट्ठए, अट्ठइ आदि प्रयोग प्राकृत पैंगल मे उपलब्ध हैं जो सब म० भा० आ० द्वारा प्रा० भा० आ० अष्ट के विकास है। समास मे भी अट्ठ ही पूर्व पदस्थ रहता है जैसे अट्ठक्खर, अट्ठगण, अट्ठविह, अट्ठारह, अट्ठाइस अट्ठासी आदि।

णव— (प० च०, स० रा०) <नव। णवमय (प० च०) तद्धितान्त प्रत्यय परे होने पर। समास मे भी णव रूप ही है जैसे—णवदह (प्रा० पैं०) णवणवइ (प० च०)।

सत्त (सात) से नव तक के कारक रूपो मे करण -अधिकरण मे अहि, अँहि या एँहि है, सम्बन्ध मे -हा और -ह रूप, सप्तमी बहुवचन मे अट्ठह (प्रा० पैं०) मे ह प्रत्यय है। लिंग विधान मे अट्ठा (पु०लि०), अट्ठाइं (न०लि०), मे अर्थ-दृष्टि से भेद नहीं रह गया है। इसी तरह पच से णव तक की स्थिति है।

दस— और दह दोनो रूप अपभ्रंश मे म० भा० आ० भा० के दश शब्द से आये हैं। देश और काल की दृष्टि से दोनो का विभाजन सभव नही। भ० क० और प० च० मे दोनो रूप उपलब्ध हैं। पाहु० दो० मे दह रूप है। दो० को० क० के तिब्बती सस्करण के "दह दिहहि" (३०) के आधार पर तगारे का यह निष्कर्ष कि प्राच्य अप० मे दह ही पाठ है दो० को० स० के "आगे पच्छे दस दिसें" (५२) पाठ से खण्डित हो जाता है। की० ल० मे भी दसअसो (१-६३) पाठ है। तिब्बती पाठ "दिसहि" के स्थान पर "दिहहि" भी भ्रामक है। जो कुछ भी हो दह और दस दोनो प्राच्य क्षेत्र मे भी प्रयुक्त हैं। आ० भा० आ० मे गुज० और हिन्दी मे दस तथा मराठी पजाबी और सिंधी मे दह विभाजित हो गये हैं। समास के उत्तरपद के रूप मे भी दह और दस

दोनो प्राप्त होते हैं यद्यपि दह का प्रचलन अधिक है, जैसे एगारह, बारह, तेरह, चउद्दह आदि (प्रा० पैं०) तथा तेरस, चउदस पण्णरस आदि (प० च०)।

११ से १८ तक प्राकृत द्वारा संस्कृत की ही इस पद्धति का अनुसरण किया गया है कि समास का पूर्वपद इकाई और उत्तरपद दहाई को बोधित करे। म०भा० आ० के अनुसार १४ और १६ को छोड़कर अन्यत्र रह तथा १४ और १६ मे दह उत्तरपद मे प्राप्त होता है।

गारह—<इगारह<एगारह<एग्गारह<एक्कादह<एक्कदह<एकादश, पूर्वोक्त सभी प्रयोग प्राकृत पैंगल मे प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त एयारह<एग्रारह< एकादश (प० च०, म० पु०) इहदह<एग्रदह<एकादह (प्रा० पैं०) मे उपलब्ध हैं। मुख्य रूप एगारह और एग्रादह हैं। आ० भा० आ० मे इन्ही के आधार पर हिन्दी एगारह, नेपा० एघार गुज० अग्यार आदि रूप बने हैं।

द का र ध्वनिविकार एक समस्या है। डा० चाटुर्ज्या ने सख्यावाचक शब्दों का आधार म०भा०आ० की किसी विशेष बोली को, जो पालि के निकटवर्त्ती है, स्वीकार किया है। पालि मे द्वादस>दुवादस (संस्कृत द्वादश) रूपो के अतिरिक्त बारस रूप भी मिलता है। बारस का र भी किसी बोली से आया हुआ माना गया है। उस बोली मे यह र कहाँ से आया यह समस्या बनी ही रह जाती है। वस्तुतः बारस तेरस के मिथ्या-सादृश्य पर बना हुआ शब्द है। तेरस (तेर+अस) का तेर अश त्रि का विकार है और अस अश दस का अवशेष है, द का उच्चारण मे लोप हो गया है (प्रा० प्र० २।२)। तेरस का प्रयोग अपभ्रश मे प० च०, भ० क० आदि मे भी उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति को सोलह के सोरह उच्चारण ने और प्रगति दी। सोलह मे प्रा० भा० आ० के (षोडश के) ड ला ल उच्चारण है। ड, ल, और र परिवर्तन-शील उच्चारण हैं यह हम ध्वनिविज्ञान मे देख चुके है।

बारह—(प्रा० पैं०, प० च०, भ० क० आदि)<दुवारह<द्वादश, द्वादश और दुवारह के बीच की कड़ी दुवादस अशोक शिलालेख मे प्राप्त है। दूसरा प्रमुख रूप बारस<द्वादश (भ० क०) है। दन्त्य स और ह दोनो मे श की परिणति है। प्रा० पैं० मे बाराहा रूप छन्द की मात्रा के पूर्त्यर्थ है। म० पु० मे दुवालस प्रयोग अर्धमागधी के अनुरूप है। आ० भा० आ० मे बारह रूप या हकार-लोप से बार रूप प्रचलित हैं।

तेरह—(प्रा० पैं०)<तेरस (प० च०, भ० क०)<त्रयोदश। म० पु० मे तेरह रूप वर्णव्यत्यय का उदाहरण है। आ० भा० आ० हिन्दी मे तेरह रूप प्रचलित है। मरा० नेपा० आदि मे ह का उच्चारण जाता रहा है।

चउदह—(प्रा० पैं०, प० च०) चउद्दह (प० च०, प्रा० पैं० आदि)<चउदस (प० च०)<चतुर्दश। दूसरा रूप चोद्दह (म० पु०) प्राकृत के अनुरूप है। म० पु० में १।२।६ मे चोद्दह, चौद्दह, चउदह और चोद्दस चारो पाठ हैं। डा० पी० एल० वैद्य ने चौद्दह पाठ ही ध्वनिविज्ञान के नियमो के अनुसार मूल पाठ स्वीकार किया है। परन्तु उन पाठो से विभिन्न उच्चारण हमारे समक्ष आ जाते हैं। आ० भा० आ० हिन्दी मे चउ=चौ उच्चारण होकर चौदह रूप बन गया, अन्यत्र गुजराती आदि मे ह् का उच्चारणाभाव हो गया और चउ उच्चारण ही रहा। प्रा० पैं० मे दहचारि प्रयोग मे सख्याओ का विपर्ययात्मक उदाहरण भी है, इसे छन्दोनुरोधार्थ भी माना जा सकता है।

पन्नरह—(प्रा० पैं०, म० पु०), पण्णारह (प्रा० पैं०, प० च०)<पण्णारस (प० च०)<पचदश। प्रा० पैं० मे दहपच रूप भी है। आ० भा० आ० मे पण्ण रूप जो कि पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मे गृहीत था, नहीं लिया गया अपितु "न्द" रूप 'पच+दश" मे मध्याक्षर लोप करके स्वीकृत हुआ। सुनर> सुन्दर, बानर>वन्दर की तरह पन्नरह>पन्द्रह मे दकार की मध्य श्रुति भी कल्पित की जा सकती है। हिन्दी मे पन्द्रह, गुज० पन्दर, पंजाबी पन्द्राँ आदि।

सोलह—(प्रा० पैं, प० च०)<सोलस (पा० श०)<पोडश। प्रा० पैं० मे सोला रूप भी है जो ह् के लोप से दीर्घीकृत रूप है और प्राकृतानुरूप है। मराठी, उड़िया, आदि ने इसी प्रवृत्ति को सोला तथा अन्य सख्याओ मे भी अनुसृत किया है, हिन्दी ने सोलह रूप रखा।। ड का ल च और श>स का ह् मे ध्वनिविकार सभव ही है।

सत्तारह—(प०च०, प्रा०पैं०)<सप्तदश। प्रा० पैं० ने दहसत रूप भी दिया है। आ० भा० आ० मे सतरह जैसे रूप हैं।

अट्ठारह—(प० च०, म० पु०, प्रा० पैं)<अट्ठारस (अर्ध मा०, जैन मा०)<अष्टादश। अट्ठदह<अष्टदश और दहा अट्ठ<दश+अष्ट ये दोनो रूप प्रा० पैं० में उपलब्ध हैं। आ०भा०आ० हिन्दी मे अट्ठारह या अठारह; मराठी में अठारा आदि रूप हैं।

एगारह से अट्ठारह तक कारक रचना मे -अहिं, -एहिं तथा -ह्, -ह् प्रत्ययो का प्रयोग होता रहा है जैसे—एगारहहिं (प्रा० पैं० २२८।३१), अट्ठारहेहिं (प्रा० पैं० पृ० ८)

एगुणवीस—एक्कूणवीस (प० च) एक्कुणवीस (म० पु०)<एकोनविंशति। आ० भा० आ० का विंशति वीस या बीस मे परिणत हुआ। सस्कृत मे १९ को बताने के लिए एक कम बीस (एक+ऊन+विंशति) की पद्धति अपनाई

गई या और सक्षिप्त करने के लिए एक को भी निकाल कर कम वीस (ऊन +विंशति) की पद्धति। अर्ध मागधी मे वही एगूण बीस बना और अपभ्रंश मे इस रूप के अतिरिक्त उपर्युक्त दोनो रूपो का उपयोग हुआ। "अर्ध मागधी और जैन महाराष्ट्री मे अउण बीस जो एगूण वीस का ही रूपान्तर है प्रचलित था। आ० भा० आ० मे हिन्दी ने इस उत्तरवर्त्ती रूप से या सीधा ऊन विंशति के प्राकृत रूप से उन्नीस<अउणबीस मे अ का लोप या ऊन वीस का ह्रस्व रूप ग्रहण किया है। यह एगुण, अउण या ऊन का लोप अन्य दशक वाची शब्दो के साथ जुडकर "एक कम" तद्दशक अर्थ देता रहा। प्राकृत पैङ्गल ने णवदह<नवदश वाली पद्धति का भी प्रयोग किया है।

दहाई को वताने वाले दस या दह के साथ सब इकाइयो के रूपो के विवेचन से अन्यत्र दशको के साथ प्रयुक्त इकाई से बनने वाली सख्याओ का निरूपण भी गतार्थ हो जाता है अतः केवल अन्य दशकवाची शब्दो का स्वरूप निर्धारण कर १ से ९९ तक की सख्या की एक सारणी दे दी जाती है।

-बीस—(प्रा० पैं०) वीस (प० च०, भ० क० आदि) वीसइ (कप्प०)<विंशति। हेमचन्द्र ने १।२८ सूत्र से वीसा रूप प्राकृत मे सिद्ध किया है। अपभ्रंश पद्धति मे वीसा ह्रस्व होकर बीस रह जाता है। व का उच्चारण ब होकर वीस (प्रा० पैं० या आ० भा० आ० हिन्दी) बनता है।

-तीस— (प० च०, प्रा० पैं०)<तिंस (पालि)<त्रिंशत् (हेम० १।२८)। प्रा० पैं० मे तीसति (१२४ पृ० २) और तीसा (१११ पृ० २) के प्रयोग भी उपलब्ध हैं। आ० भा० आ० हिं० मे तीस और पजाबी मे हकारान्त तीह रूप है।

चालीस— (प्रा० पैं०, प० च०)<चालिस (प्रा० पैं०)<चारिस<चत्वारिंशत्। समास मे उत्तरपद मे -तालीस प्रा० पैं०) और -आलीस प्रा० पैं० रूप मिलते हैं। आ० भा० आ० हिन्दी और बगाली मे चालीस, सिंधी मे चालीह रूप हैं।

-पण्णास—(प० च०)<पंचासय (प०च०)<पचाशत्। प्राकृत और पालि का रूप भी पण्णास ही है। इसका अनुसरण आ० भा० आ० मराठी मे दन्त्य वर्ण बनाकर पन्नास मे हुआ है; हिन्दी, गुजराती आदि ने पचास रूप अनुस्वार का लोप करके प्रयुक्त किया। च=ण।[1] प्रा० पैं० मे छप्पण मे पण< पण्ण रूप उपलब्ध है।

-सट्ठि—प्रा० पैं०, प० च०, भ० क० आदि)<षष्टि। आ० भा० आ० हिन्दी, मरा०, गुज० आदि मे साठ पजा० मे सट्ट, नेपा० मे साठि रूप हैं, सट्ठि> साठि<साठ।

-सत्तरि—(प्रा० पैं०)<सप्तति। प्राकृत मे सत्त रि रूप है, पालि मे सत्तइ। आ०भा०

१. प्रा० भा० आ०—पिशल अनु० ४४६

श्रा० में सत्तरि या सत्तर रूप है। त्>र का विकास कुछ यथासंभव त्>द्>ड्>र है।

असी—(प्रा० पैं०, प० च०), असिइ (प्रा० पैं०)<असीति (म० पु०)<प्रा० भा० आ० अशीति, प्राकृत का असिइइ उद्वत सन्धि से अपभ्रंश का असी रूप बनता है।

णवइ—(प० च०, प्रा० पैं०)<प्रा० भा० आ० नवति>णवदि (म० पु०) आ० भा० आ० हिंदी, पंजा० नव्वे, मरा० नव्वद।

२१ से ९९ की सारणी—

हिन्दी[1]	अपभ्रंश[2]	अर्धमागधी[3]	प्रा० भा० आ०
इक्कीस	एक्कवीस	एगवीस	एकविंशति
बाईस	बाईस (प्रा० पैं०) बावीस	बावीस	द्वाविंशति
तेईस	तेइस (प्रा० पैं०), तेवीस	तेवीस	त्रयोविंशति
चौबीस	चउवीस, चउसवीस चोविह (प्रा० पैं०)	चउवीस	चतुर्विंशति
पच्चीस	पंचवीस	पणवीस	पंचविंशति
छब्बीस	छव्वीस -सा, छह्वीस	छव्वीस	षड् विंशति
सत्ताईस	सत्ताइस, सत्ताईस-सा (प्रा० पैं०) सत्तावीस (प० च०)	सत्तवीस	सप्तविंशति
अट्ठाईस	अठाइस, अट्ठाइस (प्रा० पैं०) अट्ठावीस (प० च०)	अट्ठावीस	अष्टविंशति
उनतीस	एगुणतीस	अउणत्तीस	एकोनत्रिंशत्
तीस	तीस -सा, तीसति (प्रा० पैं०)	तीस	त्रिंशत्
इकतीस	एक्कतीस	एकत्तीस	एकत्रिंशत्
बत्तीस	बत्तिस, बत्तीस -सा बत्तीसह	बत्तीस	द्वात्रिंशत्
तेंतीस	तेत्तीस	तेत्तीस	त्रयस्त्रिंशत्
चौंतीस	चउत्तीस	चोत्तीस	चतुस्त्रिंशत्
पैंतीस	पचतीस	पणतीस	पंचत्रिंशत्

१. हिन्दी व्याकरण—कामता प्रसाद गुरु १६६ अनुच्छेद।
२. आधार मुख्यतः प्राकृत पैंगल, पउम चरिउ और महापुराण पुष्पिका है।
३. प्राकृतों में अर्ध मागधी, अपभ्रंश और आ० भा० आ० विशेषतः हिन्दी की संख्याओं के अधिक समीप हैं। अर्ध मागधी की संख्याएं अर्ध मागधी कोश की भूमिका से ली गई हैं।

हिन्दी	अपभ्रंश	अर्धमागधी	प्रा० भा० आ०
छतीस	छत्तीस	छत्तीस	षट्त्रिंशत्
सैंतीस	सत्ततीस, सततीस (प्रा० पैं०)	सत्ततीस	सप्तत्रिंशत्
अड़तीस	अट्ठतीस	अट्ठतीस	अष्टत्रिंशत्
उंतालीस	एगुणचालीस, एक्कूणचालीस	एगूणचालीस	एकोनचत्वारिंशत्
चालीस	चालिस, चालीस (प्रा० पैं०)	चालीस	चत्वारिंशत्
इकतालीस	एक्कचालीस	एक्कचत्तालीस इगयाल	एकचत्वारिंशत्
बयालीस	बाम्रालीस, बेम्राल (प्रा० पैं०) दुचालीस (म० पु०)	बायालीस	द्वाचत्वारिंशत्
तेंतालीस	तियालीस	तेयालीस	त्रयश्चत्वारिंशत्
चौवालीस	चउयालीस, चोम्रालीसह (प्रा० पैं०) चउम्रालीस -लीस, चउम्रालह (प्रा० पैं०)	चउयालीस चोयालीस	चतुश्चत्वारिंशत्
पैंतालीस	पचतालिसह, पचतालीसह (प्रा० पैं०) पंचचालीस (प० च०, म० पु०)	पणचालीस पणचाल	पंचचत्वरिंशत्
छयालीस	छायालीस, छालीस	छायालीस	षट्चत्वारिंशत्
सैंतालीस	सत्तचालीस	सत्तचत्तालीस सतचालीस सायालीस	सप्तचत्वारिंशत्
अड़तालीस	अठतालिस, अट्ठचालीस अट्ठायाल (प्रा० पैं०)	अट्ठचत्तालीस, अठचालीस अढयाल	अष्टचत्वारिंशत्
उनचास	एक्कूणपञ्चास, ०पण्णास, (म० पु०)	एगूणपण्णास, अउणापण्ण	एकोनपञ्चाशत्
पचास	पण्णास	पण्णास	पचाशत्
इकावन (इक्यावन)	एक्कवण्णास	एक्कावण्ण	एकपचाशत्
बावन	दुवण्णास	बावण्ण	द्वापचाशत्
तिरपन	तिवण्णास	तेवण्ण	त्रिपचाशत्
चौअन	चउण्णास	चउवण्ण	चतु पचाशत्
पचपन	पचवण्णास, पणपण्णास	पणपण्ण	पचपञ्चाशत्
छप्पन	छप्पणास, छप्पण (प्रा० पैं०)	छप्पण्ण	षट्पञ्चाशत्

हिन्दी	अपभ्रंश	अर्धमागधी	प्रा० भा० आ०
सत्तावन	सत्तावणिअ, (प्रा० पैं०) सत्तावण्णाइ (प्रा० पैं०) सत्तवण्णास (म० पु०)	सत्तावण्ण	सप्तपंचाशत्
अट्ठावन	अट्ठावण, अट्ठवण्णास	अट्ठावण्ण	अष्टपंचाशत्
उनसठ	एक्कुणसट्ठि	एगूणसट्ठि अउणट्ठि	एकोनषष्टि
साठ	सट्ठि (प्रा० पैं०)	सट्ठि	षष्टि
इकसठ	एक्कसट्ठि	इगसट्ठि	एकषष्टि
बासठ	वासट्ठि, वासट्ठी (प्रा० पैं०) दुसट्ठि (म० पु०)	वासट्ठि, वावट्ठि	द्वाषष्टि
तिरसठ	तिसट्ठि	तेसट्ठि, तेवट्ठि	त्रिषष्टि
चौंसठ	चउसट्ठि	चोसट्ठि, चउवट्ठि	चतुःषष्टि
पैंसठ	पणसट्ठि, पचसट्ठि (म० पु०)	पणसट्ठि, पण्णट्ठि	पंचषष्टि
छियासठ	छसट्ठि	छावट्ठि	षट्षष्ठि
सड़सठ	सत्तसट्ठि	सत्तसट्ठि	सप्तषष्ठि
अड़सठ	अट्ठसट्ठि, अट्ठासट्ठि (प्रा० पैं०)	अठसट्ठि, अढसट्ठि	अष्टषष्टि
उनहत्तर	एक्कूणहत्तरि	एगूणसत्तरी, अउणत्तरि	एकोनसप्तति
सत्तर	सत्तरि (प्रा० पैं०)	सत्तरि	सप्तति
इकहत्तर	एकहत्तरि	एक्कसत्तरि	एकसप्तति
बहत्तर	बाहत्तरि, दुसत्तरि (म० पु०)	बावत्तरि	द्वासप्तति
तिहत्तर	तेहत्तरि, तिसत्तरि (म० पु०)	तेवत्तरि	त्रिसप्तति
चौहत्तर	चउहत्तरि, ०त्तर (म० पु०)	चोवत्तरि	चतुःसप्तति
पचहत्तर	पचहत्तरि	पचहत्तरि, पण्णत्तरि	पंचसप्तति
छिहत्तर	छहत्तरि, छेहत्तरि (प्रा० पैं०)	छावत्तरि	षट्सप्तति
सतहत्तर	सत्तहत्तरि	सत्तहत्तरि	सप्तसप्तति
अठहत्तर	अट्ठहत्तरि	अट्ठहत्तरि	अष्टसप्तति
उनासी	एक्कूणासी	एगूणसीइ	एकोनशीति
अस्सी	असी. असीति (म० पु०) असिअ (प्रा० पैं०)	असीइ	अशीति
इक्कासी, इक्यासी	एक्कासी, एक्कासीति	एक्कासीइ	एकाशीति

हिन्दी	अपभ्रंश	अर्धमागधी	प्रा० भा० आ०
बयासी	बेआसी (प्रा० पैं०) दुवासी (म० पु०)	बासीइ	द्वयशीति
तिरासी,	तियासी तेयासीति (म० पु०)	तेसीइ, तेयासी	त्र्यशीति
चौरासी	चउरासी	चउरासी -इ	चतुरशीति
पचासी	पचासी	पंचासीइ	पचाशीति
छियासी	छयासी, छासीति (म० पु०)	छलसीइ	षडशीति
सतासी	सत्तासी, सत्तासीति (म० पु०)	सत्तासीइ	सप्ताशीति
अठासी	अट्ठासी (प्रा० पैं०), अट्ठासीति (म० पु०)	अट्ठासीइ	अष्टाशीति
नवासी	एक्कूणासी, एक्कूणणवदि (म० पु०)	एगूणणउइ	एकोननवति
नव्वे	णवइ, णवदि (म० पु० मे सर्वत्र णा-वदि)	नउइ	नवति
इक्यानवे	एक्कणवइ -दि	एक्कणउइ	एकनवति
बानवे	वाणउइ, दुणउदि (म० पु०)	बाणउइ	द्वानवति
तिरानवे	तिणवइ, -दि	तेणउइ	त्रिनवति
चौरानवे	चउणवइ, -दि	चउणवइ	चतुर्नवति
पचानवे	पचणवइ, -दि	पंचाणउइ	पंचनवति
छियानवे	छाणवइ और छणवेआ (प्रा० पैं०)	छण्णउइ	षण्णवति
सत्तानवे	सत्ताणवइ	सत्ताणउइ	सप्तनवति
अट्ठानवे	अट्ठणवइ	अट्ठाणउइ	अष्टनवति
निन्नानवे	णवणवइ	नवणउइ	नवनवति
सौ	सय (प० च०) सअ (प्रा० पैं०) सआ (शतानि, प्रा० पैं०) समास मे सउ जैसे सउबीस=१२० (प्रा० पैं० ५२५-२) सउ अट्ठोत्तर=१०८ (प० च०) सय जैसे एक्कोत्तरसय (प० च०)	सय	शत
हज़ार (हज़ार<हसस्र सहास (भ० क०) वर्णव्यत्यय अट्ठोत्तर सहास १००८ और फारसी प्रभाव)	सहस (प० च०, ण० च०)	सहस्स	सहस्र
लाख	लक्ख (प० च०) णा० च०	लक्ख	लक्ष
करोड़	कोड्डि (पा० दो०)	कोडी	कोटि

अपभ्रंश मे सख्याओ ने प्राय. प्राकृत का ही अनुसरण किया है। अर्धमागधी की संख्याएं कई बार आ० भा० आ० की विशेपत. हिन्दी की समीपवर्ती हैं, अपभ्रंश पर भी उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। दशक, शतक आदि से समस्त होकर बनने वाली बडी सख्याओ का अधिक प्रयोग अपभ्रंश साहित्य मे उपलब्ध नही है। जो थोड़े से उदाहरण प्राप्त हैं उनसे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे प्राकृत के अनुसार ही चलती होगी। पिशल ने उनका यथासभव उदाहरण ४४८ अनु० (पृ० ६६४) मे दिया है।

अपूर्णांक बोधक सख्या

इसमे भी म० भा० आ० द्वारा प्रा० भा० आ० अनुसरण है।

हिन्दी	अपभ्रंश	अर्धमागधी
आधा	अद्ध (प० च०, प्रा० पै०) अड्ढ (भ० क०)	अद्ध और अड्ढ<अर्ध

इस अपूर्णांक के साथ जो सख्या जुडती है वह अपने से आधे कम का अर्थ देती है। जैसे अद्धछट (प० च०) का अर्थ ५½ है, ६½ नही। इसका स्पष्ट उदाहरण भ० क० मे दिवड्ढ<द्व्यर्ध है, हिन्दी मे दिवड्ढ से डेढ़ बना है। आउट्ठ<अद्धुट्ठ (अ० माग०)<अध्युष्ट=३½

पौन	पाउण	<पादोन	पाउणछ=५¾
सवाया	सवायअ	<सपादक	सवायअछ=६¼
साढ़े	साड्ढ	<सार्ध	साडढ =६½

क्रमवाचक सख्या

पढम— (प्रा० पैं०, प० च० आदि)<प्रथम—मूर्धन्यीकरण, पहिलय (प० च०, भ० क०) पहिलउ (भ० क०) < प्रथिलक, पहिलारय < प्रथिलतरक, स्त्रीलिंग, पहिलारी<प्रथिलतरका=प्रथमतर आ० भा० आ० पहिला।

बीअ— बिअ (प्रा० पैं०), बीय (भ० क०), बीयउ (भ० पु०)<बीयय (प०च०) <बिज्जय (प० च०)<द्वितीय, दुइअ (प्रा० पैं०) दुइआ, दुइजो, (भ० पु०) (भ० पु०) दुज्जा<द्वितीय आ० भा० आ० हिन्दी आदि मे "सर" प्रत्यय जुडने पर क्रमवाचक सख्या दूसर, दूसरा आदि बनती हैं। परिनिष्ठित अपभ्रंश मे इसका कोई आधार नही मिलता। इसकी व्याख्या या तो किसी "उक्ति" मे प्रयुक्त सर प्रत्यय से होगी या सस्कृत के सदृश> सरिस>सरिह>सरह>सरा विकास मानना होगा। सस्कृत मे अन्यादृश, अन्यसदृश की तरह द्विसदृश शब्द से दूसरिस>दूसरह>दूसरा रूप सभव है। प्रसर, द्विसर, त्रिसर का रूप पहला, दूसरा तीसरा आदि विचारणीय है।

तीअ—तइअ (प्रा० पैं०) तइय (भ० क०), तइयउ (म० पु०) <तृतीय, तइयय (प० च०) <तृतीयक, तइजो (म० पु०), तिज्ज, तिज्जा <तृतीय। आ० भा० आ० मे "सर" प्रत्ययान्त जैसे हिन्दी में तीसरा।

चउथ—<चउत्थ (प्रा० पैं०, प० च०), चोत्थ (म० पु०) <चतुर्थ, चउथय (प० च०) <चतुर्थक, चउठा, चोउथो और चारिय प्रयोग भी प्राकृत पैंगल में हैं। आ० भा० आ० हिन्दी मे चौथा।

पंचम—(प्रा० पैं०, प० च० आदि) <पञ्चम (अपभ्रंश के विशेष विकार म=वँ के अनुसार) चवँ रूप भी निष्पन्न होता है। आ० भा० आ० हिन्दी में पांचवाँ।

छट्ठ— (प्रा० पैं) <षष्ठ, षट्ठय (प० च०, म० पु०) <षष्ठक, छट्ठम (प० च०, प्रा० पैं०) <मिथ्यासादृश्य से षष्ठम। स्त्रीलिंग मे छट्ठी <षष्ठी विशेषण होने के कारण विभिन्न लिंग मे प्रयोग। तदनन्तर ७, ८, ९ आदि का क्रम बोधित करने के लिए ५ की तरह गणनावाचक सख्या से म या वँ प्रत्यय जोड़कर शब्द का निर्माण होता है।

यथा—

सप्तम (वँ), अट्ठम (वँ), णवम (वँ), दसम (वँ), एगारहम (वँ) बारहम (वँ)......, वीसम (वँ), तीसम (वँ) आदि। आ० भा० आ० हिन्दी मे वाँ का ही प्रयोग होता है।

आवृत्तिवाचक विशेषण

पूर्णांकबोधक सख्या को पूर्वपद बनाकर गुण उत्तरपद के साथ समास करके आवृत्तिवाचक विशेषण बनाने की पद्धति प्रा० भा० आ० मे है। म० भा० आ० ने और तदनन्तर अपभ्रंश और आ० भा० आ० ने भी उसी का अनुसरण किया। प्राकृत पैंगल या अन्यत्र प्रयुक्त कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

दूण (प्रा० पैं०) <द्विगुण, दुणा (प्रा० पैं०) <द्विगुणाः। तिगुण (प्रा० पैं०) <त्रिगुण।

आ० भा० आ० हिन्दी मे दूना, दुगुना, तिगुना आदि हैं।

समुदायवाचक विशेषण

क. अवधारणार्थ—एक्कइ (प्रा० पैं०) <एक्कहि (प्रा० पैं०) <एकं हि दुक्कइ (प्रा० पैं०), एक्कइ के अनुकरण पर <द्विक हि

ख. समाहारार्थ— एक्कल <एकल (प्रा० पैं०), एकल्ल (भ० क०)

दुइ <द्वय

तिअ <त्रिक या त्रय

चउक्क <चतुष्क

चतुर्थ अध्याय

धातुरूप

धातु

अपभ्रंश क्रिया की मूलभूत धातुओं में न केवल ध्वन्यात्मक परिवर्त्तन ही हुए अपितु अर्थात्मक परिवर्त्तन भी हुए जिनका विवेचन अर्थविचार में किया जायगा। म० भा० आ० काल में ही प्रा० भा आ० की धातुओं के साथ देशी धातुओं का प्रयोग भी बढ चला था। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में उत्तरोत्तर प्रबल होती गई और आ० भा० आ० का स्थिर अंश हो गई। हेमचन्द्र ने √कथ् वज्जर, वोल्ल, चव, जम्प आदि १० आदेश (८।४।२) विधान किये हैं। विभिन्न देशों मे "कहने" के विशिष्ट छाया-युक्त अर्थ में ये काम में आते थे। हेमचन्द्र ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि अन्य आचार्यों ने इन्हें देशी शब्द माना है परन्तु उन्होंने विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित करने के लिए धातुओं के स्थान पर आदेश विधान कर लिया है।[1] अपभ्रंश में प्रधानतः √कह<कथ् और √वोल्ल का प्रचलन रहा है। √पिसुण<पिशुन का नामधातु रूप है और उसी अर्थ में √ चव है जिसका ब्रज भाषा में चुगलखोरी करने के अर्थ में सूर ने बहुत प्रयोग किया है। भ० क०, प० सि० च० णा० कु० में इस धातु का सामान्य अर्थ कथन में ही प्रयोग है। √ पज्जर<प्रज्वल, √सघ आदि भी नाम-धातु ही प्रतीत होते हैं। प० सि० च० के प्रारम्भिक ३ श्लोकों में ही जम्प, साह और कह के प्रयोग उपलब्ध हैं।[2] √मुण=ज्ञा (७), √घोट्ट=घोटना=पा(१०), उङ्घ या ओङ्घ=ऊँघना=निद्रा (१२), √उट्ठ=उठना=उत्+स्था (१७), ढक्क=ढँकना=छद् (२१), √मेल=मेलना=मिश्र (२२), √पिट्ठव=पठाना =प्रस्थाप् (३७), √लुक्क=लुकना=निली (५५) इत्यादि प्राकृत सूत्रों की कुछ धातुएं अपभ्रंश और आ० भा० आ० हिन्दी मे प्रयुक्त होती हैं। गोणादिगण में (हेम० ८।२।१७४) भाषाशब्दों में क्रियाशब्द के उदाहरण अवयासइ, फुम्फुल्लइ,

---

१. एते चान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति। तथा च। वज्जरिओ कथित। वज्जरिऊण कथमित्वा वज्जरणं कथयन्। वज्जरन्तो कथयन्। वज्जरिअव्वं कथयित व्यमितिरूप सहस्राणि सिध्यन्ति। (हेम० ८।४।२ पर स्वोपज्ञ प्रकाशिका वृत्ति)।

२. धाहिलु दिव्वदिट्ठि जपइ। १ निसुणह साहमि कन्नरसायणु। २ तिह कहवि विसेसिं।४। इन धातुओं के प्रयोग आगे भी किये गये है। संस्कृत धातु प्रमण>पभण का भी प्रयोग है। <वोल्ल के ३ प्रयोग हैं।

उप्फालेइ इत्यादि दिये गये हैं। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में विशिष्ट धातु परिवर्त्तन निम्न दिये हैं—

कीसु=कृ (४।३८९), हुच्च=भू (३९०), उदाहरण पहुच्चइ=पहुँचता है, ब्रुव=ब्रू (३९१), वुग=व्रज (३९२), प्रस्स—दृश् (३९३), गृण्ह=ग्रह (३९३) (वस्तुत प्रा० भा० आ० गृह्ण का वर्ण विपर्यय) हेमचन्द्र का तक्ष्यादीना छोल्लाछय (८।४।३९५) सूत्र अपभ्रश मे प्रयुक्त देशी धातुओ को समाविष्ट करता है, √छोल्ल=छोलना=तक्ष, √झलक्क=झलका पड़ना=सतप्, √अब्भडवच=सगव्, √खुड्डुक्क=खुटका लगना, √घुडुक्क=घुडकना, √चम्प =चांपना √घुट्टुग्र=ध्वनि करना इत्यादि उदाहरण हैं। पउमसिरि चरिउ मे अंबाडिय=तिरस्कृत, उल्हूमिय=उद्गत, उल्हावइ=वलाता है (विध्मापयति), उविय=उल्लं ढ, ओहामिय=अभिभावित, कच्छुरिय=व्याप्त, कप्परेविं=कर्तयामि, घल्लिय=घाल दिया=क्षिप्त, जडिय=जडा (खचित), झुल्लत=झुलता, झूरइ= क्षीयते, थक्कइ=थकता है, दरमलिय=मृदित, निक्कलिय=निकला, भुल्ल=भूला, महमहिय=मह मह से भरा (प्रसृतगन्ध), मुसुमूरइ=चूर चूर करना है, मेल्लइ= मुंचति, रेहइ=शोभते है, लूडइ=लूटता है, विसूरहि=विसूरना, खेद प्रकट करना, प्रयोग इसी प्रकार के हैं। यह एक स्वल्पकाय काव्य से उदाहरण है। चडइ=चढ़ता है, चीरइ=चीरता है, च्छोडइ=छोड़ता है, छड्डइ=छोड़ता है, छिवइ=छूता है, छुट्टइ=छूटता है, जिम्मइ=जीमता है, जोवइ=जोटता है, झपइ=झापता है, ढुक्कइ=ढुकता है, ढोयइ=ढोता है, इत्यादि अनेक प्रयोग भ० क० मे हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थो मे बहुत अधिक धातुओ के प्रयोग हैं।

अपभ्रश मे शब्दानुकरणात्मक धातुओ की भी योजना बढी है। वे अनुकरण द्विरुक्त होकर धातुनिर्माण करते है। जैसे रुणरुणइ=करुण क्रदन करता है, रूलुघुलइ= नि श्वास लेता है, रुहरुहइ=धीरे-धीरे कहता है, उत्कण्ठित होता है, रणझणत= रुनझुन करता है, रणरणंत=रुनझुन करता, महमहइ=सुगंध मह मह करता है, -भ० क०, गुलगुलइ=ढोल की ध्वनि करता है, सलसलइ=सरसर ध्वनि करता है, रुणुरुंटइ=गूंजता है, थरहरइ=थरथर करता है, किलगिलिय=किलकारी की, ढलहलिय=हिला डुला, झलझलिय=झलझनाया आदि -म०पु०।[1]

---

1. णायकुमार चरिउ को इस प्रकार की धातुओं का परिगणन, जिनमें युद्ध की ध्वनियों का विशेष समावेश है, डा० हीरालाल जैन ने स्वसंपादित उस ग्रन्थ की अंग्रेजी भूमिका में पृ० ५७ पर किया है, जैसे खणखणति=तलवारों का खनखनाना, कसमसति=भालों का टकराना, चलवलत= झंडों का फहराना, जिगिजिगिजिगत=तलवारों का चमचमाना, दडमडति=मृत सिपाहियों के रुण्डों का टकराना, धगधगंति=तलवारों का हवा से बातें करना, सलसलति=खून का बहना आदि।

किसी भी समृद्ध भाषा मे नामधातु का विशिष्ट स्थान है। अपभ्रंश मे भी संस्कृत और प्राकृत पद्धति का अनुसरण करते हुए नाम से धातु निर्माण किया जाता रहा है। अभी ऊपर √कथ् के पर्यायवाची √पिसुण √संघ, √पज्जर आदि मे यह प्रक्रिया देखी जा चुकी है। कंचुइज्जन्त<कंचुकीयमान, कुरवति=कूजन्ति (कुरल <कुरर की तरह आचरण करता है) गंठविय<*ग्रन्थापित=गांठ मे डाला मउलति= संकुचिन्त (मउल<मुकुल की तरह आचरण करता है), वट्टिज्जइ<*वट्टीयते (सिल पर वट्टा से रगडा जाता है, पीसा जाता है) विहाइ=विभात भवति=विहान होता है, हिण्डोलइ=हिण्डोले मे झुलाता है, हक्कारइ=हकाराता है -प० मि० च०, चिमक्कइ =चमकता है, दलवट्टइ=दलवाटता है=चूर चूर करता है, पल्लट्टइ=पलटता है।

बुक्करइ=भौं भौं करता है इत्यादि -म० पु०, गलत्थइ=गले मे हाथ डाल धकेल देता है=गलहस्तयति -म० क०। वक्खाणिइय<व्याख्यानायितम्, तिलकिवि <तिलकयित्वा, वणिज्जइ<वणिजयति, सुहाइयइ<सुखयति (स० रा०), रंडमि =रंडा करोमि, बहिरिउ=बधिरीकृत, वंकावइ=वक्रयति—णा० कु० च०।

अत. अपभ्रंश धातुओं के आधार निम्नलिखित हैं—

(१) प्रा० भा० आ० की धातु का म० भा० आ० द्वारा उसी रूप मे ग्रहण अर्थात् तत्सम रूप जैसे √चर, चरइ, √चल, √चलइ, √चिंत, चिंतइ आदि।

(२) प्रा० भा० आ० की धातु का० म० भा० आ० द्वारा ध्वनिविकृत रूप अर्थात् तद्भव रूप[1] जैसे √लिह, लिहइ<लिखति, √फुर, फुरति<स्फुरति, √वण्ण, वण्णइ<वर्णयति, √वज्ज, वज्जइ<वर्जयति, √कह, कहइ< कथयति, √बुज्झ, बुज्झइ<बुध्यते, √चल्ल<चल्लइ<चलति इत्यादि।

(३) देशीधातु या अपभ्रंश की स्वायत्तीकृत धातु

(४) शब्दानुकरणात्मक धातु

(५) नामधातु

इन सभी प्रकार की धातुओ से रूपनिर्माण करने मे काल, अर्थ, वाच्य, पुरुष और वचन आदि के अनुसार विभिन्न प्रत्ययो का योग होता रहा है चाहे वे प्रा० भा० आ० के प्रत्यय हो या म० भा० आ० के या अपभ्रंश के निजी प्रत्यय हो। इसी प्रत्यय-बहुल-योग की विशेषता से ही आकृष्ट होकर हेमचन्द्र ने देशीधातुओ को भी धात्वादेश में स्थान दिया।

---

१. ग्रियर्सन ने अपने "प्राकृत धात्वादेश" प्रसग में अर्थपरिवर्तित धातुओं की चौथी श्रेणी भी परिगणित की है जिन्हें प्राकृत वैयाकरणों ने परिवर्त्तित अर्थ के अनुसार किसी अन्य धातु के स्थान में आदेश विहित किया है (Memoirs of the Asiatic Society of Bengal Vol. VIII No. 2, 1924. वस्तुत. उन्हें मूलधातु का तद्भव रूप ही स्वीकार करना चाहिये।

[1]धातु प्रकृति

अपभ्रंश मे रूपनिर्माणार्थ धातु प्रकृति का आधार म० भा० आ० प्राकृत के अनुसार निम्नलिखित रहा है—

(१) वर्तमान कर्तृवाच्य प्रकृति

क. प्रा० भा० आ० धातु की वर्तमान काल (लट् लकार) की प्रकृति जिसके साथ -अ का उपबन्ध जुड़ा हुआ है। संस्कृत भाषा के विभिन्न वर्णों का अभाव हो जाता है और उनमे प्रयुक्त अनेक विकरण काम मे नहीं आते।

हलन्त को अकारान्त करने वाली प्रवृत्ति न केवल नाम मे ही रही है। अपितु धातुओ मे भी समाविष्ट हो गई है।[2] अकारान्त-भिन्न अन्य स्वरान्त धातुओ मे भी -अ उपबन्धित होने लगा है।[3] जैसे √चल, चलइ, √पढ, पढइ, √लिह, लिहइ <लिखति, √पाव, पावइ <* आपति <प्राप्नोति, √कर,* करइ <करोति, √रुव, रुवइ <*रुदति <रोदिति, √अह, अटइ <* असइ <अस्ति, √हण, हणइ <*हनति <हन्ति, √तूस, तूसइ < तुष्यति, √चोर, चोरइ < चोरयति, √आयण्ण, आयण्णइ <आकर्णयति, आदि।

√धाअ, धाअइ, √जाअ, जाअइ, √विक्केअ, विक्केअइ, √होअ, होअइ, आदि।[4]

कुछ धातुओ के साथ -ण (श्नम् विकरण का सादृश्य) उपबन्ध प्रकृति निर्माण करता है जैसे— √सुण, सुणइ <शृणोति, √धुण, धुणइ <धुनोति, √चिण, चिणइ <चिनोति, √चुण, चुणइ =चिनोति (स्वर परिवर्तन)[5]

ख. देशी धातु, शब्दानुकरणात्मक और नामधातु मे भी प्रा० भा० आ० धातु के वर्तमान काल की तरह ही -अ उपबन्धयुक्त प्रकृति रहती है।

(२) वर्तमान कर्मवाच्य प्रकृति

प्रा० भा० आ० क -य प्रत्यय के विकृत रूप को मूलधातु के साथ मिलाकर प्रकृति बनती है जैसे— √सलहिज्ज सलहिज्जइ <श्लाघ्यते, √उपज्ज,

---

१. हेम० ८।४।२३९ पर वृत्ति शबादीना च प्रायः प्रयोगो नास्ति।

२. व्यञ्जनाददन्ते। हेम० ८।४।२३९.

३. स्वरादनतो वा। हेम० ८।४।२४०.

४. हेम० ८।४।२४१.

५. स्वराणां स्वराः (हेम. ८।४।२३८.

उपज्जइ < उत्पद्यते, √कहिज्ज, कहिज्जइ < कथ्यते, √चल्ल, चल्लइ < चल्यते, √फिट्ट, फिट्टइ < स्फिट्यते, √बुज्झ, बुज्झइ < बुध्यते। प्रा० भा० आ० के क्त-प्रत्ययान्त प्रातिपदिको से नामधातु बनाकर अनेक क्रियारूपो का निर्माण अपभ्रंश मे होता है। जैसे, मुक्कइ या मुक्केइ < मुक्तियति, पइट्ठइ < प्रविष्टयति, भग्गइ < भग्नयति, लग्गइ < लग्नयति।

रूप प्रक्रिया

धातुरूप प्रक्रिया मे सबसे पूर्व लकार या काल का विचार आता है। उसे सरलकाल और संयुक्तकाल मे विभक्त किया जा सकता है।

सरलकाल

(१) सीधे प्रा० भा० आ० > म० भा० आ० द्वारा प्राप्त काल अर्थात् "आख्यात काल"।

(क) वर्तमानकाल अर्थात् सामान्य वर्तमान काल

(ख) भविष्यत्काल

(ग) भूतकाल (विरल)

(घ) विध्यर्थक

(२) प्रा० भा० आ० के कृदन्तो से प्राप्त काल अर्थात् "कृदन्तकाल"

(ङ) भूतकाल जो पूर्णभूत कृदन्त, निष्ठा प्रत्यय अर्थात् -त, से प्राप्त होता है।

(च) क्रियातिपत्तिकाल या हेतुहेतुमद्भूतकाल जो प्रा० भा० आ० वर्तमान कृदन्त (शतृ) अर्थात्—अन्त पर निर्भर करता है।

(छ) भविष्यत्काल जो भविष्यदर्थक कृदन्त -तव्य पर निर्भर करता है।

संयुक्तकाल

वे काल जो वर्तमान कृदन्त -अत या -अत (अन्त) भाववाची धातु अर्थात्—आछ, -हो, -रह् से वर्तमान या भूत मे निष्पन्न होते हैं।—

(ज) धारावाहिक वर्तमानकाल

(झ) धारावाहिक भूतकाल

(१) आख्यात काल

(क) वर्तमानकाल

प्राकृत वैयाकरणो के अनुसार अपभ्रंश के विशिष्ट प्रत्यय निम्न हैं—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	—	हिं (हेम० ८।४।३८३)

	एकवचन	बहुवचन
मध्यम पुरुष	हि (हेम० ८।४।३८३)	हु (हेम० ८।४।३८४)
उत्तम पुरुष	उं (हेम० ८।४।३८५)	हु (हेम० ८।३८६)
	उ (ल० ४.५४)	

नाम की कारक विभक्तियो से मिलती हुई ये आख्यात विभक्तियाँ निर्दिष्ट करती हैं कि दोनो के विकास ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। इससे हि, हु और उ तथा उनके अनुनासिक रूप हिं, हुं और उं निपातो के योग से वर्तमानकाल के पुरुष और वचन का निर्माण होने की संभावना बढ़ जाती है। प्रथम पुरुष एकवचन मे प्राकृत का इ या उसका अनुनासिक रूप इं (विरल) ही अपभ्रंश मे अत्यधिक मान्य रहा। पूर्वनिर्दिष्ट धातु प्रकृतियो के साथ इन प्रत्ययो के योग से रूपनिर्माण अत्यन्त सरल हो गया। जैसे—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	चलइ	चलहिं
मध्यम पुरुष	चलहि	चलहु
उत्तम पुरुष	चलउं	चलहुं

इन प्रत्ययो के अतिरिक्त प्रा० भा० आ० के ध्वनिविकृत प्राकृत के भी कुछ रूप स्वीकृत रहे। उनको मिलाने से पूरे रूप निम्नलिखित होंगे—

	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०	-इ, चलइ, (प्रा० प्र० ७.१)	-हिं, चलहिं
	-ए चलए (प्रा० प्र० ७.१, तर्क० २६, २७)	-न्ति, चलन्ति (हेम० ४, ३८२ विकल्प)
	-एदि चलेदि (तर्क० २६ २७)	-न्ते, चलन्ते (ल० ४-५१)
		-इरे, चलिरे (ल० ४।५१) ?
म० पु०	-हि, चलहि	-हु, चलहु
	-सि, चलसि	-ह, चलह
		-इद्ध, चलिद्ध (ल० ४-५३) ?
उ० पु०	-उं, चलउं	-हुं, चलहुं
	-उ, चलउ (ल० ४-५४)	-मु, चलमु (ल० ४-५५)
	-मि, चलमि (हेम० ४-३५८ ल० ४-५१)	-म, चलाम (ल० ४-५५)
	-आमि, चलामि (तर्क २६)	-मो, चलामो (ल० ४।५५)

प्रथम पुरुष एकवचन—-इ<ति (त लोप प्रा० प्र० २१२, ७।१) रूप निर्विवाद रूप से सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य में सर्वत्र सर्वदा प्रचलित है। अच्छइ, अणुहुज्जइ, अटइ,

करइ, चिन्तवइ, पियइ, चरइ, सलेहइ आदि उदाहरण हैं। कभी कभी छन्दोनुरोधार्थ -इ से पूर्ववर्ती अ को एकार बनाकर -एइ कर दिया जाता है जैसे खचेइ (प० च० ३-१२-५), करेइ (प०च० ४-१२-६)। -इ को सानुनासिक भी कही कहीं पर दिया जाता है जैसे—आयन्तहुँ, मणइं (भ० क०)। म० भा० आ० मे प्रा० भा० आ० के आत्मपनेपद और परस्मैपद का भेद समाप्त हो गया था और परस्मैपद रूप ही सामान्यतया चल पड़ा था।[1] आत्मनेपद तुल्य कुछ रूप फिर भी चलते रहे। अपभ्रंश मे भी अप्पए, खुज्झए, चिंतए, ताणए, पिक्खए, दसए (भ०क०) मिलए (की०ल०) आदि स्वल्प प्रयोग उपलब्ध हैं, <ते (तलोप)। अतएव तर्कवागीश ने प्राकृतकल्पतरु में इसे स्थान दिया।[2] यह -ए भी ह्रस्वीकरण नियम के अनुसार -इ मे परिवर्तित होकर परस्मैपद रूप से मिल गया। हेमचन्द्र ने ८।४।३९३ के उदाहरण मे प्रस्सदि पाठ दिया है। तर्कवागीश ने २६ श्लोक मे, सो हसेदि उदाहरण दिया है। इनमें -दि<ति रूप है, तकार को दकार करना अपभ्रंश का नियम है (हेम० ४।८।३९६) यद्यपि दि का प्रयोग अपवादात्मक है और शौरसेनी प्रभाव है। अदि का -एदि रूप एइ की तरह व्याख्यात समझना चाहिये। कीर्त्तिलता में -थि (१६ प्रयोग) और -हि (९ प्रयोग) भी हैं। -थि -ति के प्राचीन शक्तिशाली महाप्राण रूप का जागरण है और इसी से -हि का विकास है।

श्री शहीदुल्ला ने प्राच्य क्षेत्र के अपभ्रंश मे -इ रूप के साथ -अ रूप के अस्तित्व की ओर ध्यान भी खीचा था। श्री तगारे ने दोहाकोश मे प्राप्त इस प्रकार के प्रयोगो की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है पर वह अनावश्यक है और कही कही भ्रात भी।[3] यदि उसी क्षेत्र के कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका ग्रन्थो का और मध्यदेश के उक्तिव्यक्ति प्रकरण का अध्ययन किया जाता तो यह समस्या नही प्रतीत होती। इन सब में -अ प्रत्ययान्त वर्तमान काल के रूप प्रचुर मात्रा मे प्रयुक्त हैं। डा० सक्सेना ने कीर्त्तिलता मे ऐसे १० उदाहरण कर, वाज, बस, ओह आदि दिखाये हैं।[4] उक्तिव्यक्ति मे यह सामान्य रूप है जैसे, वाढ, ओष्ठ, चड, खस, नाद, (नन्दति) माद (मन्दते) कीज (क्रियते), खीज (क्षीयते), पाविअ (प्राप्यते), सामिअ (शाम्यते) उसस (उच्छ्वसिति), रंग (रिंगति), आच्छ (आस्ते), वल्ग, कुथ, कान्द, सकुड, साज, मूझ (मूर्च्छति), गूंज, लोट, कीड, घूम आदि लोकोक्तियों के प्रकरण (पृ० ३३ से ५२ तक) मे। इतना ही नही यह तो अकारान्त धातुप्रकृतियो की स्थिति है, अन्य स्वरान्त धातुओ का तो शुद्ध प्रयोग ही है जैसे—हो, जा, दे आदि। ये शुद्ध धातु प्रयोग कीर्त्तिलता में भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोसल से मिथिला

१. "धातुतो भवति नात्मनेपदम्" -प्रा० क० २६।
२. तिम्वात्र "पेल्ले जुदु हत्थि कएए" प्रा० क० २७ यहाँ पेल्ले=पावयति एकरान्त का उदाहरण है।
३. हि प्रा० अ० तगारे -पृ० २८८।
४. कीर्त्तिलता (द्वितीय संस्करण) -डा० सक्सेना भूमिका पृ० ४७।

तक ये रूप १४वी शताब्दी तक काम मे आते रहे हैं यद्यपि आ० भा० आ० ने -अइ या उद्वृत्त सन्धि होने पर -ए रूप ही अपनाया। कीर्तिलता मे करइ के साथ करे या खरिदे रूप भी प्राप्त हैं। प्रश्न है -अ के विकास का। यदि केवल धातु प्रकृति का ही अकारान्त प्रयोग उसी तरह स्वीकृत कर लिया जाय जैसे विध्यर्थ मे प्रा० भा० आ० के म० पु० एकवचन में चल, पठ, लिख, गच्छ आदि रूप हैं या आ० भा० आ० -हिन्दी में पढ़, लिख जा, आदि हैं तो कोई आपत्ति न होनी चाहिये और इससे हो, जा, खा आदि वर्तमान काल के प्रयोग भी व्याख्यात हो जाते हैं।

डा० चटर्जी ने अइ के क्षीण होने का परिणाम -अ माना है[1], चलति> चलइ> चले> चले> चल। कीर्त्तिपताका के छन्दो मे -ए का ह्रस्व उच्चारण एँ है और उसे -अ पढ़ने मे अर्थ में कोई व्याघात नही होता अपितु स्पष्टता आ जाती है। श्री शहीदुल्ला भी -अइ का ही संकोचन स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। "सिद्ध पुण तक्खणे णउ जरा मरण ह भाय" यहां डरना अर्थ करके श्री शहीदुल्ला और तगारे दोनों भ्रान्ति में पड़ गये। अर्थ है, "सिद्ध होते ही तत्क्षण जरा और -मरण नही प्रतीत होते", यहां भाय=भाति है न कि बिभेति या तगारे का द्रविड प्राणायाम पूर्ण भात=भीत। भावे, भाये या भाए आदि आ० भा० आ० के प्रयोग इसी के हैं। विकास भाति> भाइ> भाअ> भाय है। इसी प्रकार पडिहाज< प्रतिभाति और मर < मरइ< *मरति< म्रियते हैं। मर जैसे अनेको प्रयोग उ० व्य० प्र० और की० ल० में देखे जा चुके हैं।

प्रथम पुरुष बहुवचन—अपभ्रंश मे प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० पाली और प्राकृत के -न्ति विभक्त्यन्त रूप से उत्तरोत्तर -हिं की ओर प्रगति होती गई। आ०भा०आ० गुज०, व्रज, हिन्दी आदि मे -हि रूप का ही प्रयोग है। भ०क० मे अच्छति, अवलोयति, आवति, करति इत्यादि ६५ प्रयोगो के साथ करहिं, वुच्चहिं, चलहिं आदि १० प्रयोग भी हैं। प० च०[2], प०सि० च०[3], म० पु०, णा० कु०च०[4], सं० रा०[5] मे -हिं प्रयोग का अभाव है, सर्वत्र -(अ) न्ति प्रयोग ही मिलता है। पाहुडदोहा में गज्जंति, गणति, वसति, भणति, करति आदि के साथ करहिं (२१७) प्रयोग मिल जाता है, सनत्कुमार चरिउ और कुमारपाल प्रतिबोध मे अवश्य अनुपात बदल गया है, पहले मे १० : ३० और दूसरे मे ५ : ३३ है। दो०को० और की०ल० मे -(अ) हि

१. उक्तिव्यक्ति प्रकरण -डा० चाटुर्ज्या की भूमिका पृ० १८ और ५३
२. पउमचरिउ भायाणी की भूमिका पृ० ६६
३. कति, करंति, लिहंति रयंति, पढन्ति आदि प० सि० च० ३।३।
४. होंति, भ्रमंति, पियंति, करंति आदि प्रयोग म० पु० ८।१२, तथा अन्यत्र
५. णा० कु० च० -डा० हीरालाल जैन की भूमिका पृ० ५४
संदेशरासक -भायाणी की भूमिका पृ० ३५

का प्रयोग हेरहिं, आनहिं आदि मे पर्याप्त है, -(अ) न्ति के केवल ३ उदाहरण तोल्लन्ति आदि हैं।

-(अ) न्ति से -(अ) हिं का विकास ध्वनिपरिवर्त्तन से तो सर्वथा असभव है। यह या तो पूर्वोक्त पद्धति पर सज्ञा की तरह हि या हिं अव्यय का पूर्वनिर्धारित धातु प्रकृति के साथ योग है या मध्यमपुरुष के मिथ्यासादृश्य का परिणाम है। की० ल० मे प्र० पु० ए० व० का -(अ)हि -रूप भी बहुवचन मे अनुनासिक -(अ) हिं का मार्ग प्रशस्त करता है। उ० व्य० प्र० में -(अ) न्ति के स्थान पर -(अ) ति ही मिलता है, अन्ति>अति<अति। -अति मे तकार लोप -अइ और उसका शक्तिशाली रूप अहिं को जन्म दे सकता है।

मध्म पुरुष एकवचन—प्रा० भा० आ० का -(अ) सि रूप म० भा० आ० मे भी वैसा ही रह गया और अपभ्रंश ने भी उसे स्वीकार किया। परन्तु यह -सि -हि में ध्वनिविकार से परिवर्त्तित हो गया। ब्लाख, होर्नली आदि ने इसका अन्वेषण विध्यर्थ म० पु०* धि>हि से ढूँढने का व्यर्थ प्रयास किया है। स का ह मे परिवर्त्तन प्राकृत और अपभ्रंश मे सामान्य घटना है (देखिये ध्वनिशिक्षा, ह वर्ण)। अपभ्रंश मे प्रधान रूप -(अ) हि (-एहि, -हि) है। भ० क०, प० च०, पा० दो०, स० रा० में-हि प्रयोग ही है जैसे करहि, जाणहि, विलसहि, मुणेहि, भणेहि, होहि आदि। म० पु०, णा० च० आदि मे पुष्पदन्त ने भी -हि के प्रयोग अधिक किये हैं जैसे—जाणहि, हिंडहि, रहेहिं आदि पर -सि प्रयोग को भी छोड़ा नही है जैसे—होसि, घविसि आदि। -सि प्रयोग कई स्थानो पर छन्दोनुरोधार्थ और प्राकृत प्रभाववश भी है। पश्चिमी अपभ्रंश मे -हि प्रयोग ही प्रमुख है। मध्यदेशीय उ० व्य० मे -सि ही गृहीत है, जैसे तु करसि। यही स्थिति प्राच्यक्षेत्र मे है। दो० को०, की० ल०, की० प० मे -सि रूप ही प्राप्त है -हि नही, जैसे—कहसि, जासि, भगसि (प्रा०भा० आ० के प्राच्यक्षेत्र बगला मे चलिस, मैथिली मे चलसि आदि के विकास का यही कारण है। पश्चिम क्षेत्र मे स का सर्वथा अभाव है -चलइ, चले आदि रूप है।

मध्यम पुरुष बहुवचन—(अ) ह विभक्त्यन्त प्रा० भा० आ० या पाली (अ) थ का म० भा० आ० रूप है जो जै० शौर०, मागधी औ ढक्की मे उपलब्ध है। इसी -अह के सज्ञा की प्रथमा विभक्ति ए० व० की तरह -अहा (आकारान्त), -अहु (उकारान्त), -अहो (ओकारान्त) स्वरपरिवर्त्तन से रूप निष्पन्न हो सकते हैं। यों ह, और हु और हो निपात भी हैं जिनका धातु प्रकृति से योग सभाव्य है। ब्लाख और ग्रे ने उत्तमपुरुष ब० व० मस् की तरह म० पु० के थस् तिङन्त से -अहो >अहु>अह का विकास अन्वेषण किया है। प्रा० भा० आ० बहुवचन मे थ तिङन्त है, थस् नही जो द्विवचन का प्रयोग है। द्विवचन बहुवचन मे अवश्य

प्राकृत में परिणत हुआ है तथापि बहुवचन से बहुवचन को निष्पन्न करना अच्छा है। अ को आ या उ मे परिवर्त्तित करना या उ को अ या आ मे परिणत करना दोनो मे एक-सा ही है। करहु (उ० व्य०), गवेसहो (प० च०), इच्छइ (हेम०) इत्यादि उदाहरण हैं। सदेशरासक में एकवचन के प्रभाव से बहुवचन मे इहि या ईहि रूप ही हैं, उकारान्त नही।

विध्यर्थ में मध्यमपुरुष के रूपो की वर्तमानकाल के रूपो के साथ तुलना रोचक है। एकवचन मे -हि और बहुवचन में -अहु और -अह रूप दोनो मे एक हैं जो पारस्परिक प्रभाव को संभाव्य बनाते हैं।

उत्तम पुरुष एकवचन—(अ) मि या -आमि (-एमि, -इमि इसी के अन्तर्गत हैं) और -उ या -उ ये दो रूप अपभ्रंश में प्राप्त होते हैं जिनमे से पिछला रूप उसका निजी है और उसके उकारबहुलत्व का परिचायक है। भ० क०, प० च०, प० सि० च०, मे -भि तिङ का ही प्रयोग है। उनमे अपवादात्मक एक एक प्रयोग जैसे करउ (भ० क०), विसहउ (प० च०) सदेहास्पद हो जाता है। म० पु०, णा० च० मे भी -मि ही प्रमुख है जैसे कहमि, भणमि, परिगणमि, वहमि, सद्दहमि (म० पु०) जामि, पहणमि जिणमि (णा० च०) आदि परन्तु -उं का प्रयोग करउं, कहउ आदि है। सं० रा० मे अउ (अउं) रूप २३ हैं जबकि -अमि रूप केवल ३ ही हैं। वे तीनों भी अनुप्रासार्थ काम मे आये हैं। अउं को लिखने मे ओं भी हो जाता है। उ० व्य० में हो करओं=हउ करउं प्रयोग है। की० ल० की नेपाली प्रति में -अवों और स्तम्भतीर्थ प्रति मे -अओं पाठ है। इसमे -मि प्रयोग नही है। भूतकाल के क्त प्रत्यय से निष्पन्न कृदन्त अकारान्त शब्द भी प्रथमा ए० व० मे -उ प्रत्यय ग्रहण करते हैं। उनके साथ वर्तमानकाल के उ या उ की भ्रान्ति हो जाती है जैसे म० पु० ३१।१९ के मइ मंतियउ=मयामन्त्रितम् मइ चिंत्तियउ, मइ भासियउ, मइं ववसियउ आदि। अत. यह समझा जाता है कि भूत कृदन्त का -उ रूप ही वर्तमान काल के -उ को प्रभावित करता है, प्राकृत मे—अमु[1]>अवु>अउ>अउ जैसी स्थिति सभव नही। यों अमि का अवि>अवि रूप (हेम० ८।४।३९७) भी विरल प्रयोग का विषय है ही जैसे—वरेवि, परिहरेवि (प० च० १८-८-९) छिन्निवि (प० सि० च० ३।७।९६) आलसडोर्फ ने पुष्पदन्त के महापुराणाश हरिवशपुराण मे -अमि, -अवि, और अउ का अनुपात ८६ . ७ : १ बताया है। -अवि>अवि इकार उच्चारण मे क्षीण होकर व के सप्रसारण -उ से कथचित् -अउ रूप निष्पन्न कर सकता है।

-(अ) मि लौर -(अ) उ के विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि कालानु-क्रम मे -मि से -उ की ओर निरन्तर वृद्धि है और १२वी १३वी शताब्दी मे एकमात्र -उ (उं या ओ या औ) बच जाता है। यदि कालिदास सहीहिमि (विक्र० ४।११) लिखते हैं तो विद्यापति कहओ या कहअो।

१. तृतीयस्य मो -मु-माँ। हेम० ८।३।१४४

उत्तमपुरुष बहुवचन—प्रा० भा० आ० का मस् तिङ अर्थात् -आम रूप म० भा० आ० मे -आमो, -आमु, -आम मे परिणत हो गया[1]। अपभ्रंश में यही -मो, मु और -म रूप गृहीत है। -मु -मो का ह्रस्वीकृत रूप है। लक्ष्मीधर जैसे वैयाकरण ने इन तीनो रूपो (मो, मु और म) का अस्तित्व बताया है। भ० क०, प० च०, प० सि० च०, स० रा०, की० ल० मे इनका सर्वथा अभाव है। म० पु० और णा० कु० च० मे विरल प्रयोग सस्कृताभास या प्राकृताभास तिङन्तो मे हैं जैसे णिवसामो आदि।

अपभ्रंश का अपना प्रत्यय हकारादि है जो प्रधानतः -हुं है। आश्चर्य का विषय है कि भ० क० मे सर्वत्र -हु[2] (या हुँ), प० च० मे सर्वत्र -हु[3] और सं० रा० मे सर्वत्र -हि (या हिं)[4] का प्रयोग है। ये हु, हु और हिं अनायास अपभ्रंश की बहुवचन कारक विभक्तियों (आमो हु, भ्यसो हु, भिस्सुपोर्हि) की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं और यह स्वीकार करने की प्रेरणा देते हैं कि दोनो मे किसी प्रकार का सम्बन्ध है। यह संबंध आदान प्रदानात्मक भी हो सकता है और दोनो जगह एक -से निपातो का उपयोग भी। पिशल -हु के आरम्भ और विकास को अन्धकारग्रस्त मानते हैं; यद्यपि अपादान के -हु से सादृश्य अवश्य प्रदर्शित करते हैं।[5] यदि अन्य दो सादृश्यो की ओर भी उनका ध्यान गया होता तो कुछ निश्चित मन्तव्य उपस्थित करते। इस -हुं का स्वरूप निर्धारण करने के लिए अनेक अटकलबाजियाँ हुई हैं। होर्नली ने प्राकृत अमो >अमु>अवु >अउ मे हकार का शक्तिशाली प्रवेश बताया है ताकि सभवतः एकवचन के अउ से भेद किया जा सके और प्रथमपुरुष बहुवचन के -अहि रूप से समीकृत किया जा सके।[6] कावेल ने उत्तमपुरुष सर्वनाम के बहुवचन रूप -अम्हो और-अम्ह से इसकी योजना की है, क्योंकि उन्हें हसम्हो और हसम्ह इन धातु के प्रयोगो के उत्तरभाग में -अम्हो और अम्ह की गन्ध मिल गई। ब्लाख ने इस -अम्हो के साथ मध्यमपुरुष बहुवचन -हु का भी प्रभाव बताया। श्री तगारे ने पाली के वत्तेयाम्हे को वत्तेय+-अम्हे मे तोड़ कर उसी के सादृश्य पर अस्मक (अस्मद्) के बहुवचन का रूपान्तरण माना[7]; कावेल की ही बात को नये तरीके से रखा। ये सब समाधान बहुत संतोष प्रद नहीं प्रतीत होते। कारक और आख्यातविभक्ति के पारस्परिक आदान-प्रदान की पूर्वनिर्धारित हमारी धारणा और प्रबल हो जाती है।

---

१. तृतीयस्य मो -मु-मॉं। हेम० ८।३।१४४

२. भ० क० -पी० टी० गुणे की भूमिका पृ० २४ अक्खहुँ, जाणहुँ, जुयहुँ आदि

३ प० च० -भायाणी की भूमिका पृ० ६८, म० पु० और णा० कु० च० में भी -हुं प्रयोग हैं। तर्कवागीश का उदाहरण हसहुँ या अम्हह है। उ० व्य० में करहु उदाहरण है।

४. स० रा० -भायाणी की भूमिका पृ० ३५

५. प्रा० भा० व्या० अनु० ४५५

६. Comparative Grammar, अनु० ४६७

७. हि० ग्रा० अ० पृ० २६०

(ख) भविष्यत् काल

भविष्यत् काल मे प्रयुक्त होने वाली तिङन्त विभक्तियां वहीं हैं जो वर्तमान काल मे निर्दिष्ट की जा चुकी हैं। भविष्य सूचक प्रत्यय प्रा० भा० ग्रा० मे स्य था। उसी के स को ह[1] मे ध्वनिपरिवर्तित करके स्य>स्स>स>ह, या बिना परिवर्तन किये स्य>स्स[2], स्सा[3], >स म० भा० ग्रा० के रूप बने। अपभ्रंश मे स और ह दोनो को स्थान दिया गया। वैयाकरणो मे हेमचन्द्र ने वर्त्स्यति सस्य सः (८।४। ३८८) मे स्य को स विकल्प से विधान किया। तर्क० ने २८ मे और मार्कं० ने ५६-६० मे -इहि और -ईस को भविष्यदर्शक बताया। तर्क० का उदाहरण है -'बालहु एहु हसि-हिइ' 'एहुहु हसीसइ कण्हु'। इस आधार पर इस धातु के रूप निम्नलिखित होगे—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	हसिहिइ, हसीसइ	हसिहिंहि, हसीसहिं
मध्यम पुरुष	हसिहिहि, हसीसहि	हसिहिहु, हसीसहु
उत्तम पुरुष	हसिहिउ, हसीसउ	हसिहिहु, हसीसउ

-ईस के ही -एस और -इस या -स, रूप भी उपलब्ध होते है। भ० क० मे एस के प्रयोग आवेसइ, एसइ, करेसइ, जाएसइ आदि मे हैं। पुष्पदन्त ने भी यही पद्धति कीलेसइ, णिवसेडहि, परिणेसामि इत्यादि मे अपनायी है। प० च० आदि मे भी -एस ही है। अतः कहा जा सकता है कि -सवर्ग की भाषा मे -एस रूप प्रायः सर्वसम्मत है। धनपाल स्वयमू, पुष्पदन्त, मुनि रामसिंह -सवर्ग के कवि हैं। पुष्पदन्त के णा० कु० च० मे एक विशेषता दृष्टिगोचर होती है कि एकवचन के रूप सवर्ग के हैं। पर बहुवचन के रूप हवर्ग के है। एकवचन मे -एसइ और बहुवचन मे -इंहिंति रूप हैं जैसे कीलेसइ, जणेसइ, करिहिंति मुंजिहिंति।

आल्सडोर्फ ने हरिवंश की भूमिका से स : ह=५१ ११ बताया है। स० रा० में भविष्य के आख्यात प्रयोग अधिक नही हैं, जो है उनमे स : ह=३ : ४ (कहिसु, जाहसि तथा आविहसु, सतोसिहइ उदाहरण लिये जा सकते है)। इस तरह पश्चिम क्षेत्र मे स की ही प्रधानता है यद्यपि उत्तर की ओर जाने पर ह का प्रयोग बढ़ने लगता है। आ० भा० आ० मे गुजराती सवर्ग मे तो मारवाड, व्रज और बुदेली हवर्ग मे हैं। भिल्ली दोनो के मिलनस्थल पर होने से दोनो रूप रखती है। सदेशरासक पश्चिमोत्तर का प्रतिनिधि है जिसमे दोनो का मिलन है। कालिदास ने सहीहिमि का प्रयोग किया है। मध्यदेश मे आने पर उक्तिव्यक्ति प्रकरण[4] मे हवर्ग ही आता है -करिह, करिहसि, ओलगिहउ उदाहरण हैं। अवधी मे भविष्य का निर्माण ह से ही

१. भविष्यति हिरादि.। हेम० ८।३।१६६
२. मे स्स। हेम० ८।३।१६६
३. हेम० ८।।१६७
४. कर -किष्यसि -करिह काला संप्रति -गत -भ.विन- स्फुटा उक्तौ- उ० व्य० कारिका १०।

है। प्राच्यक्षेत्र मे भी हवर्ग प्रमुख है, स रूप का सर्वथा अभाव नही है। दोहाकोष स० मे वैसउ<वैसहु<*वसिष्यथ=वत्स्यथ उदाहरण है। कीर्तिलता में दूसिहइ, सिज्झिहइ आदि ७ प्रयोग हवर्ग के ही हैं। केवल होसउं और होसइ स के उदाहरण हैं। हो के साथ स रूप का प्रयोग प्राय. अपभ्रश मे सर्वसम्मत है। इस तरह मध्यदेश और पूर्व हवर्ग मे कहे जा सकते हैं।

(ग) भूतकाल विरल

आख्यात रूप का प्रयोग प्रा० भा० आ० के उत्तरकाल से ही कम हो चला था। संस्कृत के भूतार्थक तीन लकारो मे लङ् प्रचलित रहा और धीरे धीरे पूर्णभूत कृदन्तले -निष्ठा प्रत्ययो क्त और क्तवतु -ने उसका भी स्थान लेना प्रारम्भ किया। यह प्रक्रिया म० भा० आ० प्राकृत द्वारा अपभ्रश मे और तदनन्तर आ० भा० आ० मे उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। हिन्दी की भूतकाल क्रिया सर्वथा पूर्णभूत कृदन्त पर निर्भर करती है। णायकुमार चरिउ की भूमिका मे डा० हीरालाल जैन ने लिखा है कि वे सम्पूर्ण ग्रन्थ मे शुद्ध भूत आख्यात का एक प्रयोग आसि (आसीत्) ६।८।११ मे पा सके। भ०क० में भी आसि के उत्तमपुरुष (२१।५।११) और मध्यमपुरुष (७।१०।५) के एकवचन तथा प्रथमपुरुष के बहुवचन (५।१२।५) में प्रयोग प्राप्त होते हैं; एक अन्य प्रयोग गम=अगम का ४।१३।३० है। स० च० ४४७।८ मे अहेसि=अभूत्, म० पु० २।४।१२ मे णिसुणिउं=न्यश्रुणवम् भी उदाहृत किये जाते हैं।

(घ) विध्यर्थक

प्राकृत वैयाकरणो ने अपभ्रंश की विध्यर्थ क्रिया मे मध्यमपुरुष एकवचन में ही विशेषता पाई। हेमचन्द्र ने ८।४।३८७ मे इ, उ, ए आदेश विधान किया। प्राचीन हि रूप भी चलता ही रहा। यो क्रमदीश्वर ने उत्तमपुरुष बहुवचन मे -हु और प्रथमपुरुष एकवचन में -उ प्रत्यय का भी विधान किया है। परन्तु इसका अपभ्रश काव्य मे प्रयोग प्राय. नही के बराबर मिलता है, सुभाषणाह-चरिउ मे नेहु(नयाम्) (१७-५७०) और स० कु० च० में मजिमु (३३७।६) और गेण्हिमु (४००।८) कथचित् उदाहरण हैं। प्राकृत के प्रथमपुरुष एक-वचन मे प्रयुक्त -उ प्रत्यय को ही क्रमदीश्वर ने अपभ्रश मे प्रदर्शित किया। प्राकृत मे भले ही उत्तमपुरुष एकवचन मे -मु[1] और बहुवचन में -(आ) मो[2] या -(अ -, ए -) म्ह काम आते रहे हों, वस्तुतः अपभ्रश मे दोनो वचनो मे ही विध्यर्थ प्रयोग का अभाव है।

प्रथमपुरुष एकवचन— -उ या -अउ>प्रा० भा० आ० -तु जैसे उभवउ, होउ, वियलउ किज्जउ (णा० कु० च०) करउ (उ० व्य०)।-(अ) हु>शक्तिशाली -(अ)

१. हेम० ८।३।२७३।
२. हेम० ८।३।२७६।

उ है या मध्यमपुरुष हकार के सादृश्य से निष्पन्न है, इसका प्रयोग अच्छहु, करहु हैं।

प्रथमपुरुष बहुवचन—म० भा० आ० में प्रयुक्त अंतु प्रा० भा० आ० अन्तु अपभ्रंश में भी चलता रहा। इसके उदाहरण णा० कु० च० में एंतु, मेल्लंतु तथा भ० क० के अच्छंतु, करंतु ह० वं० के पसियन्तु, देन्तु, होन्तु हैं। अपभ्रंश का अपना विशिष्ट रूप -अहुँ > अहु > *अयु है।

की० ल० में -न्तु और उं में परिणत होकर रहउं, जाउं, जाउ, करउ आदि रूप देता है। करउ के करओं और करिअउ रूप भी मिलते हैं।

मध्यमपुरुष एकवचन—

शून्य या -अ[1] प्रा० भा० आ० रूप)	जय (णा० कु० च०, म० पु० भण (सं० रा०) तत्सम प्रयोग सुण, कह (की० ल०)
-इ	सुणि, कहि, करि, (णा० च०, प० च०, भ० क०, पा० दो० आदि) पडिरंजि (सं० रा०) धरि, मिल्लि, वथिज्जइ, (पा० दो०)
-उ	कहु, चडु, हणु, पेक्खु, (णा० च०) जिउ, णीसरु, मरु, हसु, (प० च०)
-ए	करे (णा० च०, प० च०) भूले, कहे, पाले, मुए, जोते, धरे (प० च०) भरो (सं० रा०)
-हि	आमक्खहि, णिसम्महि (विक०) कहहि, डहहि, पेसहि (णा० च०) अक्खहि, करहि, करेहि, अच्छहि (भ० क०) लिहिहि (पा० दो०) जहि (की० ल०)
-सु	भणसु, जिणसु, कहसु (णा० च०) करिषु (की० ल०) इकार के कारण मूर्धन्य।
-हुँ	संचहु, संचहु, अच्छहु, निसुणहु (भ० क०)
-हु	कहहु (सं० रा०)

1. हेम० ८।१।२७५ में प्रत्यय लुक् कर इसी स्थिति को लाते हैं। संस्कृत में भी अतो है। पा० ६।४।१०५ से लुक् हो जाता था व्याकरण शास्त्र में विहित प्रत्यय का लोप या अदर्शन ही शून्य है।

प्रा०भा०आ० से चला आता-हि[1] रूप विक्रमोर्वशीय से लेकर म०पु०, भ०क०, सा० दो०, पा० दो०, आदि तक मान्य रहा। हरिवंश पुराण में आल्सडोर्फ की गणना मे -अहि ७१, -उ २२ तथा -इ ३२ हैं। शून्य रूप से या -अ से जिस प्रकार कारकों में -उ, -ए-, -इ आदि कारकान्त प्रत्यय रूप धारण करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी प्रा० भा० आ० के लोट् लकार के म० पु० ए० व० के अकारान्त रूपों से विभिन्न स्वरान्तों का विकास हुआ। इकारान्त विध्यर्थक रूप पूर्वकालिक क्रिया के रूप मे भी उपयुक्त होते है (हेम० ८।४।४३९)। -सु[2] रूप का विकास प्रा० भा० आ० एव>पाली स्सु>सु है[3], हेमचन्द्र ने ८।४।३८७ मे आदेशान्तर विधान मे हि के साथ स्व को भी पढा है जो इस मत को पुष्ट करता है। -हु<सु का हकार मे ध्वनि परिवर्त्तन है, -हु मे स्वपरिवर्त्तन है।

मध्यमपुरुष एकवचन—धातु प्रकृति के साथ -हु प्रत्यय का प्रयोग ही प्रायः अपभ्रंश मे सर्वसम्मत है। इस हु के विभिन्न रूप हुं, -हो, और -ह तथा -हं भी यत्रतत्र उपलब्ध होते हैं। विक्र० मे पेच्छहु, योगसार मे भुणहु, छण्डहु प्रयोग हैं, भ० क० मे -हु और -हो दोनों रूप काम मे आये हैं, जैसे—अच्छहु, अचहु, अप्पहु, करहु, धरहु तथा अवलहो उच्चल हो, तंडवहो देक्खहो आदि। णायकुमार चरिउ मे -हु ही प्राप्त है जैसे णीसारहु, मारहु, कड्ढहु, परितायहु। संदेशरासक में भी यही स्थिति है जैसे सुणहु, णिसुणेहु। प० सि० च० का निम्न उपदेशात्मक पद्य इस का उदाहरण है—

मं हणहु जीव सच्च भणेहु, पर -धणु परदारइं परिहरेहु।
आरंभि मरिगहि निवमु लेहु, निसि भोयणु महु-मज्जइं चएहु।४।१५।

भणह, चिंतह, करह, पुच्छह, भुंजह, सज्जह (की० ल०) आदि ह प्रत्ययान्त कुणह, थुणह, णवह आदि ह-रूपान्त प्रयोग हैं। इन सब प्रयोगो का मूलाधार प्रा०भा०आ० का म०पु०ब०व० का -थ रूप ही है। थ का ध्वनिविकार ह[4] हो गया है। ह को शून्य रूप समझ लिया जाय तो उसके अकार को सानुनासिक अकार, उकार, सानुनासिक उकार और ओकार में कारकवत् परिणत किया जा सकता है। कीर्त्तिलता में करओ √और सुनओ √ प्रयोग भी हैं जो आ० भा० आ० हिन्दी के करो और सुनो के पूर्वगामी हैं।

उत्तमपुरुष मे विध्यर्थ का अभाव हम देख आये हैं, परन्तु भ०क० मे अगले पृष्ठ पर दिया गया रूप उत्तमपुरुष बहुवचन प्रयोग का उदाहरण है—

---

१. सोर्हिर्वा। हेम० ८।३।१७४ विध्यादि में प्राकृत में हि विकल्प से हो जाता है, संस्कृत में भी -हि रहा ही है।

२. प्राकृत में -सु रूप प्रचलित रहा है, हेम० ८।३।१७३

३ प्रा० भा० व्या०—पिशल अनु० । ४६७

४. बहुषुन्तु ह यो। हेम० ८।३।१७६

तो वरि एवहिं एउ पउंजहं लहु महग्घमणिरयणइं पुंजहं।
विण्णिवि बारवार उत्थलहु सायरतीरि वहेविणु धल्लहुं।६।१५।

"तो अच्छा हो कि हम ऐसा करें कि शीघ्र महर्घ मणि और रत्नो का ढेर करें और दोनो को बार बार उठायें और सागर के तट पर ले जाकर डाल दें।" इस अर्थ के अनुसार श्री गुणे ने पउजह, पुंजह, उत्थलइ और धल्लहुं को यद्यपि ये म० पु० ब० व० के रूप हैं तथापि उत्तमपुरुष बहुवचन मे प्रयुक्त माना है। यदि 'हम ऐसा करें' अर्थ न करके 'ऐसा करो, ढेर करो, उठाओ और डाल दो', अर्थ करें तो प्रकरण मे भी कोई असगति नही आती और व्याकरण का शिष्ट प्रयोग भी बना रह जाता है। यहाँ कर्त्ता मे हम का वाची कोई शब्द नही दिया हुआ है। अगली पक्ति के "अम्हह" से कोई व्याघात नही होता। पक्ति है "जो तहिं सत्थवाहि को एसइ सो अम्हह नियनयरहो नेसइ" अर्थात् 'य:तत्र सार्थवाह: क: एष्यति सोऽस्माक निजनगरस्य नेष्यति "—जो कोई वहाँ सार्थवाह आयेगा वह हमारे अपने नगर को ले जायगा।" अपभ्रंश या आधुनिक आ० भा० आ० हिन्दी की वाक्ययोजना मे सम्मिलित प्रयत्न को बोधित करने के लिए मध्यमपुरुष बहुवचन विध्यर्थ का प्रयोग होता है "चलो करो" आदि।

यह भूलना न चाहिये कि अपभ्रंश मे और आ०भा०आ० मे वर्तमानकालवाची और विध्यर्थवाची क्रियायें बहुत समीपवर्त्ती है और एक दूसरे मे आसानी से परिवर्त्तित हो सकती हैं। अबतक जो विध्यर्थक रूप दिये गये वे वर्तमान काल के हैं। भविष्य विध्यर्थ प्रयोग भी अपभ्रंश के उत्तरकाल मे चल पडे थे जिनका अनुकरण आ० भा० आ० मे हुआ है। हिन्दी मे तुम चलोगे, पढोगे सामान्य भविष्य के अर्थ मे प्रयुक्त होने के अतिरिक्त भविष्यकाल मे आदेश अर्थ भी बताते हैं। उ० व्य० प्र० मे निवतेस=निमन्त्रिष्यसि और पढेसु=पठिष्यसि इसी तरह के प्रयोग हैं। बम्हइ पर निवतेसु=ब्राह्मणो को ही पर निमन्त्रण दोगे "पढेसु पर=पढ़ोगे ही (पृ० १६)। अवधी मे तुलसीदास के मारेसु, बाधेसु एकवचन मे तथा करेहु, मारेउ आदि बहुवचन मे भविष्य विध्यर्थ प्रयोग हैं। यहाँ -सु मे स भविष्य का बोध करता है।

सभाव्यार्थ, शक्यार्थ, और विध्यर्थ सभावना, सामर्थ्य और बाध्यता के क्रम मे एक दूसरे से जुडे हुए है। हेमचन्द्र ने इन सबको विध्यादि मे परिगणित करके प्राकृत के नियम दिये है। प्राकृत मे -इज्ज अनुबध तीनो अर्थो को अभिहित करता आया है। यह मध्यमपुरुप एकवचन मे प्रयुक्त होकर -इज्जसु, -इज्जहि, -इज्जे (इज्ज -इ) पदान्त भाग का निर्माण करता रहा है। अपभ्रंश मे भी निम्न प्रयोग ध्यान देने योग्य है —

सभाव्यार्थ—अच्छिजहि, करिज्जहि, गणिज्जहि (भ० क० मे एकवचनान्त);

अच्छिजहु, करिज्जहु, चिंतिज्जहु (भ०क० मे बहुवचनान्त) भु जेज्जसु (भुज्), णिवसिज्जसु (निवस् -) पढिज्जसु, कहिज्जसु (स० रा०) ।

शक्यार्थ—विरइज्जइ (विरच्), पाविज्जइ (प्राप् -) । सदेशरासक मे इज्ज -उ द्वारा भी लज्जिजउ रूप बनाया है। बिना किसी अन्तिम प्रत्यय के रसिज्ज (भ० क० १६।५।३) प्रयोग भी उपलब्ध है, जो प्राकृत मे सर्वलकारार्थं हेम० ८।३।१७७ मे विहित है ।

विध्यर्थ—णासिज्जइ (नाशि -), सतोसिज्जइ (सतुष् -) हरिज्जिसु (की० ल०) । श्री तगारे ने इस इज्ज का मूल -एय्य प्राकृत मे ढूढने का प्रयत्न किया है और इसे कर्मवाच्य या भाववाच्य के -इय या -इय्य से पृथक् करने का प्रयास किया है। परन्तु इसमे उन्हें भ्रान्ति हुई है । प्राकृत -एच्य > प्रा० भा० आ० -एय कृत्य प्रत्यय का ही रूपान्तर है और कृत्य प्रत्ययो मे आख्यात के सु, हि और इ प्रत्यय सयुक्त करना अनुचित है यद्यपि अपभ्रश मे यह सर्वथा असभव नही है। कर्मवाच्य या भाववाच्य -य से अन्य प्रत्ययो का योग सभव है। डा० हीरालाल जैन शक्यार्थ की अभिव्यक्ति कर्मवाच्य रूपो से ही मानते हैं।[1] डा० सक्सेना ने आज्ञार्थक शीर्षक मे इस तरह के प्रयोगो को Impersonal passive imperative कहा है[2] और वर्त्तमान कर्मवाच्य पर आधारित माना है। की० ल० मे प्रा० भा० आ० य इअ और इज्ज दोनों रूपो मे प्रयुक्त हैं जैसे करिअइ, सोचिअइ करिज्जइ । कुछ स्थलो पर अन्तिम इ का लोप कर केवल -इअ प्रयोग है जैसे जाइअ, आनिअ आदि ।

(२) कृदन्तकाल

(ङ) भूतकाल

आख्यात कालों का विवेचन करते हुए भूतकाल प्रकरण मे निर्दिष्ट किया जा चुका है कि अपभ्रंश का भूतकाल प्रा० भा० आ० निष्ठाप्रत्यय क्त के रूपो से निर्मित होता है। क्त के रूप -त -इत, या -ण्ण अपभ्रश मे प्रयुक्त होते है। त मे तकार का लोप होने पर -अ शेष रह जाता है, यश्रुति के कारण वह -य हो जाता है अत. -अ, -इअ अथवा -य, -इय प्रयोग प्राप्त होते हैं। पश्चिम मे -यकारान्त और पूर्व मे अकारान्त की प्रधानता है। अकर्मक धातु से निष्पन्न क्तान्त शब्द कर्त्ता के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होते थे अत. उनसे बनी विशेषणात्मक क्रियाओ में कर्त्ता के अनुसार लिङ्ग और वचन का समावेश होता था। सकर्मक धातुओ से निष्पन्न क्तान्त शब्दो का कर्त्ता करणकारक मे रहता था और उनका लिंग वचन स्वामिहित कर्म के अनुसार। अत.

1. Potential mood. This is expressed by passive forms.
णा० कु० च० की भूमिका पृ० ५५
२. की० ल० (द्वितीय सस्करण)—डा० सक्सेना की भूमिका पृ० ५१ ।

अकर्मक धातुओं से बना भूतकाल कर्त्तरि प्रयोग मे था और सकर्मक धातुओं से बना भूतकाल कर्मणि प्रयोग मे शनैः शनैः अकर्मक धातुओ से बने इस प्रकार के भूतकाल के रूपो मे। से कर्मवाच्यता का अस्तित्व लुप्त होता गया और आ० भा० आ० हिन्दी मे तो उन्हे कर्तृवाच्य ही कहा जाता है।

अकर्मकधातु भूतकाल के उदाहरण—एत्थतरि पत्तु वसतु मासु=अत्रान्तरे प्राप्तः वसन्त. मास'। मजरिय चूय, फुल्लिय अणत=मजरिताः चूताः, फुल्लिताः अनन्ताः, (प० सि० च० २।४), कतु पज्जलिउ हुयासणु जिम्व=कान्तः प्रज्वलितः हुताशन इव, वासहर -मज्झि सहरिसु पइट्ठु=वासगृहमध्ये सहर्षा प्रविष्टा। (प० सि० च० १।१२) सर्वत्र कर्त्ता के अनुसार लिंग और वचन है।

सकर्मकधातु भूतकाल के उदाहरण—निग्गलिउ असेसु ह तेण हारु=निर्गलितः अशेष. हितेन हारः इसमे स्पष्ट कर्मवाच्यानुसार कर्त्ता करण मे और क्रिया कर्मानुसार है। ठीक अगली पक्ति है, उड्डेवि झत्ति भित्तिहि विलग्गु=उड्डीय -झटिति भितौ विलग्न' "हेण" का यहाँ सबन्ध जाता रहा; कल्पना के सहारे "विलग्गु" प्रथमान्त रूप देखकर "सो" का अध्याहार करना पडेगा।

जसवइ पिय-वयणिं निट्ठुरेण विज्झाइय=यशोवती प्रियवचनेन निष्ठुरेण विध्यापिता। किय मडवसोह घरि घरि बद्धइ तोरणइ भ० क० १।८=कृता मडपशोभा गृहे गृहे बद्धानि तोरणनि।

इस तरह कर्मवाच्यता का भाव है।

शून्य प्रयोगो के अधिक होने पर कर्मवाच्यता की प्रतीति लुप्त हो गई; जैसे लक्खणसेन नरेश लिहिअ=लक्ष्मणसेनेन लिखितम्।

दास गोसाजि गहिल=दासैः गोस्वामिनः गृहीताः। खल सज्जन परिभविअ=खलैः सज्जना परिभूता. (की० ल०)।

भूत क्रियाओ के प्रयोग-

अक्खिय, अणुमन्निय, अणुहविय, अप्पाहिय, अप्फालिय, अवगन्निय, अवलोइय, चल्लिय, सरिय आदि (भ० क०) पढिय, उट्ठिय (पा० दो०)

मुणिअ (पा० दो०) चलिअ (प्रा० पै०) गहिअ (की० ल०)

प्रेरणार्थक -दरिसाविअ, देवाविय, पट्ठविये (णा० च०)

(च) क्रियातिपत्तिकाल या हेतुहेतुमद्भूत काल

म० भा० आ० मे प्रा० भा० आ० के लृङ् के स्थान पर क्रियातिपत्ति अर्थ मे ज्ज और ज्जा आदेश होते थे (हेम० ८।३।१७९) अथवा कृदन्त के शतृ और शानच् के विकसित रूप -न्त और -माण का उपयोग होता था (हेम ८।३।१८०)। अपभ्रश मे -न्त ही इस कार्य के लिए अवशिष्ट रह गया।

भविसयत्त कहा से उदाहरण आगे दिया है——

सो ण करंतु ताम इम एहउ २।१२।५
जइ हुउवि तेण सह तउ करतु मो कि असमाहिए सह मरतु।२८।२
जइ पढमउ जि हुतु तुहु एहउ तो किर को करतु मणि रेहउ २।५।८;
करंतु मरतु, हुंतु इस तरह के प्रयोग हैं।

सदेशरासक——

जइ वि रइविरामे णट्ठसोहो मुणन्तो।
सुहय, तइअ राओ उग्गिलतो सिणेहो॥
भरवि नवरयने इक्कु कुंभो धरंतो।
हिमउ तह पहिल्लो बोलियतो विरत्तो।२।१००

अवचूरिका—(मुणन्ती=अज्ञास्तम्, धरन्ती=अधारयिष्यम्, बोलियन्त.=अभ्रक्ष्यत्)

उ० व्य० प्र० मे—

जइ पावन्त, तव करन्त
जइ देउ वृष्टि करत तव अन्न होत]
जइ इधण पाएत तव ओदन पएत (पृष्ठ ९)

की० ल० मे—जइ पहु वडओ पसन्त होअ तओ सिद्धाअत रज्ज। (३ य प०)
विनु वोलन्त जो मन पलइ आवे कत सहल जे राए। (३ य प०)

(छ) भविष्यत्काल

सामान्य भविष्य के आख्यात प्रयोग के अतिरिक्त कृत्य प्रत्ययान्तो से बना हुआ भविष्यत्काल भी अपभ्रंश मे काम आता रहा है। संस्कृत मे तव्य प्रत्यय भविष्य के अर्थ मे होता है उसी से विकसित होकर म० भा० आ० का -इअव्व और -अव्व रूप बनता है। इसी -अव्व का रूप -व उक्ति० व्य० तथा की० ल० मे प्रयुक्त हुआ है। इसने अपनी कर्मवाच्यता का गुण बनाये रखा। और कर्त्ता के लिंग और वचन के अनुसार अपना स्वरूप नही बदला परन्तु आवश्यकतानुसार कर्म के स्त्रीलिंग या बहुवचन को अपनाया।

उदाहरण—

वेद पढव, स्मृति अभ्यसवि, पुराण देखव (पृ० १२) राउल को घरब आदि (उ० व्य० पृ० २२) कहवा कवन उपाए (की० ल० प्रथम पल्लव पृ० १०),

संयुक्तकाल

(ज) धारावाहिक वर्त्तमान—धातु व्यापार की धारावाहिकता को बोधन करने के लिए कृदन्त शतृ के -अत या -अंत प्रत्ययान्त शब्द के साथ या तदर्थक पूर्वकालिक क्रिया के साथ सत्तावाचक सहायक क्रिया को जोड़ दिया जाता है।

आछ धातु के साथ जैसे—

आँखि देखत आछ=अक्ष्णा वीक्षमाण (णा, णं) आस्ते।

जीभें चाखत आछ=जिह्वया खादन् (न्ती, त्) आस्ते।

नाके सूंघत आछ=नासिकया सिंघन् (न्ती, त्) आस्ते। (उ० व्य पृ० ६)

(२) हो धातु के साथ—

रिसिआइ खाण हो=खाणः रिष्यन् अस्ति। की० ल० २ य पल्लव पृ० ४०

(३) रह धातु के साथ—

भूतकाल मे दिये हुए उदाहरण की तरह समझा जा सकता है। आ० भा० आ०हि० मे जाता रहा है, खाता रहा है या जा रहा है, खा रहा है इसी पद्धति पर बने रूप है।

(क) धारावाहिक भूत—

(१) को तहा जीवत आछ=कस्तत्र सुंजान आसीन् (उ० व्य० प्र० पृ० २१)

(२) ता पाखे आवत हुअ हिन्दू दल=तस्य पक्षे आगच्छद् भूतं हिन्दूदलम् (की० ल० ४ थं प० पृ० ९४)

(३) रह धातु के साथ—

सहि रहिअउ दुरवत्थ=सहमानो स्थितो दुरवस्थाम् (की० ल० द्वय प० पृ० ७०)

टुट्टि शरीर रहे=त्रुट्यन्ति शरीराणि स्थितानि (की० ल० ४ थं प० पृ० ११०)

यहाँ शतृ के स्थान पर पूर्वकालिक इ का प्रयोग है, परन्तु अर्थ वही है। आ० भा० आ० अवधी, हिन्दी आदि मे √आछ प्रयोग जाता रहा। उसके स्थान पर √हो और √रह का प्रयोग हो गया। बगला, मैथिली मे आछ रह गया। हिन्दी मे जाता है, जाता था, खाता रहा है, खाता रहा था आदि काल निर्माण होता

वाच्य

कर्तृवाच्य—अपभ्रंश में सामान्य वाक्य कर्तृवाच्य ही है। अब तक के विवेचन मे कर्तृवाच्य का रूप स्पष्ट हो चुका है।

कर्मवाच्य—प्रा० भा० आ० के कर्मवाच्यार्थक -य अनुबन्ध ने म०भा०आ० में -इय्य के द्वारा -इअ (य लोप) और -इज्ज (य को ज) दो रूप धारण किये। अपभ्रंश मे दोनो रूप प्रयुक्त होते रहे यद्यपि पश्चिम मे -इज्ज> -इज की प्रधानता रही और मध्यदेश तथा प्राच्यक्षेत्र मे -इअ> -इ की प्रधानता रही। अब भी राजस्थानी पहले का और पुरानी बगला, अवधी और पंजाबी मे पिछले का प्रयोग चालू है। हिन्दी मे दोनो स्वीकृत हैं जिसका उदाहरण—करिये और कीजिये हैं। कर्मवाच्य के उदाहरण प्रथम पुरुष वर्तमान काल मे ही प्राय. उपलब्ध होते हैं, क्योंकि मध्यम और उत्तमपुरुष के तथा अन्य कालो के प्रसङ्ग बहुत कम आते हैं।

कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

मध्यमपुरुष एकवचन— पणविज्जहि, उवमिज्जहि (प० च०) दीसहि (णा० कु० च०)

प्रथमपुरुष एकवचन — उवमिज्जइ, घाइज्जिइ, लाइज्जइ, जीइज्जइ (प० च०)
किज्जइ, मुणिज्जइ, दिज्जइ, णासिज्जइ(णा० कु० च०)
जीश्रिज्जइ, मरिज्जइ वणिज्जइ (म० क०)
वश्चिज्जइ, पाविज्जइ, पुच्छिज्जइ (पा० दो०) कीज (उ० व्य०)
सहिज्जिअ, किज्जिअ (की० ल०, वर्तमान मे शून्य प्रयोग)
कीयइ, दीसइ, समप्पइ (म० क०)
दुब्भइ, दीसइ, मुच्चइ, सुम्मइ, (णा० कु० च०)
कीयइ को छोड़कर शेष प्रयोगो मे य अश का लोप है।
पढिअ, जेविअ, कराविअ, खेलिअ (उ० व्य०) (वर्तमान काल मे शून्य या अकारान्त प्रयोग) करिअउं (की० ल०)

प्रथमपुरुष बहुवचन — हम्मंति (हन्यन्ते), दीसन्ति (दृश्यन्ते) जिप्पंति (जीयन्ते)—णा० कु० च० की० ल० मे देखिअथि=दिखाई देते थे और जाथि=जाते थे प्रयोग भूतकाल मे हैं।

भाववाच्य—उ० व्य० प्र० की भूमिका मे चाटुर्ज्या ने अछिअ, मोहिअ, जाइआ प्रयोग भाववाच्य बताये है। उक्तिव्यक्तिकार ने संस्कृत अर्थ में उन्हे उसी प्रकार का प्रदर्शित किया है जैसे काह करणिहारें आछिअ=किं करिष्यमाणेनास्यते।

हेत्वर्थक या प्रेरणार्थक क्रिया—

धातु प्रकृति के साथ निम्न अनुबन्धो के योग से प्रेरणार्थक क्रिया बनती है—

(१) -आव > प्रा० भा० आ० -(आ), जैसे उड्डावइ, चडावइ, चितावइ, उयावइ, देवावइ-, दरिसावइ, ण्हावइ (प० च०), करावइ, दावइ, वढावइ, संतावइ (म० क०), करावए, वैठाव (की० ल०), णच्चावइ, मोल्लावइ; दुहाव, पढाव (उ० व्य० वर्तमान मे शून्य रूप)

(२) -अव > आव, जैसे विण्णव-, वक्खव-, ण्हव-, थव- (प० च०) ठव-, णिम्भव-, विभव-(सं० रा०)- देखिये स्वरपरिवर्तन- मात्रा परिवर्तन (क) (१)

(३) -अइ > प्रा० भा० आ० अय, जैसे जणइ (जनयति), दंसइ (दर्शयति) पाढइ (पाठयति), अप्पइ (अर्पयति) मारइ (मारयति)

(४) -आड जैसे भमाड (भम+आड)=भ्रमय-तुलना—गुजराती भमाड्वुं, गुजराती बेसाड्वुं का पूर्व रूप वइसाड—
(५) -आर जैसे पइसार—(पइस्+आर), =प्रवेशय-वइसार -(वइस+आर) =उपवेशय-, वढार-(वृद्ध>वढ)=वर्धाप-तुलना- गुजराती पेसारउं, हिन्दी पैसार,
(६) -आल जैसे देखालइ (*दृक्ष>देख+आल) तुलना हिन्दी दिखलाना।
४, ५ और ६ मे ड, ल और र का उच्चारण परिवर्त्तन ध्वनिविज्ञान सम्मत है (देखिये वर्ण परिचय पृ०)
(७) मूल धातु प्रकृति और हेत्वर्थक धातु प्रकृति मे अभेद जैसे णासइ (नश्यति, नाशयति), पावइ (*प्रापति=प्राप्नोति, प्रापयति), डालइ (डालति, डालयति), गमइ (*गमति=गच्छति, गमयति, णमइ<नमति, नमयति)
(८) दुहरा प्रेरणार्थक प्रत्यय, जैसे करावियं, (करवाया) खवाविय, (खवाया=खिलवाया) देवाविय (देवाया=दिलवाया), माराविय (मरवाया), हारावेइ (हरवाता है)। आ० भा० आ० हिन्दी के प्रेरणार्थक का विकास उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है। करता है सामान्य क्रिया है, कराता है प्रेरणार्थक है, करवाता है कराने वाले को भी प्रेरणा देने पर उपयुक्त है, यद्यपि अब कराना और करवाना, पढाना और पढवाना समानार्थक प्रयुक्त हो जाया करते हैं।
मृशार्थक या पौन. पुन्य द्योतनार्थक क्रिया—प्रा० भा० आ० के यङन्त और यङ्लुगन्त अवशिष्ट रूप णायकुमार चरिउ के कुछ प्रयोगो मे है। धातु प्रकृति को दुहरा कर अर्थ ध्वनित किया जाता है—जैसे जज्जहि=जा जा, देदेहि=दे दे। ध्वन्यनुकरणार्थ धातु प्रकृतियो मे यह वीप्सा या अतिशय का भाव दुहराने के द्वारा देखा जा चुका है।

इच्छार्थक क्रिया—आ० भा० आ० के पियास, लिखास, पढास प्रयोग ध्वनित करते हैं कि प्रा० भा० आ० सन्नन्त की तरह क्रिया अपभ्रंश मे पियासइ, लिखासइ आदि रही होगी। "स" इच्छार्थ को ध्वनित करता है।

धातु के साथ विभिन्नार्थक प्रत्ययों का योग—

१. वर्तमान कृदन्त—प्रा० भा० आ० के शतृ प्रत्यय का म० भा० आ० में -अंत या परिवर्धित -अंतय रूप होता है। विशेषणात्मक प्रयोग होने से पुल्लिग और स्त्रीलिंग मे अन्तर पड जाता है, यद्यपि शनैः शनैः पुल्लिग प्रयोग ही सब लिंगों मे प्रयुक्त होने लगता है। जैसे—करत, रवत, जंत, पसरत, अवमाणियंत (भ० क०) पवसत, सुमरंत, अलहुत (स० रा०) कीलत, सुणंत, सत, सरंत (णा० च०) आदि। स्त्रीलिंग में करन्ति (ह्रस्वीकृत), करंती (करतय-इ), करतिय (करतिका) और करत जैसे चार रूपो में प्राप्त है। संदेशरासक मे भायाणी ने अति के १०, अती के १०, अतिय के १७ और अत के १४ प्रयोग पाये है। अन्तिम १४

स्त्रीलिंग के स्थान पर पूर्लिंग रूप विशेषणो मे लिङ्ग के अभाव होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं।

संस्कृत का शानच्—माण रूप भी महाराष्ट्री प्राकृत प्रभाववश अपभ्रंश में प्राप्त हो जाता है जैसे—पविस्समाण, पिच्छमाणु (भ० क०) गच्छमाण, (ज०च०) णच्चमाण, पइसयाण, चोयमाण। (णा० च०) इत्यादि । उपर्युक्त सब उदाहरण कर्तृवाच्य के हैं। कर्मवाच्य मे चुम्बिज्जन्तु (भ० क०) थिप्पमाण, गुप्पमाण, सेविज्जमाण, सजिज्जमाण (णा० च०) जैसे रूप हैं।

शतृ प्रत्यय प्रारम्भ हुआ वर्तमान काल के लिए ही पर विशेषण हो जाने से धीरे-धीरे सभी कालो मे प्रयुक्त होने लगा। तर्कवागीश ने अपभ्रंश की इस पद्धति को पहचान लिया था। अतः उसने लिखा—

"शतृ मतो बहुशस्त्रिकाले" प्रा० क० ३।२।३०। इसको स्पष्ट करते हुए ग्रियर्सन ने बताया कि शतृ का प्रयोग सभी कालो मे पूरी क्रिया की तरह होता है।[1] "णण्णाहो मदिरि णिवसतु सतु अहिमाणमेरु कइ पुप्फयतु" (ज० च० १।४) में "अभिमानमेरु कवि पुष्पदन्त णण्ण के प्रासाद मे निवास कर रहे थे" यह भूतकाल का अर्थ है।

संदेशरासक मे "सुहय तइय राओ उग्गिलंतो सिणेहो=हे सुभग यो रागो नवरङ्गस्नेहमुद्गिलन्नासीत् (टिप्पनक) (२।१००), तथा "मोहवसण बोलंत खणे" =मोहवशात् क्षणं तयोक्तम् (टिप्पनक) बोलंत=उक्तम् (२।९५) भूतकाल के प्रयोग हैं। इसी तरह णियन्तो (१८६) सरंतु, विप्फुरंतु (२००) धरंती (२१७) प्रयोग है।[2] शतृ का क्रियातिपत्ति भूत मे प्रयोग देखा ही जा चुका है पृ०)। भविष्यत्काल मे (शतृ) -अन्त के स्थान पर हार हो जाता है। शत्राणौ तु स्यतुतौ विज्ञेयौ "करिणहार आछेंति"। उ० व्य० प्र० कारिका १७। जैसे धर्मु करणिहार आछ=धर्म करिष्यन् (-न्ती, -त्) आस्ते। पठणिहार आछ=पठिष्यन् (न्ती, त्) आस्ते आदि। यह सामान्यतया निरन्तरता और धारावाहिकता को अभिव्यक्त करता है।

२. भूत कृदन्त—निष्ठा प्रत्यय क्त और क्तवतु अर्थात् -त और तवत् प्रा० भा० आ० मे भूतकाल को प्रकट करते थे। पहला कर्मवाच्य मे और दूसरा कर्तृवाच्य में प्रयुक्त होता था। प्रा० भा० आ० मे ही -त रूप अनेक धातुओं, सामान्यतया अकर्मक धातुओ, के साथ कर्तृवाच्य मे प्रयुक्त हो चला था। क्तवत् का प्रयोग क्षीण होने लगा। म० भा० आ० मे और विशेषतः अपभ्रंश में -त ही रह गया। अपभ्रंश का भूतकाल किस तरह उससे निर्माण होता है यह देख चुके हैं। विशेषणात्मक होने से वर्तमान काल की क्रियाओ के साथ जुड़ कर आसन्न भूतकाल का भी निर्माण करता

1. Indian Antiquary, February, 1922.
२. संदेशरासक - भायणी की भूमिका पृष्ठ ३६.

है। अपभ्रंश में -इअ या परिवर्धित इयअ के रूप मे प्रा० भा० आ० -त् आता है— उदाहरण भूतकाल मे द्रष्टव्य। सदेशरासक मे इय की प्रवृत्ति अधिक होने से हुइय जैसे रूप भी बने। स्त्रीलिंग इय सकुचित होकर ई बन जाता है जैसे पडी, विबुद्धी तुट्टी आदि। आ० भा० आ० हिन्दी मे पढी, लिखी, चली आदि इसी का प्रसाद है।

इअ से भिन्न रूप आलत्त (त को द्वित्व), खद्ध, चिन्त, दिण्ण, निरुत्त, पत्त, बुत्त, मुक्क, तुट्ट, पलुट्ट, ढुक्कउ, पहुत्तउ, वुल्लीण (स० रा०) विच्छिण्ण, भिण्ण, दिट्ठ, हुई (णा० च०) वुन्न, वुत्त (हेम० ८।४।४२१) आदि रूप दर्शनीय हैं जिनमें ध्वनिविकारो का परिणाम लक्षित है।

३. पूर्वकालिक रूप—निम्नलिखित प्रत्यय प्राकृत वैयाकरणो ने बताये हैं :- (हेम० ८।४।४३९ और ४४०)

इ		चलि, पढि, करि, मारि आदि (हेम० की० ल०)
इउ, इउं		भज्जिउ, कहिउ, आदि (हेम०) णाउ, तोडिउ, देसिउ, णिएउं (भ० क०)
इवि		अच्चिवि, अणुमन्निवि, अवलोइवि, करिवि (भ० क०) जोइवि, भणिवि, मण्णिवि, पेक्खिवि, वंदिवि (णा० च०)
अवि		परिसेसवि, णियविद, मुयवि (प० च०)
एप्पि		जेप्पि (हेम०)
एप्पिणु		णवेप्पिणु, जोएप्पिणु, पणवेप्पिणु—प० च० और प० सि० च०, णा० च० और म० पु० मे अनेक।
एवि		पणवेवि, भणेवि, (प० च०) धरेवि, निएवि, (भ० क०) सहेवि, लग्गेवि, (णा० च०)
एविणु		विहसेविणु निसुणेविणु (प० च०) करेविणु (भ० क०) लेविणु (णा० च०)
साहित्य मे प्रयुक्त	पि	गम्पि[1] प० च० मे अनेक प्रयोग, णा० च०
	वि	आणिवि[2] (भ० क०) लेवि (णा० च०)

इन प्रत्ययो का मूल प्रा० भा० आ० ल्यप् अर्थात् य प्रत्यय मे है। अन्तःस्थ य का संप्रसारण रूप -इ अपभ्रंश मे स्वीकृत हुआ। ल्यप् का उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होने का क्रम म० भा० आ० मे ही लुप्त हो चला था। ल्यप्+अपि, तथा

१. हेम० ८।४।४४२ में गम् धातु के बाद एपि आदि के एकार के लोप का विधान करता है। अपि की संभावना अधिक लगती है।

२. आणिवि=आनीय, या तो आनी+इवि में पररूप समझा जाय या आनी+वि>पि> अपि। छोवि>छापि।

त्यप्+अपि+नु ने भी प्रत्ययों को जन्म दिया। इ, ए और अ में परिणत होता रहा है, प व में और न ण में। इस तरह एप्पि, इवि, एवि और अवि प्रत्ययों का और एप्पिणु और एविणु का विकास हुआ। अंतिम दो प्रयोग पि<अपि, और वि<पि< अपि स्पष्ट हैं। निरुक्त में अपि को समर्गार्थ बताया है और यहाँ भी दो क्रियाओं का संसर्ग अभिहित है। सर्वप्रथम प्रत्यय -इ<य है, उत्तरकाल में विशेषतः आ० भा० आ० के विकास में इसका हाथ है। उ० व्य० में "करि आछ इतिवक्ता" (कारिका १४) में यही नियम बताया गया है। कीर्तिलता में गइ, चइ, साधि, सुनि आदि प्रयोग हैं, इ को ए उच्चारण करके मनुसाए, धाए आदि प्रयोग हैं, इसी का इअ रूप बनाकर छोड़िअ, करिअ आदि प्रयोग है। इअ ही उकारबहुला प्रवृत्ति में इउ बनता है। आ० भा० आ० हिन्दी का पूर्वकालिक रूप धातु प्रकृति का ही रूप इ के हल्के उच्चारण के कारण बन गया है, कर<करि, चल<चलि आदि। सदेशरासक का दुहरा पूर्वकालिक प्रयोग देहेवि करि (१०८) आ० भा० आ० हिन्दी का पूर्वगामी प्रयोग है। हिन्दी में जल कर, चल कर इसी मार्ग का अनुसरण है। इवि, एवि और अवि उच्चारण भेद से ही अलग प्रत्यय कहे गये हैं। णायकुमारचरिउ की झुंझुणूग्राम में १५१९ सं० में लिखित प्रति में इवि को प्रश्रय दिया गया है, जब कि हंसपतन में १५५६ में लिखित प्रति में एवि पाठ रखा गया है।[1] आभीक्ष्ण्यम् अर्थ को बताने के लिए प्रा० भा० आ० में णमुल्=अम् प्रत्यय था। इस तरह का एक प्रयोग णा० कु० च० में है—'सम्वहं पाडमि जमदंडघाउ (४-९-९)' (यमदण्डघातं)—यमदण्डेन हत्वा, पातयामि)। अपभ्रंश की पद्धति पूर्वकालिक को ही द्विरुक्त करके व्यवहार में लाने की है। उ० व्य० प्र० में "णम् करि करि आछ प्रयोज्य स्यात्" (कारिका १४) नियम की व्याख्या में करि करि आछ=कारं कारमास्ते, देखि देखि तुस=दर्शं दर्शं तुष्यति आदि उदाहरण दिये हैं।

प्राकृत के प्रत्यय ऊण का भी अपभ्रंश में कुछ प्रयोग चलता रहा, जैसे बुज्झि-ऊण, भज्जिऊण, अइऊण, चईऊण (णा० च०)।

क्रियार्थक क्रिया—सस्कृत में तुम् प्रत्यय द्वारा इसका बोध किया जाता है। अपभ्रंश में एतदर्थ उपयुक्त प्रत्यय निम्न हैं (हेम० ८।४।४४१)—

एव,	देवं=दातुम्, जीवेवउ, जुज्मेवउ, पइसिवेउ इत्यादि प० च० के प्रयोगों में—एवउ रूप है।
अण[2]	करण=कर्तुम्, करण या=कर्तुं याति, पढण आव=पठितुमागच्छति, जेंवण दे—जिम्वितुं (भोक्तुं) ददाति—उ० व्य० प्र०

१. णायकुमारचरिउ—डा० हीरालाल जैन की भूमिका पृ० १६ और २४

२. उक्तिव्यक्ति प्रकरण में यही प्रत्यय है—यदि वार्थं "करण या" इतीहोक्तौ—कारिका १५।

अणहं, -हिं	भुञ्जणहं, हिं=भोक्तुम्
एप्पि	जेप्पि=जेतुम्
एप्पिणु	चएप्पिणु=त्यक्तुम्
एवि	पालेवि=पालयितुम्, कारेवि (प० च०) हरेवि (प० च०)
एविणु	लेविणु=लातुम्

इनमे से एव, एवउ अपभ्रंश का प्रधान प्रत्यय है। इसकी व्याख्या एवि का अनुसरण करती है।

अण, अणहिं, और अणहिं का सम्बन्ध भाववाचक अन > अण प्रत्यय से है। प्रा० भा० आ० मे भाववाचक शब्द का चतुर्थी मे प्रयोग क्रियार्थक होता था जैसे पठनाय गच्छति। सामान्य अण और अण + ह, तथा अण + हिं विभक्तियुक्त शब्दो के प्रयोग ने इन प्रत्ययो की भावना जगाई। अन्य प्रत्ययो की व्याख्या पूर्वकालिक मे हो चुकी है। इन चारो प्रत्ययो का पूर्वकालिक और क्रियार्थक प्रयोग रोचक है। पहला क्रिया से पूर्व और दूसरा पश्चात् अर्थ देता है। मध्यदेश मे "अण" के अतिरिक्त "वें"[1] प्रत्यय का भी प्रयोग है। इस "वें" के साथ "किंह" भी जुडता है और दुहरे क्रियार्थ को बोधित करता है जैसे—धर्म करवे किंह आछ=धर्म कर्तुमास्ते, पढवें किंहं आछ=पठितुमास्ते। आ० भा० आ० हिन्दी मे "अण" वाली पद्धति "पढने जाता है" (पढने < पढनइ < पढनहिं) मे प्रयुक्त है, दुहरा रूप "कहिं" की तरह "पढने को जाता है" मे है।

तव्य—प्रा० भा० आ० का तव्य प्रत्यय अपभ्रंश मे इएव्वउं, और एवा रूप धारण करता है (हेम० ८।४।४३८)। हेमचन्द्र ने करिएव्वउं, मरिएव्वउं, सहेव्वउं, सोएवा, जग्गेवा क्रमशः उदाहरण दिये हैं। इन सभी प्रत्ययो के मूल मे "एव" है। उससे पूर्व क्रिया के साथ इ (इट्) को जोड़कर और व को द्वित्व करके इएव्व और केवल व को द्वित्वकरके एव्व और परिवर्धित करके एवा (एव + अ) रूप बनते हैं। णा० कु० च० मे वच्चेवअ, जाएवअ, जोएवअ, दारेवअ आदि रूप प्रयुक्त हैं जिनमे "एवअ" सामान्य है, उद्वृत्त सन्धि से यही "एवा" हो सकता है। पा० दो० ६८ मे सिज्झियव्व मे ए की जगह य है। तव्य प्रत्यय विशेषणात्मक है अत. शब्द के अन्त मे प्रथमा विभक्ति ए० व० का उं या शून्यात्मक अ और उसका दीर्घरूप आना संभव ही है। -(इ) तव्य > इअव्व > इएव्व, आरम्भिक इ के अभाव मे एव्व और उससे

---

१. उ० व्य० प्र० "करवें अक्ष तुम भवेत्_" । कारिका १५।
यहाँ भी करव=करण है। करव कर्त्तव्य से बना है।

एव या एवा विकास की दिशा है। इसी तव्य से -अव्व, या व रूप लेकर कृदन्त भविष्यकाल का निर्माण देखा जा चुका है। अपभ्रंश मे क्रियाव्यापारोक्ति के अनन्तर इसी व प्रत्यय को जोड कर कृत्यप्रत्ययो का काम कर लिया है। जैसे—"वेद. पढव -वेद. पठितव्य, पठनीय. आदि। धर्मु करव= धर्मः कर्त्तव्य, करणीयः, कार्य. कृत्यो वा।'[1]

---

1. उ० व्य० प्र० पृ० १२ व्यापारोक्तेरन्ते वश्चेत कृत्यास्तदा योज्या। कारिका १७ की व्याख्या 'व्यापारोक्ते.' इति। वश्चेत्=वकारश्चेत् प्रयुक्त, अपभ्रंशे दृश्यत इत्यर्थं कृत्याः "ते कृत्या." इति कृत्य संज्ञा ये तव्य—अनीय-यत्—क्यप्-ण्यत् -या इत्यर्थः।

पंचम अध्याय

अव्यय

अपभ्रंश भाषा के नाम और आख्यात पर विचार किया जा चुका है। उपसर्ग और निपात पर विचार करना है। शाकटायन की सम्मति मे उपसर्ग बिना सम्बन्ध के अर्थ का कथन नही करते हैं, नाम और आख्यात से सयुक्त होकर अर्थद्योतक बनते हैं। गार्ग्य समझते हैं कि उपसर्गो के विविध अर्थ होते हैं[1]। पाणिनि ने "क्रियायोग" मे उपसर्ग सज्ञा स्वीकार की है और उसके योग से बलात् धात्वर्थ अन्य प्रतीत होने लगता है।[2] इस प्रकार उपसर्ग (१) स्वतन्त्रतया अनेकार्थाभिधायक होता है, (२) नाम और आख्यात से युक्त होकर अर्थद्योतक होता है और (३) क्रियायोग मे ही अर्थाभिव्यंजक होता है—इन तीनों मतो मे क्रमश अपने अर्थ और प्रयोग मे सीमित होता गया है। प्रा० भा० आ० का उपसर्ग म० भा० आ० मे कुछ ध्वनिपरिवर्तन करते हुए भी अपने कार्यक्षेत्र मे परिवर्तित नही हुआ। अपभ्रंश मे भी वही परम्परा रही, परन्तु उसका कुछ व्यापक अर्थ हो गया। वह नाम और क्रिया दोनो से युक्त होता है। और पूर्वावस्थिति के कारण पूर्वसर्ग (Prefix) का समानार्थक हो जाता है। अणुहवइ<अनुभवति और अणुपेहा<अनुप्रेक्षा के साथ अणुदिणु <अनुदिन मे भी अणु उपसर्ग या पूर्वसर्ग का पाहुड दोहा मे प्रयोग है। इसी प्रकार अहिलास<अभिलाप और अहिणव<अभिनव पा० दो० के उदाहरण हैं। उपसर्ग भी शब्दरूप मे परिवर्तित न होने के कारण अव्यय कहा जाता है।[3] यो सस्कृत व्याकरण मे उपसर्ग और उपसर्ग प्रतिरूप मे भेद किया गया है और पिछले को ही अव्यय में परिगणित किया गया है।[4] इसका लाभ अवलम् और अवदत्तम् जैसे स्थलो में वैयाकरण दिखाते हैं। परन्तु अव्यय में उपसर्ग प्रतिरूपक दोनों का ग्रहण सभव है

१. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोगे कर्मो - पसयोगद्योतका भवन्ति। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। निरुक्त १।३।

२. उपसर्गाः क्रियायोगे। पाणिनि १।४।५६। उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसहारविहारपरिहारवत् - सि० कौ० भ्वादि प्रकरण।

३. सदृश त्रिपु लिङ्गेपु सर्वासु च विभक्तिपु। वचनेपु च सर्वेपु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ सि० को० अव्ययप्रकरण।

४. उपसर्ग विभक्तिस्वर प्रतिरूपकाश्च (चादिगणपाठ)

५. स्वरादि निपातमव्यय १।१।३७ प्रादय.। १।४।५८

और ऐसा ही अपभ्रंश मे हुआ है यह ऊपर निरूपित किया जा चुका है। उपसर्गों के प्रयोग सामान्यतया निम्न हैं—

प<प्र	पलंब<प्रलम्ब, पमाण<प्रमाण, पवेस<प्रवेश, पसर<प्रसर, पसाअ<प्रसाद, —पा० दो०; पइसइ<प्रविशति, पआग<प्रयाग—दो० को०; पओस<प्रदोष—प० सि० च०; पसूय<प्रसूत, पहुय<प्रहृत, पहाय<प्रभात, भ० क० इत्यादि प्रचुर प्रयोग हैं। प्रा० भा० आ० के प्र का र लोप हो जाता है।
परा	परामरिसइ<परामृशति, परामय<परागत, पराहव<पराभव—भ० क०
अप	अपवग्ग<अपवर्ग, अपहत्थ<अपहस्त—भ० क०
अव<अप	अवहर<अपहर—पा० दो०, अवमाण<अपमान—भ० क०, अवहट्ट<अपभ्रष्ट प्रा० भा० आ० प को म० भा० आ०—व हो जाना है।
स<सम्	सताव<सन्ताप, संतोस<सतोष, —पा० दो० सकड<सङ्कट, समानिय=आवित, समुहय<सम्मूढक, —प० सि० च०। म् को अनुस्वार।
अणु<अनु	अणुहवइ < अनुभवति, अणुराअ < अनुराग, अणुदिणु<अनुदिन, अणुपेहा<अनुप्रेक्षा—पा० दो० प्रा० भा० आ० न को म० भा० आ० ण।
अव	अवइन्न<अवतीर्ण, अवरवेरइ दे०=अवगणयति, अवलोय<अवलोक—भ० क०, अवत्थ<अवस्था—पा० दो०।
	अप के प को व हो जाने से प्रा० भा० आ० के अप और अव एक हो जाते हैं।
निर्	निरवराह < निरपराध, निरवेक्ख < निरपेक्ष, निरिक्खइ<निरीक्षते—भ० क०
नि<निर्, निस्	निघोस<निर्घोष, निगलिअ<निर्गलित, निक्कलिय<निस्कलिअ<निष्कलित—प० सि० च०
णि<निर्, निस्	णिग्गुण<निर्गुण, णिज्झर<निर्झर, णिद्धण<निर्धन, णिच्छइ<निश्चय, णिप्फल<निष्फल णिब्भर<निर्भर, —भ० क०

दू<दुस्, दुर्	दूसह<दु:सह, दूराउल<दुर्राजकुल—प० सि० च०
दु<दुस्	दुसह<दुःसह—पा० दो०
वि	विपिल्लिय<विप्रेरित, विप्फुर<विस्फुर, वियाण<विज्ञान, पा० दो०, विच्छाई<विच्छाया, विच्छोहिय<विक्षोभित, विम्हइय<विस्मित, वियाल<विकाल-प० सि० च० वियड्ढ<विदग्ध—भ० क०
अ<आ	अक्षेअ<आक्षेप—पा० दो०
आ	आणा<आज्ञा, आलिद्ध दे०, आवइ<आगच्छति, आसीस<आशिष्, आउच्छिइ<आपृच्छ्यते प० सि० च०; आणद<आनन्द, आभास<आकाश, आयअ<आपद्—पा० दो०; आएस<आदेश, आउल<आकुल—प० च०
णि<नि	णिउत्त<नियुक्त, णिवज्झइ<निबध्यते, णियाणु<निदानु, णिलय<निलय, णिहाण<निधान—भ० क०
	णिओअ<नियोग, णियल<निगड—प० च०
नि<नि	निग्गह<निग्रह, नियउ<नियम, नियउ<निकट-भ० क०। सामान्यतया नि को णि हो जाता है, पर अर्धमागधी प्रभाव से नि भी रह जाता है। देखिये ध्वनिशिक्षा—ण प्रकरण।
अहि<अधि	अहिव<अधिप, अहिवाल<अधिपाल, अहिवासु<अधिवास, अहिट्ठिय<अधिष्ठित, —भ० क०

अपि का प्रयोग संस्कृत भाषा में ही कम था। अपि के प्रारम्भिक अकार का लोप भागुरि[1] आचार्य के अनुसार हो जाया करता था विधानम्<अपिनिधानम्। प्राकृत और अपभ्रंश में भी वही परम्परा रही।

अइ<अति	अइक्कमिय<अतिक्रान्त - प० च० अइआर<अतिचार, अइमुत्तय<अतिमुक्तक, अइसय<अतिशय—भ० क०
सु	सुरअ<सुरत, सुसण्ठिय<सुसंस्थित—दो० को०; सुमिट्ठ<सुमिष्ट, सुपसिद्ध<सुप्रसिद्ध—पा० दो०; सुणिस्सल्ल<सुनि शल्य, सुघडिय<सुघटित—प० च०
उ<उत्	उआहरण<उदाहरण, उवइ<उदयति, उवज्जइ

१. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो:--सि० को० अव्यय प्रकरण।

<उत्पद्यते, —दो० को०। तथा द का लोप होने पर यश्रुति हो जाने से उय रूप हो जाता है। उपाडण<उत्पाटन—दो० को०; उक्खय<उत्क्षय, उग्गाहिय<उद्ग्राहित, उच्छव<उत्सव, उज्जीविय<उज्जीवित, उम्मोहिय<उन्मोहित। उत् के साथ हल् संधि हो जाने पर संयुक्तव्यञ्जन के समीकरणानुसार रूप बन जाते हैं।

ऊ<उत् — ऊसारेवि<उत्सार्य—प० च०, ऊसव<उत्सव—प० सि० च०

अहि<अभि — अहिमाण<अभिमान—दो० को० अहिलास<अभिलाष, अहिसेअ<अभिषेक, अहिणव<अभिनव पा० दो०; अहिणाण<अभिज्ञान, अहिमुहेण<अभिमुखेन, अहिसार<अभिसार<प० च०; ध और भ दोनो को ह हो जाने से अधि और अभि का रूप एकसा अहि है।

पडि<प्रति — पडिहाइ<प्रतिभाति, पडिवेसी<प्रतिवेशी, पडिवण्ण<प्रतिपन्न,—दो० को०; पडिणीय<प्रत्यनीक, पडिलाहण<प्रतिलाभन—प० सि० च०, पडिकूल<प्रतिकूल, पडिपट्ट<प्रतिपट्ट, पडिपहर<प्रतिप्रहर—प० च०

वररुचि ने प्रतिसर>पडिसर (प्रा० प्र० २।८) सिद्ध किया है। प्रति का पडि रूप धीरे-धीरे सामान्य हो गया और हेमचन्द्र ने प्रत्यादौ ड (८।१।२०६) विधान किया। अपभ्रंश में यह निरपवाद है।

परि — परिआण<परिज्ञान, परिभावइ<परिभावयति—दो० को०; परिओस<परितोष परिक्खइ<परीक्षते, परिखुहिय<परिक्षुभित, परिचत<परित्यक्त, परिणइ<परिणयति—भ० क०

उव<उप — उवएसे<उपदेशे, उवआर<उपकार, उववास<उपवास—दो० को०, उवपयाण<उपप्रदान, उवसमिय<उपशमित—प० च०

उ<उअ<उप — एउस<उपदेश, उआर<उपकार, उअपिट्ठ<उपपीठ—दो० को०

उप के प को व (अ० २।१५) होने पर उव, प का

लोप (प्रा० प्र० २।२) होने पर उग्र और स्वरलोप होने पर उ तीन रूप हो जाते हैं।

अ<न, <अण्<न — प्रा० भा० आ० मे व्यजन से पूर्व न को अ हो जाता था और स्वर से पूर्व अन्। म० भा० आ० मे अण् की प्रवृत्ति अधिक हो गई और व्यंजनपूर्व भी उसका प्रयोग होने लगा। अपभ्रंश मे अण् पूर्वसर्ग का प्रयोग सामान्य हो गया। जैसे—अणक्ख<अनक्ष, अणइच्छन्त<अनिच्छत्, अणखुट्ट (दे०)=अत्रुटित, अणविहेय<अविधेय।

निपात

नाम और आख्यात से संबद्ध उपसर्ग के अतिरिक्त चौथा पद विभाग निपात है। उच्चावच अर्थों मे निपतित होने के कारण उसे निपात कहा जाता है।[1] निपात अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते हैं और अव्यय है।[2] निरुक्तकार ने इनके तीन विभाग किये हैं—

१. उपमार्थक २. पादपूरणार्थ ३. कर्मोपसग्रहार्थ

(१) उपमार्थक—निपात वैदिक भाषा मे इव, न, चित् और नु थे। सस्कृत भाषा मे इव का प्रयोग प्रचलित रहा या तुल्य, समान आदि सज्ञाशब्दो के प्रयोग होते रहे। प्राकृत मे इव के ही रूपान्तर मिव, पिव, विव, विग्र, व्व और व उपमार्थ प्रयुक्त होते हैं (हेम० ८।२।१८८) पहले चारो निपात अपि+इव के समाहार से बने हैं (हेम० ८।२।२१८)। व्व और व इव के पूर्वस्वर लोप से या वा निपात से निष्पन्न होते हैं। अपभ्रश मे हमे नये इवार्थक निपात दृष्टिगोचर होते हैं—न, नउ, नाइ, नावइ, जणि और जणु।

न, नउ, नाइ और नावइ का मूल वैदिक उपमार्थक न से ढूंढा जा सकता है। वेद मे पूर्वसप्रयुक्त 'न' उपमार्थक और उत्तरसंप्रयुक्त निषेधार्थक होता है[3] जैसे "मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा." मे न का सम्बन्ध मृग से है और वह इवार्थक है। न+उ=नउ है, उ निपात पद पूरण है अत नउ का अर्थ वैदिक न के आधार पर उपमा है। नाइ<नापि है ; प्राकृत मे नत्रर्थ मे णाइ<नाइ का प्रयोग है (हेम० ८।२।१९०)। नाइ<णाइ<णाहि<नाहि(प० सि० च०)<नहि भी विकास सभव है। दोहाकोश मे णाहि का प्रयोग और अपभ्रश मे नाहिं (हेम० ८।४।४१९) तथा आ० भा० आ० हिन्दी न नाही, नही का प्रयोग इने समर्थित करता है। नावइ<

---

१. अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। निरुक्त १।४।
२. स्वरादिनिपातमव्ययम्। पाणिनि १।१।३७।
३. निरुक्त १।४।

नापिहि है। सर्वत्र मूल मे उपमार्थक वैदिक न अव्यय है। संस्कृत भाषा मे न निषेधार्थक ही है। सभवतः लोकभाषा के द्वारा यह उपमार्थक रूप अपभ्रंश मे समाविष्ट हो गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का सुझाव नाइ <नाइं <नाए <न्यामेन है।

जणि और जणु भा० आ० भा० जाने का रूपान्तर प्रतीत होता है, जाने >जानि>जणि और जणु। जाने, मन्ये सस्कृत मे उत्प्रेक्षावाची हैं, अलकार शास्त्र मे इव उपमा और उत्प्रेक्षा दोनो के लिए प्रयुक्त है। प्राचीनकाल मे उपमा और उत्प्रेक्षा एक ही अलकार थे। जणि और जणु निषेधार्थक भी है। जणि का रूप जणे भी है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण में 'जणे हो सो भाज या जुनु या थि-मा ह भवत् सा भार्या यस्या. (पुत्रो) नास्ति, पपु जणि करसि=पाप मा करोः, ते गुणै जणि उपजति =ते गुणा एव मोलयन्त्र्' (पृष्ठ १०)। इस निषेधार्थकशब्दो का सम्बन्ध उपर्युक्त न नउ, नाइ आदि से रोचक है। इस तरह सभी उपमार्थक निषेधार्थक भी हैं। श्री चाटुर्ज्या ने इन शब्दो का विकास यह बताया है—जणि <जइणहि <यथा+न+हि, जनु <जन्नहु <यत्न खलु (१)।

भा० भा० आ० मे नाइ और जनु या जनि का इवार्थ मे प्रयोग प्रचलित ही है। भ० क० मे न। नाइ और नावइ का उपयोग किया गया है। प० सि० च० मे जणि और प० च० मे जणु का प्रयोग उपलब्ध है। पा० दो०, प० च०, सं० रा० मे णं <नं और णाइ <नाइ और णाउ <नउ णकारादि रूप हैं। इम <ईव, व <वा उपमार्थक (स० रा०)

(२) पादपूरणार्थ—प्रा० भा० आ० मे उ, खलु, नूनं, सीम्, हि, वा, अहो, हहो, ह आदि अनेक निपात रहे हैं। म० भा० आ० मे इ, जे, र (हेम० ८।२।२१७) पादपूरणार्थ निपात हैं। अपभ्रंश मे हि और इ का प्रचर प्रयोग है। इसी तरह के "घइ" "खाइ" आदि अनर्थक पादपूरणार्थ निपात हैं (हेम० ८।४।४२४)। जु (पा० दो० ११५, ११८) उ, जि (पा० दो० १४०) पादपूरक है।

(३) कर्मोपसंग्रहार्थ—अर्थात् अर्थसंग्रहार्थ निपातो की सख्या अर्थानुसार प्रभूत है। समुच्चयार्थ—प्रा० भा० आ० मे च, वा आदि हैं। म० भा० आ० मे भी वही अ, व आदि मे ध्वनिपरिवर्त्तित होकर प्रयुक्त होते रहे है। अपभ्रंश ने कोई विशेष परिवर्त्तन नही किया परन्तु कुछ नवीन रूप अवश्य समाविष्ट कर लिये। मुख्य प्रयोग -अ <च -दो० को०, व <वा -प० च०, अहवइ -प० च० (हेम०८।४।४१९) <अहवा -प० च० <अथवा, सहु <सह (हेम० ८।४।४१९), अनु <अन्यथा (हेम० ८।४।४१५), छुडु=यदि (हेम० ८।४।४२२), जइ <यदि (सं० रा०) तो <ततः, तदा (हेम० ८।४।४१७), जदा से सबद्ध होकर, णवर=केवल -भ० क० पा० दो० (हेम० २।१२७)

णवरि अनन्तर -हरि० पु० (हेम० २-१८८)

अन्त -इ, अ, अह, व (स० रा० भू० पृ० ४०)

विनिग्रहार्थ -प्रा० भा० आ० मे पूर्वसंप्रयुक्त अह्, ह् आदि और उत्तरसंयुक्त ड आदि हैं। अपभ्रंश मे ड, व, और न का प्रयोग है।
ये विकल्प उत्पन्न करते हैं।
पच्चलिउ=प्रत्युत् (हेम० ८।४।४२०)
विचारणार्थ व<वा, णु<नु -पा० दो०
हेत्वपदेशार्थ -इ<हिं, हि, पि, मि
अवधारणार्थ तथा निर्धारणार्थ -म० भा० आ० में -णइ, चेअ, चिअ, -सं० रा० (हेम० ८।२।१८४); अपभ्रंश में पि, मि, वि (पा० दो०)
इ -सं० रा० हि, (ए० व्य)
जि=एव (हेम० ८।४।४२०) सं० रा०, ध्रुय,<ध्रुव (सं० रा०)
निश्चयार्थ -ध्रुवु<ध्रुवं (हेम० ८।४।४१८) अवसें, अवस<अवश्यम् (हेम० ८।४।४२७) णिरु -प० च०, निरु, निरुत्तु=निश्चितम् -प० सि० च०। णिच्छइ <निश्चयेन, -पा० दो० किर<किल (हेम० ८।४।४१९) हु<खलु (म० क०) घू -घू पथिउ (सं० रा०)।
निषेधार्थ -णइ -पा०दो०<णहिं -(दो० को०)<नहिं -हेम०<नहि, ण -(पा०दो०) <न, णउ -(पा० दो०)<ननु, णहु (स० रा०) म<मा (हेम० ८।४। ४१८), म (स० रा०) जणे, जणि, जणि, जनु- उक्तिव्यक्ति प्र० (पृष्ठ १०)
विचिकित्सार्थ -णं<न=ननु -पा०दो०
संबोधनार्थ -हो (हेम० ८।४।३४६) अहो, अरे (उ० व्य०), अइ, लइ (स०रा०) हे (म० क०), हलि (म० क०), हल (पा० दो०) अरि, अरिरि, अररि, अरे <प्रा० भा० आ० रे रे, अरे। अव्वो -"अहो माँ" (हु० पु०), देशीनाम माला (१५) में अव्वा=अम्बा है। द्रविड भाषा में यह शब्द है। अम्मिए -अम्बा <अम्मा से तुलनीय है।

अव्ययो का विभाजन आधुनिक व्याकरण की पद्धति में निम्न प्रकार से है—

१. क्रियाविशेषण २. सबन्धसूचक ३. सयोजक ४. भावबोधक

क्रियाविशेषण

अपभ्रश मे प्रयुक्त क्रियाविशेषण १. सज्ञा २. सर्वनाम और ३. प्राचीन क्रियाविशेषण पर आधारित होते हैं।

(१) संज्ञा पर आधारित क्रियाविशेषण तीन रूप में हैं—

१. कर्त्ता कर्म के -उ प्रत्यय के साथ २. करण -अधिकरण के -इ प्रत्यय के साथ और ३. निर्विभक्तिक शून्य या अकारान्त रूप मे (जैसे—चिरु, थिरु, धीरु, घणु, णिमिसद्धु, धुवु, णिसत्तउ (निश्चितम् प० च०) णिरारिउ, णित्तुलउ, णिच्छउ, तुरु (त्वरा) निव्वियारु<निर्विचारम् (प० सि० च०) आदि; णिरवविह, रिमंति,

अणियति, इत्थतरि, दरि, णिच्छइ, आदि ; तुरिय, सुलत्त, सव्वावर, णिसिस, खर पेगाम<प्रकामम् आदि। यह उकारान्त और इकारान्त प्रवृत्ति स्वतन्त्र निपातो में भी दृष्टिगोचर होती है जैसे—पुणु (हेम० ४।४२६) पुणि ; जणु, जणि ; आदि।

(२) सर्वनाम पर आधारित क्रियाविशेषण प्रा० भा० आ० के कुत, कुत्र, कथं, कदा इत्यादि तद्धितान्त प्रत्ययो के योग से बने शब्दो की तरह अपभ्रंश सर्वनाम प्रकृतियों और प्रत्ययो के योग से बनते है। जैसे प्रा० भा० आ० किम् या क -प्रकृति से कउ=कुत., केत्थु=कुत्र, केम=कथ, प्रा० भा० आ० तत् या अप० त -प्रकृति से तो=ततः, तदा ; तेत्थु=तत्र तेम=तथा इत्यादि।

(३) प्राचीन क्रियाविशेषण पर आधारित जैसे—पच्छइं पश्चात्, अवसु <अवश्यम्, उप्परि, ऊपर, उपर<उपरि ; अज्ज, अज्जु, आज<अद्य ; भीतर <अभ्यन्तर, एक्कट्ठ<एकत्र (पा० दो०)

अर्थविधान की दृष्टि से क्रियाविशेषण कालवाची, देशवाची, रीतिवाची और विविधवाची मे विभाजित किये जाते हैं। अपभ्रंश के मुख्य क्रियाविशेषणों का परिचय अधोलिखित है—

कालवाची क्रियाविशेषण

१. जाम, जाउं, जामहिं=यावत्, हिं जब तक (हेम० ४।४०६) अवधि-निर्धारण, जाम—प० च०<जावँ<जाव—(विक्र०,दो० को०)<यावत्, जाउ<जावँ, जामहिं<जाम+हिं, जावहिं—प० च०।
२. ताम, ताउं, तामहिं=तावत्, हिं० तब तक (हेम० ४।४०६) ताम<तावं, ताउ<ताव<तावत्।
३. पच्छइ<पश्चात्, हिं० पीछे (हेम० ४।४२०)।
४. एम्वहिं=इदानीम्, हिं० अब (हेम० ४।४२०)।
५. जव्वे—दो० को०, जावे, जवे, जवे—की० ल०, जब ही—की० ल०।
६. तव्वे—दो० को०, की० ल० तवे, तव—की० ल० तवही—की० ल०।
७. तो, तोउ, तउ, ततो, —की० ल० तवहु, तव्वहुं—की० ल०।
८. अवे, अवहिं—की० ल०।
९. कवहु=कभी कभी—की० ल० ; कया, कइया, कइयहा (भ० क०) कइअह (हेम० ४।४२२ उदा० १) कव्वे—दो० को०<कदा।
१०. आज<अज्जु<अज्ज<अद्य (की० ल०)।
११. चिरू—स० रा०, चिरे—की० ल० ; निषेधार्थ मे अइरेण, अइरिण।
१२. सइ (सदा)।

देशवाची

१. जेत्थु, जतु (हेम० ४।४०४)।

जेत्थ, जित्थु, जेत्तहे (इ० च०) एत्तहे के अनुकरण पर। जेत्तहिं (ज० च०), जहिं (प० च०)=यत्र, आ० भा० आ० हिं० जहीं, जहा।

२. तेत्थु, तत्तु (हेम० ४।४०४), तित्थु, तत्थ, तेत्तहे (ना० च०) तेत्तहिं (ज० च०) तेत्तहि (हेम० ८।४।४३६), तहिं=तत्र, आ० भा० आ० हिं० तहीं, तहां।

३. केत्थु (हेम० ४।४०५), कत्थ, कत्थइ (ज० च०), कित्थु (प० प्र०) कहिं=कुत्र आ० भा० आ० हिं० कहीं, कहां।

४. एत्थु=अत्र, हिं० यहा (हेम० ४।४०५); इत्थु, इत्थि (सा० ध०) ह्रस्वीकृत रूप, एत्थउ (ज० च०) परिवर्धित रूप, एउ (ना० च०) आ० भा० आ० पंजाबी इत्थे, सस्कृत इत्थम् का प्रभाव।

५. कउ, कहन्तिहु=कुतः, हिं० कहा से (हेम० ४।४१६)

६. तो=ततः, हिं० तो, (हेम० ४।४१७)

७. एत्तहे=इतः (हेम० ४।४२०) इसी से स्वरलोप होने पर एत्थे>इत्थे>इत्थि, एत्थु आदि संभव है (संख्या ४ मे वर्णित)

८. उप्परि, उप्परिं, उंप्पर, उप्पर, उपर, ऊपर<उपरि

९. भीतर (की० ल०)<भितर (पा० दो०)<अभ्यन्तर

१०. अग्गि (की० ल०)

११. पच्छइ, पाछे, पाछु, पछ, पीछे<पश्चात्

१२. बाहर, बाहिर, बाहिरु, बाहेर, बाहरओ=बहि, भीतर के सादृश्य पर

१३. निअर<निकट, पास<पार्श्व

१४. कया<कदा, कइया वि=कदापि (कु० च० ४६।१)

प्रकारवाची

१. केम, किम, किह, किध (हेम० ४।४०१) कह (प० च०) कहं (पा० दो०) केवँ, केव (ज० च०) किमि, किम्ब, किव, कीवई, केमइ।

२. जेम, जिम, जिह (प० च०), जिध (हेम० ४।४०१) जिम्ब, जिवँ, जेवँ, जिह, जेहउ (ज० च०) जहा, जेहा (पा० दो०)=यथा।

३. तेम, तिम, (पा० दो०) (दो० को०), तिह, तिव (हेम० ४।४०१) तहरि, तेहि, तहा (दो० को०) तेहा (पा० दो०)

४. अवरोप्परु, अवरूप्पक=परस्परम् (हेम० ४।४०९)

५. प्राउ, प्राइव, प्राइम्व, प्रगिम्ब=प्राय (हेम० ४।४१४)

६. अनु=अन्यथा (हेम० ४।४१५)

७. एम्ब<एवम् (हेम० ४।४१८); एम्वइ<एवम् (हेम० ४।४२०) एम, इम—पा० दो० एउ, एउं, इउ; एमइ, एम्वहिं<एवहिं, एमहिं< एवहि

८. पर<परम् (हेम० ४।४१८)
९. समाणु<समम् (हेम० ४।४१८)
१०. मणाउं<मनाक् (हेम० ४।४१८)
११. झत्ति (प० सि० च०), झडति<झटिति=शीघ्र
१२. छुहु=क्षिप्र
१३. डावु=शीघ्र
१४. तरु<त्वरा=शीघ्र
१५ दडवड (दडवड होइ विहान) उवत्ति (म० पु०), दडत्ति (म० पु०)=शीघ्र तडतडइ, तडत्ति (पा० दो०)—अनुकरणात्मक शब्द।
१६. वहिल्लर (हेम० ८।४।४२२)=शीघ्र
१७. दिवे दिवे=दिवा (हेम० ८।४।४१९)
१८. पुणु=पुन
१९. फुडु<स्फुटम्
२०. सणिउ=शनै
२१. लइ (पा० दो० १११)=शीघ्र, लइ=अधिक। ज० च० ३ १०.४)
२२. सज्ज (प० सि० च०)<सद्य=शीघ्र
२२. निरारिउ (प० सि० च०)=अतिशयम्

विधिवाची

उपमार्थ तथा कर्मोपसंग्रहार्थ निपातो मे इनका प्राय समावेश हो गया है। कुछ निम्नलिखित हैं—

१. इय, इउ, इअ (पा० दो०)<इति, त्ति<इति (पा० दो०)
२. सइं<स्वयम् (पा० दो०)
३. आलें (अलम्)
४. विणु, विणु<भिन्न (हेम० ८।४।४२६)

सबन्धवाचक अव्यय परसर्ग प्रकरण मे स्पष्ट कर दिये गये हैं। सयोजक या समुच्चयवाचक अव्यय समुच्चयार्थ मे सन्निविष्ट है।

भावबोधक अव्यय—

संबोधनार्थ अव्ययो का निरूपण पहले किया जा चुका है। ह शुद्ध प्राणध्वनि की समीपवर्ती ध्वनि है, अत सबोधन या भाव बोधन हो, अहो, अहा, हा हा आदि के द्वारा ही अधिक सभव है। सस्कृत से अपभ्रश तक ऐसा ही हुआ है। अपभ्रश मे इसका वृद्धि का चिह्न √होक्कर (प० सि० च०) और √हक्कार (प० सि० च०) धातुओ का बुलाने अर्थ मे प्रयोग है। संस्कृत मे वह √आकार था। अपभ्रंश मे भावबोधक अव्यय प्रा० भा० आ० और म० भा० आ० से पृथक् नहीं है। कुछ अधिक प्रयुक्त अव्यय इस प्रकार हैं—

१. अहु (प० सि० च०), अहो, अहोहु, उहु (ह० च०) <अहो
२. हुउं हुउं=हाहा (स० च०)
३. अहह (स० च०) सं० सत्सय
४. हहा, हाहा
५. छि छि, थू थू

हेमचन्द्र ने ८।४।४२३ मे हुहुरु आदि को शब्दानुकरण और घुग्घु आदि को चेष्टानुकरण मे प्रयुक्त बताया है। गगार (प० सि० च०)=गंद्गद, जज्जर (प० सि० च०) <जर्जर।

षष्ठ अध्याय

शब्दरचना

प्रा० भा० आ० पद्धति मे शब्दरचना तद्धितान्त और कृदन्त प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होती है। किसी नाम प्रकृति से, जिसके अन्तर्गत सज्ञा, सर्वनाम और विशेषण हैं, अन्य नाम निर्माण करने वाले प्रत्यय तद्धितान्त और किसी धातुप्रकृति से नाम की रचना करने वाले प्रत्यय कृदन्त हैं। इन्ही दो विभागो में यथासंभव वर्गीकृत कर के अपभ्रश मे शब्दरचना विधायक प्रत्ययो का परिचय नीचे दिया जा रहा है।[1] ये प्रत्यय प्रायः भारतीय आर्यभाषा स्रोतो से ही प्राप्त हैं यद्यपि कही कही द्राविड, देशी और विदेशी प्रत्यय या प्रभाव भी लक्षित है।

तद्धितान्त

(१) स्वार्थिक प्रत्यय जो अल्पार्थ का भाव भी देते हैं—अपभ्रंश में स्वार्थ में अनेक प्रत्ययो की योजना है और वैयाकरणों ने विभिन्न अपभ्रशो के भेदों मे उन्हें भेदक चिह्न तक स्वीकार किया है।

-अ <क (हेम० ८४।४२९) किअउ <कृतक, अग्गिठअ <अग्निस्थक, गुरुअ <गरुअ <गुरुक, लहुअ <लघुक, वाढ़अ <वृद्धक इत्यादि। इसी -अ प्रत्यय की योजना को भाषाविज्ञान मे परिवर्धित रूप कहा जाता है जैसे—सतावियअ < सतापितक, अहाणअअ <आमाणक, जोहेयअ <यौधेयक, टुट्टिअअ <त्रुटितक, विसारिअअ <विस्मृतक इत्यादि।

-अड या ड भा० भा० आ० -ट स्वार्थवत् प्रयोग (चाटुर्ज्या के अनुसार) वस्तुत. देशी प्रत्यय (हेम० ८।४।४२९, लर्क० ३।२।६) ; पु० लि० मे प्रयोग होने पर डा (अतोऽस्त्रिया डा) और स्त्रीलिंग मे डी (डी तु स्त्रियां) जैसे—हिअडा <हृदय, रुक्खडा (रूक्ष=वृक्ष) ; वियप्पडा (पा० दो०) <विकल्प+ड), माणिक्कडा <माणिक्य+डा ; गोरडी <गोरी, भिट्टडी <भुक्ति।

लउडा (उ० व्य० १९) >लउड (उ० व्य० १६) >लक् -उ -ट, लगुड औस्ट्रो-एशियाटिक प्रकृति* लक् का रूपान्तर है। थोड <थोअ -ड <स्तोक -ट; मांकडि <मर्क -ट -ई तुलना कीजिये द्राविड तामिल मरअम= वृक्ष।[2] जीवड <जीव -अड गुरुवड <गुरु -अड (पा० दो०)। अड अपभ्रंश का निजी प्रत्यय है और सभी क्षेत्रो और कालो मे प्रयुक्त है। सभी प्राकृत

---

१. पुरुषोत्तम ने इसे कृत्तादित विधि कहा है। (प्राकृतानुशासन १७।१२-४०)

२. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—चाटुर्ज्या की अंग्रेजी भूमिका पृ० २६

वैयाकरणो ने इसका विधान किया है ।[1] रा० तर्कवागीश ने तो ड स्वार्थिक प्रत्यय को कौन्तली[2] का परिचायक बताया है और पांचालिका[3] मे डी की बहुलता दिखाई है । उत्तरी राजस्थान मे आजकल भी डी प्रत्ययान्त पर्याप्त मात्रा में है ।[4] "जीहड़िया छाला पड़ा—मीरा" । पा० दो० मे "एक्क णिवारहि जीहडिय" (४३) मे यह सुलभ है । हिन्दी मे भी लकड़ी, पगडी, इत्यादि उदाहरण हैं । मराठी मे पारडूं, करडूं शेरडूं तथा गुजराती में मनडूं दियडूं प्रयोग है ।

सार्वनामिक विशेषण बनाने मे भी इस -अड का प्रयोग मिलता है जैसे एत्तडय (एतावान्) तेत्तडु, तित्तडयु (तावन्मात्र), एवड (एतावान्) आदि ।

-अल्ल -इल्ल; -उल्ल, -उल्ली (स्त्रीलिं०) प्रा० भा आ० उल (चटुल, मृदुल इत्यादि की तरह) जैसे—एक कुटुल्ली पचहि रुद्धी (हेम० ४२२।१२) देह कुडुल्ली परिखवइ (पा० दो० ६१) ; कुडुल्ली कुड (कुट)+उल्ली= कुटिका, कुडुल्ली की जगह कुडिल्ली भी पाठ है और डा० हीरालाल जैन ने यहां ल्ल स्वार्थ प्रत्यय गृहीत किया है, कुटी+ल्ल । -कु - कचुल्ली (प० च०) हिअउल्ल (हृदय), विलउल्ल (विलोल), बहिनुल्ल (भगिनी), चिडुल्ल= चिड़िया आदि । तर्कवागीश ने वैदर्भी की विशेषता मे 'वैदर्भिकामल्लघना वदन्ति" ३।३।८ मे इल्ल स्वार्थिक प्रत्यय की प्रधानता बताई है । मार्कण्डेय ने इसे -उल्ल बताया है,। -उल्ल > उल का रूपान्तर है यह करहुल (पा० दो० ४२, १११, १७०) करभ+उल जैसे प्रयोगों से सिद्ध हो जाता है । हिन्दी मे टिकुली < टीकुली < टीका+इल्ली जैसे शब्द इसी प्रक्रिया से निष्पन्न होते है । -अल्ल का प्रयोग नवल्ल (प० च० ११ ५. ६), महल्ल (ज० च०) मे है ।

हेमचन्द्र इत्यादि वैयाकरणो के अनुसार उपर्युक्त स्वार्थिक प्रत्ययो के मिलने से विभिन्न योगज प्रत्यय भी बनते हैं (हेम० ८।४।४३०) । स्वय हेमचन्द्र का -अड प्रत्यय अ+ड दो प्रत्ययों से निष्पन्न है । योगज के उदाहरण—हिअडउं (अड+अ), चूडुल्लउ (उल्ल+अ), कडुल्लय (प० च०) उल्ल+अ, णेहडअ (स्नेह+ड+क), मोरुल्लअ (मोर+उल्ल+अ) इत्यादि दो प्रत्ययो के योगज उदाहरण है । इसी तरह बलुल्लडा (नल्ल+डा), वलुल्लडउ (उल्ल+ड+अ) तरह के रूप हेमचन्द्र ने दिये है । प० च० मे -अडय (अड+अ) और -उडय प्रत्ययो का प्रयोग भायाणी के अनुसार

१. हेम० और तर्क० के अतिरिक्त पुरु० १७।१८।१६, त्रि० ल० ३।३।७६
२. डकारमूल्ली किल कौन्तली स्यात् ३।३।६
३. ई-डी बहुलात् पान्चालिका ३।३।८
४. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी में डा० ग्रियर्सन जनवरी, १६२३
५. म० क०—अंग्रेजी में गुणे के नोटस पृ० १४

हीनार्थक है जैसे—सरीरडय (प० च० ६.१३.५) वंकुडय (वक्र+उडय, प० च० ६.१६.५) है। इल्ल का प्रयोग जसहर चरिउ मे पढमिल्लु (१.९) <पढम (प्रथम+इल्ल है।

-क के -इक (इय) और -क्क रूप भी प्राप्त होते हैं, जैसे वानुक्किय (प० च० ६.१५.३) वानुक्क+इय और गुरुक्क (प० च० २.१० १)।

-उ पुन और विना से ड्ड (उ) प्रत्यय (हेम० ८।४।४२६) जैसे पुणु, विणु।

-ए और अ, अवश्य से डें (एं) और ड (अ) प्रत्यय (हेम० ८।४।४२७) जैसे अवसें और अवस।

(२) भाववाचक प्रत्यय

-प्प, प्पण>प्रा० भा० आ० त्व, तवण (हेम० ८।४।४३७)। अपभ्रंश में संज्ञा और विशेषणो से इन प्रत्ययो का योग करके अमूर्त भाववाचक संज्ञा बनाई जाती है। जैसे—वड्डुपण—हिन्दी बडप्पन, भल्लप्पण—हिन्दी भलापन। आ० भा० आ० हिन्दी ने बुढापा, बूढापन इत्यादि में प और पन दोनों को अपनाया है। -त्त, -त्तण>प्रा० भा० आ० त्व, तवण का दूसरा विकास। म० भा० आ० प्राकृत मे इनका प्रचुर उपयोग है। अपभ्रंश में भी वह प्रचलित रह गया जैसे—इन्दत्त (इन्द्रत्व), सुरत्त (सुरत्व) —प० च० अण्णत्त (अन्यत्व)—ज० च० वड्डुत्तण, भल्लतण, हियतण (हितत्व) भिच्चत्तण (भृत्यत्व), सुरिन्दत्तणय (सुरिंद+तण+क=सुरेन्द्रत्व)—प० च०।

-इम<प्रा० भा० आ० -इम (इमनिच् पाणिनि)—जैसे भल्लिम (भद्रिमा) घुत्तिम (घूर्त्तिमा),

(३) कर्तृत्व बोधक प्रत्यय—

-अ> म० भा० आ० क; खवणअ<क्षपणक, वप्पीहअ (वाप्प+ईह+क), विणुअ<विज्ञुक)

-कारय, गारय -आरय<प्रा० भा० आ० कारक

-कर, -यर<प्रा० भा० आ० कर। समस्त होकर कर्ता का अर्थ देते हैं। पहले इनमे समास का रूप रहा, धीरे धीरे वह धारणा लुप्त हो गई और आ० भा० आ० मे से सर्वथा प्रत्ययात्मक बन गये। जैसे प० च० खयकारी (४.९.५),<क्षयकारिका, खयगारय<क्षयकारक, खयगारिअ<क्षयकारिका इसी तरह महोहरगारा (२.६ १०) पेसणगारी, (८.४ ६) पेसणयारी (६ ९ ६) विणासयर (१.१६ ९) आदि।

-आर<प्रा० भा० आ० कार, सोनार<सोन्नार<स्वर्णकार, कमार<कम्मार<कर्मार<कर्मकार, (ध्यान देने योग्य है कि कर्मार वैदिक शब्द है जिसने कमार को जन्म दिया) सुआर<सूपकार, जुआर<द्यूतकार, गमार,

---

१. प० च० की भूमिका—पृ० ६०

गंवार<ग्राम्यकार आदि अनेक उ० व्य० और की० ल० के शब्द आ० भा० आ० हिन्दी के अग्रगामी हैं।

-अण<प्रा० भा० आ० अन जैसे सुहावण, कंपावण, कदावण, भयावण—प० च०

-हार, हारी (स्त्रीलिं०)<प्रा० भा० आ० धार जैसे कलिहारी<कलिहारिका (उ० व्य० ४९), करणिहार, पढणिहार (उ० व्य०) आदि।

-इर ताच्छील्प अर्थ मे कर्त्ता का बोधक है। जैसे हिंसिर -हेषणशील=हीसनेवाला घोड़ा, किल्लिरी—क्रीडनशील, चाविर = चर्वणशील, चुंविर, गसिर ग्रसनशील, कन्दिर—क्रन्दनशील, पणच्चिर -प्रनर्तनशील, परिभमिर-परिभ्रमणशील आदि। प्राच्यक्षेत्र मे इस प्रत्यय का अभाव है।

-इल्ल<प्रा० भा० आ०—र या -ल जैसे कणिल्ल=क्वणनशील(तोता) गामिल्ल, उवरिल्लय=उवरि (उपरि)+इल्ल+अ) हिन्दी उपरला। उच्चारणानुसार यही—एल भी होता है जैसे गामेल्ल (प० च०)

-इक्क जैसे वप्पिकी

-अर<कर जैसे रोयर<रुचिकर म० पु० १७.१२ ७

आरि या आरी<प्रा० भा० आ० कार+इक जैसे भिखारि (उ० व्य०) भिखारि या भिक्खारि (की० ल०)<भिक्षाकारिक, गोहारीगोह (शब्द)+आरिआ (कारिका)

-आण अघाण<अघ+आण=पापी

-आव<प्रा० भा० आ०—आपक जैसे नटाव<नट्टावअ<*नृत्तापक=नर्तक, बढाव =वर्धापक, कोहावी<क्रोधापित+इक=क्रोधिता

-आल या आर<आगार—जैसे खीराल (क्षीर-), डाढाल (दष्ट्रा-) गुणाल (गुण-) सोहाल (शोभा-) युक्त और पूर्ण अर्थ देता है। भण्डार< भाण्डागार, इसी का विस्तार आरी<आगारिक जैसे भण्डारी (उ० व्य०)

(४) सम्बन्धार्थक

-इत<प्रा० भा० आ० इत्र, जैसे जोवणइत (यौवनवती), अत्थइत्त (अर्थवत्), दुमइत (द्रुमवत्), चंदइत (चन्द्रवत्)।

-इ<ई<-इक जैसे कापडी<कार्पटिक तेलि<तलिक।

-इ -ई<इन्, हाथि, हाथी<हस्तिन्, जोइ<योगिन् जोइय<योगिन्+क (स्वार्थ), वइरिय (वैरिन्+क), देहिय (देह+इन्+क) अहियारिय अधिकारिन्+क), अण्णाणिअ (अज्ञानिन्+क)।

-व<प्रा० भा आ० वत् (सत्), हणुव<हनुवत्* (हनुमान्), चन्दकव< चन्द्रकवत्।

-वन्त<म० भा० आ० वन्त<प्रा० भा० आ० वत् (मतुप्); जैसे पुन्नवन्त <पुण्यवान्, सिद्धिवंतु<सिद्धिमान्।

-मई<प्रा० भा० आ०—मती : व्यक्तिवाचक स्त्रीनामों का अंश जैसे सिरिमई<श्रीमती, धणमई<धनमती, कणयमई<कनकमती।

-वाल<प्रा० भा० आ० पाल, जैसे थणवाल<स्थानपाल, कटकवाल <कटकपाल, गयावल<गयापाल, आ० भा० आ० हिंदी में वाला अर्थ देता है। गयावाल का अर्थ गया से सम्बद्ध, वहाँ रहने वाला है, न कि गया का रक्षक।

-आल<वाल<पाल; गुआल<गुवाल<गोपाल।

-आल विस्तार—आली<आलिअ<आलिक जैसे, वयालि या वयालि <वातालिक, आ० भा० आ० का बयार।

-य<प्रा० भा० आ० क (यश्रुति से), णीसिय<नि श्रीक, तिय<स्त्रीक, स्वार्थिक प्रत्ययों के साथ भी युक्त होता है।

-आलु (य)<प्रा० भा० आ० आलु, आर (ल को र) सद्धालुय<श्रद्धालुक, तिट्ठालुय<* तुष्ट (तृषित) आलुक, गिद्धालु<गृद्धालुक=गर्धालुक

-इय<प्रा० भा० आ० ईय जैसे पराइय<परकीय, महुदिय<महत्‌इर <प्रा० भा० आ० इर जैसे सुरोसिर (सुरोपयुक्त), आनन्दिर (आनन्दयुक्त), गग्गिर (गद्‌गदयुक्त), लम्बिर (लम्बयुक्त)।

(५) स्त्री प्रत्यय

अ<प्रा० भा० आ० आ (टाप् ह्रस्वीकृत), जैसे देवय<देवता (पा० दो०), गुरुहार<गुरुभारा, गुह<गुहा, धार<धारा, निहीण<निहीना, लीह<रेखा सहि<सखी—प० च० (देखिये ह्रस्वीकरण प्रकरण)।

आ—सिआ=श्री. (श्रिया सिआ, तर्क ३।२।६) प० च० अज्जा<आर्या, दइआ<दयिता, किरिया<क्रिया।

इ<प्रा० भा० आ० ई (डी ह्रस्वीकृत) और इ<ई तथा<इआ प्रा० भा० आ० इका जैसे—जणणि<जननी, णइ<नदी, तरुणि<तरुणी, दासि <दासी, कंचि<काञ्ची। (प० च०) आगि<अग्निका. नागि<नग्निका, विआलि<विकालिका, सहारि<शफरिका इत्यादि उ० व्य०।

ई<ई भमन्ती (विक्र०) असहन्ती, =असहमाना वाइणी<वादिनी (प० च०) कह धम्मणिबद्धी<कथाधर्मनिबद्धा (ज० च०) महेली (पा० दो०)= महिला, भरन्ती (प० च०)।

णी<प्रा० भा० आ० णी (इन्द्राणी आदि की तरह) का मिथ्यासादृश्य, जैसे सिस्सिणी (पा० दो०)<*शिष्यानी=शिष्या।

-कृदन्त

बहुत-से कृदन्त प्रत्ययों का वर्णन धातु रूपावली में किया जा चुका है। यहाँ परिगणनमात्र है—

(१) वर्तमान कृदन्त

अन्त<शतृ, स्त्री अन्ती; पढन्त, चलन्त, सहन्त आदि
माण<शानम्, पिच्छमाणु, गच्छमाणु आदि।

(२) भूतकृदन्त—

-अ, -य, -इय<प्रा० भा० आ क्त

(३) भविष्य कृदन्त

इएव्वउं, एव्वउं, एवा=प्रा० भा० प्रा० तव्य

(४) कर्त्रर्थक

-तार<तृ जैसे अहित्तार<*अभिवक्तार<अभिवक्तारः एकवचन में प्रयोग, कत्तार<*कर्त्तार<कर्तार

(५) भाववाचक

-अण<प्रा० भा० आ० अन—उक्कोवण<उत्कोपन पयडिण<प्रकटन (-इण<-अन अपश्रुति से) अविक्खण<अवेक्षण, खचण=कर्षण, पज्जलण<प्रज्वलन, ठाण<ठा+अण।

चतुर्थ खण्ड

अर्थविज्ञान

अर्थविज्ञान

ध्वनियो से पदो का निर्माण होता है और पद अर्थबोधनार्थ प्रयुक्त होते हैं। बिना अर्थ के पदो का भाषा मे कोई अस्तित्व नही। महाभाष्यकार ने 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे'[1] मे इसी को ध्वनित किया था। शब्द और अर्थ का सबन्ध नित्य है या अनित्य इस विवाद मे पडे बिना यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवश्य है यह नियम शाश्वत है।[2] इस सम्बन्ध का नियामक लोक है। शब्द का और अर्थ का लोक मे जो ससर्ग और साहचर्य स्वीकृत है उसे ही ग्रहण करके लोकव्यवहार चलता है अन्यथा भाषा अबोध या दुर्बोध हो जाय। इसी को ध्यान मे रखकर निरुक्तकार ने "अर्थनित्य परीक्षेत" व्यवस्था दी थी। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध गुरुत्वाकर्षण नियम के अनुसार प्राकृतिक नही है। यदि ऐसा होता तो किसी शब्द के उच्चारण करते ही अनायास सर्वत्र और सर्वदा एक अर्थ की ही प्रतीति हो जाती। शब्दार्थ सबन्ध देशकालानवच्छिन्न न होकर भी किसी देशविशेष और कालविशेष मे अवश्य नियमित है; यादृच्छिक होकर भी किसी व्यक्तिविशेष की इच्छा पर निर्भर न होकर समाज पर आधारित है। ध्वनियो का अर्थों मे कोई प्राकृतिक सबन्ध नही, फिर भी ध्वन्यानुकरणात्मक और भावाभिव्यजक शब्दो मे ध्वनि का प्रभाव आ ही जाता है और किसी भी भाषा मे ऐसे शब्दो की नगण्य मात्रा नही होती उनकी अर्थबोधन प्रक्रिया पर विचार करना ही चाहिए। शब्द वस्तुतः अर्थों के सकेत हैं। जब सकेतो मे संकेतित अर्थो की बोधनक्षमता कथञ्चित् घट जाती है या नही रहती तो सकेत परिवर्त्तित कर दिये जाते हैं या सकेत का नये अर्थ से ससर्ग स्थापित कर दिया जाता है। यही वागर्थप्रतिपत्ति है—शब्द से अर्थ का प्रतिपादन है। इस शब्दार्थ सम्बन्ध और उसके विकास का विचार अर्थविज्ञान का विषय है। हमे इस विज्ञान के सहारे अपभ्रंश शब्दो की शक्ति और अर्थपरिवर्त्तन दिशा का निश्चय करना है।

शब्दव्यवस्था त्रिविध है, १. प्रत्यक्षवृत्ति २. परोक्षवृत्ति और ३. अति-परोक्षवृत्ति। जिन शब्दो मे क्रिया स्पष्ट निर्दिष्ट है वे प्रत्यक्षवृत्ति, जिनमे क्रिया

---

१. म० भा० आह्निक

२. विशेष डा० सिद्धेश्वर वर्मा के Analysis of Meaning in Indian Semantics निबन्ध में देखिये (Journal of the Department of letters, University of Calcutta Vol XIII, 1926.

अन्तर्लीन है वे परोक्षवृत्ति हैं और जिनमें क्रिया अन्वेषणगम्य है वे अतिपरोक्षवृत्ति शब्द हैं। उनके निर्वचन की अपेक्षा होती है। अत अज्ञात अतिपरोक्ष शब्द की व्याख्या परोक्षवृत्ति का आश्रय लेकर प्रत्यक्षवृत्ति शब्द से करनी चाहिए। यह प्रक्रिया निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने बताई थी।[1] भाषाविज्ञान का व्युत्पत्तिशास्त्र या निरुक्त एक प्रधान अङ्ग है। अपभ्रंश के शब्दो के समझने के लिए उनकी निरुक्ति करनी ही होगी। शाकटायन[2] या नैरुक्त संप्रदाय की तरह सभी शब्दो का प्रकृति प्रत्यय विवेचन अनिवार्य माने बिना भी गार्ग्य[3] की तरह मध्यमार्ग का अनुसरण किया जा सकता है जिसमे निर्वचन-संभाव्य शब्दों की ही व्युत्पत्ति अन्वेषणीय है। झा या ओझा शब्द किस तरह उपाध्याय से सम्बद्ध है यह मध्यवर्त्ती विकास प्रक्रिया और उसके इतिहास को जाने बिना संभव नही। इस प्रक्रिया का ध्वन्यात्मक अंश ध्वनिविज्ञान का विषय है, रूपात्मक अंश रूपविज्ञान का और अर्थविकासात्मक अंश अर्थविज्ञान का। प्राचीन परिपाटी मे वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णविनाश और धातु का अर्थातिशय से योग यह पंचविध निरुक्त कहा जाता था।[4] प्रथम चार का विवेचन ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत किया जा चुका है। पाचवाँ विषय अर्थविज्ञान के क्षेत्र मे पड़ता है। निर्वचन मे क्रियाबोधक धातु का महत्त्वपूर्ण भाग है। धातु का अर्थपरिवर्त्तन शब्दार्थ का परिवर्त्तन है अत धातु के अर्थविषय योग "का प्राचीनकाल से" वैयाकरण, विशेषत. प्राकृतवैयाकरण, गम्भीरता से अध्ययनन करते आये हैं। अतः अपभ्रंश शब्दो का अर्थात्मक अध्ययन सरलता के लिए निम्न विभागो मे रखा जा सकता है—

१. ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द।
२. प्र० भा० आ० और म० भा० आ० की धातुओ का अर्थातिशययोग।
३. अर्थप्रतिपत्तिनिमित्तक नये शब्दो अर्थात् देशी शब्दो का ग्रहण।
४. अपभ्रश भाषा मे प्रयुक्त शब्दो का अर्थपरिवर्त्तन की दृष्टि से विचार—
   क—अर्थसंकोच
   ख—अर्थविस्तार
   ग—अर्थान्तरण

---

१. त्रिविधा हि शब्दव्यवस्था प्रत्यक्षवृत्तय परोक्षवृत्तय:,[1] अतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्रोक्तक्रिया: प्रत्यक्षवृत्तय: अन्तर्लीनक्रिया: परोक्षवृत्तय:, अतिपरोक्षवृत्तिषु शब्देषु निर्वचनाभ्युपाय:। तस्यात्परोक्षवृत्तितामापाद्य प्रत्यक्षवृत्तिना शब्देन निर्वक्तव्या:। तदयथा निघण्टव इत्यति-परोक्षवृत्ति, निगन्तव इतिपरोक्षवृत्ति, निगमयितार इति प्रत्यक्षवृत्ति.। निरुक्त १।१।५ पर वृत्ति।
२. विशेष विस्तार, निरुक्त १।१२।
३. विशेष विस्तार निरुक्त १।१२।
४. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
   धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

५. मुहावरे और लोकोक्तियाँ।
६. भाषा का आलंकारिक प्रयोग।

(१) ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द

मनुष्य पशुपक्षियो की विविध अव्यक्त ध्वनिया श्रवण करता है, अन्य वस्तुओं के गिरने, हिलने-डुलने आदि से उत्पन्न आवाजें सुनता है और भावावेश मे आकर स्वयं या अन्य द्वारा विहित भावाभिव्यंजक विभिन्न नादो को कर्णगोचर करता है। उसमें अनुकरण प्रवृत्ति प्रबल है। वह उनका अनुकरण करता है। उन्ही अनुकृत ध्वनियो से अनेक धातुप्रकृतियां, नाम और विस्मयादिबोधक शब्द भाषा की सपत्ति बनने लगते हैं। धातुरूपावली प्रकरण के धातु प्रकृति अनुच्छेद मे अपभ्रश की इस तरह की धातुओ का परिचय दिया जा चुका है। हेमचन्द्र ने ८।४।४२३ सूत्र मे शब्दानुकरण और चेष्टानुकरण मे अनेक अपभ्रश शब्दों का विधान किया है। अनुकरणात्मक शब्द मूल स्रोत के आधार पर निम्नलिखित हैं—

(१) उत्तराधिकार में प्राप्त अनुकरणात्मक शब्द— प्रा० भा० आ० के अनेक शब्द म० भा० आ० मे घुल-मिल गये हैं। ध्वनि विकार के नियमो के अनुसार उनमें उच्चारणात्मक परिवर्त्तन अवश्य हो गये हैं, जैसे—कडमडति < कटकटन्ति < कड़कड़ाता है, किलकिलति = खिलखिलाता है, चलचलंति = हिलचुल करता है, गग्गिर = गद्गद होना, पडइ < पतति = पट से गिरता है, ढ़ंढइ = √ढुण्ढ, कोइल < कोकिल, छछुन्दर < छुछुन्दर, कक्कस < कर्कश, झकार, टंकार।

(२) लोकोद्भूत अर्थात् देशी अनुकरणात्मक शब्द—डुडुद = डूबने की ध्वनि, कसरक्क = निगलने की ध्वनि, घूंटना -हेम० खुडुक्किइ = दिल मे खटका लगा, खुणखुण = खुनखुन, हिलिहिलि = हीसकर, थरहर, रुणरुण = मधुमक्खियों की भनभन, रणझणत — रुन झुन करना, झलझलइ = समुद्र का झलझलाना है, —णा० च०

(३) ऋण शब्द—जो विदेशी शब्द ग्रहण किये गये हैं हुचड़ (की० ल०) = रौंदना

अर्थसबन्धी दृष्टि से इन अनुकरणात्मक शब्दो की निम्न विधाएँ हैं—

१. साक्षात् शब्द का अनुकरण—शब्द के सुनते ही शब्द की पहचान हो जाय जैसे—टणटणन्त, झणझणन्त, सलसलइ = सरसर करता है इत्यादि

२. चेष्टानुकरण—घुग्घिउ = बन्दरघुड़की, उट्ठबइस—उठा बैठक (हेम० ८।४।४२३) कोक्किअ -कूका, भुक्किउ -भूका—णा० च० हलबोलो (दे० ना० ८।६४) = हल्लागुल्ला

३. ध्वनि विधायक नाम—कोइल < कोकिल, काग < काक, छछुन्दर < छुछुन्दर, पप्पीओ, बप्पीहो = पपीहा -बोक्कड < बर्कर = बकरा

४. शैशव क्रीडा मे गृहीत संबन्धवाची शब्द—माम=मामा, वप्प=पापा, ताअ<तात, अब्बा, अम्मा, अल्ला, अक्का ।
५. प्रतीकात्मक—महमहइ=सुगंध फैलती है, खलुखुलइ=निश्वास लेता है, बडवडइ=बड़बडाता है, व्यर्थ प्रलाप करता है, ढण्ढोलन्त=ढण्ढोलना, झलझलइ -चमकाता है ।
६. विस्मयादिबोधक—अव्वो (अहो), हा, भो, अह, अहह ।

(२) धातुओं का अर्थातिशय योग—

उपसर्ग धातु के अर्थ को प्रबलता से दूसरे अर्थ में ले जाते हैं । यह प्रा० भा० आ० संस्कृत मे प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार आदि का उदाहरण देकर प्राय: प्रदर्शित किया जाता है । इस तरह का अर्थातिशय तो अपभ्रंश को उत्तराधिकार मे मिला ही है उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं । अव्यय प्रकरण के उपसर्ग अनुच्छेद मे कुछ उदाहरण उपलब्ध ही हैं । अर्थ परिवर्तन में भी यथास्थान कुछ उदाहरण समाविष्ट हो जायेंगे । यहाँ विशिष्ट अर्थातिशय दिये जाते हैं—

विक्के=विक्री, विम्हर=विस्मरण

अट् धातु संस्कृत मे गति अर्थ मे प्रयुक्त है । उसी के टकारद्वित्व से (हेम० ८।४।२३०) अट्ट रूप बनता है । इसका निरुपसर्ग प्रयोग मे अर्थ खोलना है -अट्टइ=क्वथति । परि उपसर्गयुक्त का अर्थ संस्कृतानुरूप पर्यटन है -परिअट्टइ=पर्यटति ।

अणुरुज्झ=अनुरुध, संस्कृत मे अर्थ होता है अनुरोध करना परन्तु अपभ्रंश मे अर्थ है रोकना ।

अणुवज्ज=अनुवर्ज्, संस्कृत मे मना करना अर्थ है परन्तु ध्वनि विकारानन्तर "गमन" अर्थ हो जाता है (४।१६२) अण्हइ का हेम० ४।११० के अनुसार भोजन करना अर्थ है । वस्तुतः वह अश्नाति के शकार के हकार और वर्ण-व्यत्यय का परिणाम है ।

अव अक्ख=अप+आ+ख्या, मूल अर्थ कथन है पर अर्थ हो जाता है दर्शन करना, अवअक्खइ=पश्यति (४।१८१) अव अच्छ=अप+यम् (यच्छ हेम० ४।२१५), अर्थ नियमन है पर अर्थातिदेश है आह्लादित होना (दे० ना० १।४८ पर स्वोपज्ञ वृत्ति), देखना (हेम० ८।४।१८१) ।

अवहर=अपहर, अपहरण करने के स्थान पर गमन करना (दे० ना० १.५६ हेम० ४।१६१) और विनष्ट होना (हेम० ४।१७८) ।

अहिलघ=अभिलङ्घ, अभिलघन करने के स्थान पर अभिकांक्षा करना (दे० १.४८ और हेम० ४।१९२)

आलिह=आलिह, चाटना के स्थान पर छूना (दे० १।७२ हेम० ४।१८२)

गुंज=गुज, गूंजना के स्थान पर हँसना (दे० ९२ हेम० ४।१९६)
जर=जृ वयोहानि के स्थान पर अपमानित करना। झर=झृ वयोहानि के स्थान पर स्मरण करना (दे० ३.६२ हेम० ४।७४) और मूल अर्थ झड़ना नष्ट होना भी है (हेम० ४।१७३)
णिवह=निवह, वहन करने के स्थान पर जाना, पीसना, नाश होना अर्थ हैं (हेम० ४।१६२, १८५।१७८)
णी=नी, ले जाना के स्थान पर गमन करना (हेम० ४.१६२) ले जाने के अर्थ मे "ने" धातु मे नेंति=नयति।
पणाम=प्र+नामि, प्रणाम करता है के स्थान पर अर्पित करता है (दे० ६.२९ और हेम० ४।३९)
पार=पारयति पार करता है के स्थान पर समर्थ होता है (हेम० ४।८६), पार पाना का लाक्षणिक अर्थ है। भा० भा० आ० बगला मे यही अर्थ है।
भर=भृ भरण पोषण के स्थान पर स्मरण (हेम० ७।७४)
वल=वल् गति के स्थान पर आरोहण करना और ग्रहण करना (हेम० ४।४७, २०९)
विलुम्प्=विलुप् विलोप के स्थान पर अभिकाक्षा (हेम० ४।१९२)
हण=हन् हिंसा के स्थान पर श्रवण (दे० ८।६२ और हेम० ४।५८)
हम्प=हम्म् गति के स्थान पर हनन (हेम० ४।२४४)
हेमचन्द्र के व्याकरण का अनुसरण करके उपर्युक्त उदाहरण दिये हैं।
त्रिविक्रम ने "धातवोऽर्थान्तरेप्वपि (३।१।१३३) मे धातुओं के अर्थान्तर को स्वीकार किया है और सस्कृत तथा प्राकृत धातुओ के अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे—
वल्—प्राण धारण करने के स्थान पर भोजन करना।
कल्—जानने के स्थान पर गिनना।
पम्फ (कांक्ष के अर्थ मे)—चाहना के स्थान पर खाना।
उपसर्ग विभिन्नता का उदाहरण -पहरइ -युद्ध करता है, संहरइ -उपसहार करता है, अणुहरइ -सदृश होता है, णीहरइ -पुरीपोत्सर्ग करता है, विहरइ -क्रीडा करता है, आहरइ -खाता है, पाडिहरइ -फिर से पूरा करता है, परिहरइ -छोडता है, उयहरइ -पूजता है (सस्कृत के प्रसिद्ध हृ धातु के उदाहरण है। उच्छुवह -चुराता है। इत्यादि। साहित्य में सब प्रयोग उपलब्ध हों यह आवश्यक नही। फिर भी अनेक प्रयोग प्राप्त हैं—जैसे सभरइ=स्मरति (म० क०) वलइ=गृह्णाति, (म० क०) इत्यादि।

(३) देशी शब्द

अपभ्रंश मे प्रा० भा० आ० के तत्सम और तद्भव शब्दो के अतिरिक्त प्रचुर देशी शब्द हैं जिन्हे उसकी अपनी संपत्ति कहना चाहिये। देशी भाषा के

निर्माण मे देशी शब्दो का हाथ है यह देशी भाषा के विवेचन मे कहा जा चुका है। रा० तर्कवागीश ने तो मध्यदेश की भाषा की विशेषता ही देशीपदो का आधिक्य बताया है।[1] इसकी पुष्टि उक्तिव्यक्ति प्रकरण की लोकोक्तियो मे दी गई अनेक नवीन धातुओ से, जो आज हिन्दी मे चल रही हैं, हो जाती है। देशी शब्दो को स्पष्ट करने के लिए हेमचन्द्र ने देशीनाममाला जैसे ग्रंथ की सृष्टि की, जिसमे लगभग ४००० शब्द है। अपने ग्रन्थ मे अपने से पूर्व इस तरह के कोशकारो मे अभिमानचिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक और शीलाङ्क का नाम दिया है। शब्दानुशासन मे दिये गये व्याकरण और इस कोश मे दी गई शब्दराशि से अपभ्रंश भाषा की समग्रता का परिचय मिल जाता है। दोनो ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं। त्रिविक्रम ने भी अपने व्याकरण मे ८४६ देशी शब्दो का पाठ 'झाडगास्तु देश्या सिद्धा' (प्रा० श० ३।४।७२) इस अन्तिम सूत्र मे किया है। इसी प्रकार ३।१।१३२, २।१।३०, १।४।१२१, १।३।१०५ और १।२।१०६ मे वर्गीकृत शब्दराशि दी जा चुकी है। हेमचन्द्र ने ३ प्रकार के शब्द कोश में संगृहीत किये हैं—

१. लक्षण से असिद्ध अर्थात् शब्दानुशासन के नियमों से अव्युत्पन्न, जिसमें वर्णागम आदि चतुर्विध निरुक्तियो का प्रवेश नही है; प्रकृति-प्रत्यय के विवेचन का कथंचित् अवकाश नहीं और सर्वथा लोक मे रूढ है।[2] दे० ना० के अधिकांश शब्द इसी कोटि के हैं। जैसे अक्को=दूत, अगिला=अवज्ञा, अडयणा=असती, अणड=जार, अरिअल्ली=व्याघ्र आदि। क्योकि हेमचन्द्र ने अनेक देशी धातुओं को विभिन्न-प्रत्यययोजनार्थ धात्वादेश मे स्थान दे कर अपने व्याकरण मे समाविष्ट कर लिया है अतः उनका सकलन देशीनाममाला मे नही है।
२. संस्कृताभिधान ग्रन्थो में प्रसिद्ध नही है अर्थात् प्रकृति प्रत्ययादि विभाग सिद्ध होने पर भी सस्कृतकोशो में स्थान नही मिला है। जैसे—अमृतनिर्गम=चन्द्र, छिन्नोद्भवा=दूर्वा (दूब), महानट=हर।
३. गौण लक्षणा शक्ति से सिद्धि संभव नही है। जैसे बहल्ल=मूर्ख या गंगा=गगातट जैसे शब्दो का संग्रह नही किया गया है।

देशी शब्दो के चयन के आधार पर डा० बूलर ने पाइअ लच्छी की भूमिका मे आलोचना की है कि सभी या प्राय: सभी देशी शब्द संस्कृत से व्युत्पत्तिग्राह्य हैं।[3] इसी तरह श्री रामानुज स्वामी ने देशीनाममाला की भूमिका मे अनेक उदाहरण देकर यह बताया है कि "हेमचन्द्र का देशी न केवल संस्कृताभ शब्दो को अपितु

१. देशीपदान्येव तु मध्यदेश्या। प्रा० क० ३।३।११।
२. त्रिविक्रम ने गोणाद्या. १।३।१०५ में इसी बात को निम्न शब्दो में कहा है—गोणादय: शब्दा: अनुक्तप्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारा बहुल निपात्यन्ते।" ३।४।७२ में "झाडादय:शब्दा देश्या देशविशेषव्यवहारादुपलभ्यमाना: सिद्धा, निष्पन्ना वा वेदितव्या:
३. पाइअलच्छी—बूलर की भूमिका पृ० १४।

संस्कृतेतर भारतीय और विदेशी दोनों शब्दों को आत्मसात् करता है।" संस्कृताभ शब्दो से उनका तात्पर्य उन शब्दो से है जिनमे प्रचलित व्याकरण के नियमो से तो सिद्धि नही होती परन्तु स्पष्टत जिनका मूल सस्कृत दृष्टिगोचर होता है। यदि हेमचन्द्र यष्टि से लट्ठी और अथ से हेट्ठं बना सकते हैं तो अदंसणो, थूलघोणो घूमद्दारं आदि शब्दों के व्युत्पन्न करने मे क्या कठिनाई है ? इस तरह उनकी सम्मति मे वस्तुत: संस्कृत से सर्वथा अव्युत्पन्न देशी शब्दो की सख्या बहुत स्वल्प रह जाती है। उन बचे शब्दो का आधार विभिन्न समयों मे भारत मे प्रवेश करने वाली आर्यधाराओ द्वारा लोक मे समाविष्ट परन्तु साहित्य में अगृहीत शब्द हैं या द्राविड शब्द हैं या हेमचन्द्र के समय में प्रचलित कुछ फारसी अरबी शब्द हैं। इसके साथ आभीर, गुर्जर आदि अनार्य जातियो को भी जोड़ सकते हैं जो अपभ्रंश के प्रचलन से ठीक पूर्व या आसपास भारत में आईं और उन्होंने न केवल जनजीवन को ही प्रभावित किया पर राजसत्ता हाथ मे लेकर शासन भी किया और आर्यो मे ही पूरी तरह घुल मिल गईं। पशुपालन और गोसवर्धन से सम्बद्ध अनेक शब्द इसकी साक्षी हैं।

हेमचन्द्र की देशीनाममाला[1] पर की गई इस तरह की आलोचना महत्त्वपूर्ण नही रह जाती यदि हम देशी शब्दो का अर्थविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करें। हेमचन्द्र के समक्ष शब्दों का अर्थविचार एक प्रबल कारण था जिसका आधार शब्दचयन मे लिया गया है। यदि सस्कृत और प्राकृत में जिन अर्थों में शब्द प्रचलित रहे थे उनसे वे सर्वथा भिन्न हो गये या वे अर्थ उन शब्दो द्वारा कभी सस्कृत और प्राकृत साहित्य में अभिहित ही नही हुए और केवल लोक के किसी स्तर मे चालू रह कर अपभ्रंश मे और उसके साहित्य मे समाविष्ट हो गये तो उन्हें देशी ही समझना चाहिये। स्वय हेमचन्द्र ने अनेक शब्दो मे सस्कृत व्युत्पत्ति की सभावना समझते भी देशी होने का आधार अर्थपरिवर्त्तन ही समझा है। उदाहरणार्थ अवंधु शब्द कूपवाची दिया गया है (१।१८)। हेमचन्द्र लिखते है "अन्धश्चासावन्धुश्चेतिविग्रहे शब्दमवो अवघु शब्द: केवल सोऽन्धकूपवाची। अयतु कूपमात्रवाचीतीह निबद्धः। ये त्वौणादिकमवंधु शब्दमिच्छन्ति तैरपि सस्कृते प्रयोगादर्शनादयं संग्राह्य एव"। कहने का तात्पर्य है यदि अन्ध अन्धु मे कर्मधाराय समास और पररूप तथा अनुस्वार का ध्वनिविकार मानकर अवधु शब्द को पूर्णत तद्भव शब्द स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी उसका अर्थ अन्धा कुआँ (जलरहित कूप) यह विशेष अर्थ ही होगा। अपभ्रंश मे इसका अर्थ सामान्य कूप है, अत इसे देशी शब्द मानना चाहिये। अर्थविस्तार का यह उदाहरण है। यदि वैयाकरण उणादि गण मे अवधु शब्द की सिद्धि कर लेते हैं तो भी इस शब्द का सस्कृत भाषा मे प्रचलन नही अत. देशी शब्द मे ग्रहण करना चाहिये। इसी तरह अपभ्रंश मे पइराहा=विद्युत् है। स्वय हेमचन्द्र लिखते हैं—"अइराहा इति त्वचिरामाशब्दभव." अर्थात् अइहारा<अचिराया वर्णव्यत्यय द्वारा निष्पन्न

१. देशीनाममाला (द्वितीय सस्करण)—श्री पी० वैंकट रामनुज स्वामी की भूमिका पृ० ८।

तद्भव होता है। यह शब्द देशी इसीलिये है कि संस्कृत-कोश में नही और न विद्युत् अर्थ मे सस्कृत भाषा मे प्रयुक्त है। एक और उदाहरण अबोच्ची है। इस शब्द का अर्थ पुष्पलावी (फूल चुनने वाली) है।" आम्राणि उच्चिनोति" इस व्युत्पत्ति मे यह सस्कृताभ शब्द या तद्भव शब्द बड़ी आसानी से बन सकता है फिर भी संस्कृत शब्द नही, क्योकि "फूल चुनने वाली" अर्थ संस्कृत मे नही है। हेमचन्द्र तो इतना सतर्क है कि वे कहते हैं, "यदाम्रपुष्पाण्येवोच्चियनोति तदा न देशी" अर्थात् यदि अंबोच्ची का अर्थ "आम्रपुष्प ही चुनने वाली" यह अर्थ कर लिया जाय तो इसे देशी नही कहना चाहिये। हेमचन्द्र 'संस्कृताभ' से व्याकुल नही होते। वे संस्कृत भाषा मे सामान्य फूल चुनने वाली यह अर्थ-विस्तार नही था अत. इस शब्द को देशी समझा गया। अनेक बार संस्कृत कोश मे किसी शब्द को देखकर भ्रान्ति हो जाती है कि वह सस्कृत शब्द है। यद्यपि वह अन्य भाषा या प्राकृत से आया हुआ होता है। भ्रमर के पर्यायवाची शब्दो मे रोलम्ब दिया हुआ है (दे० ना० ७।२)। हेमचन्द्र टिप्पणी करते है, "रोलंब शब्दं सस्कृतेऽपि केचिद्गतानुगतिकतया प्रयुञ्जते" अर्थात् गतानुगतिक पद्धति पर रोलव शब्द सस्कृत में चला गया है अन्यथा देशी शब्द है। आरणाल शब्द देशी है (दे० ना० ५। ६७) कमल और काजी दोनो अर्थ हैं। हेमचन्द्र कहते हैं, "आरणाल कमलम्। काञ्चिके आरणाल सस्कृतभवम्" का जो अर्थ मे आरणाल तद्भव है और कमल अर्थ मे देशी। अण्णाण देशी शब्द का अर्थ दहेज है पर मूर्खतावाची अण्णाण शब्द अज्ञान का तद्भव है (दे० ना० १।७ पर वृत्ति); एकसी वर्णानुक्रमी होने से दोनों एक प्रतीत होते हैं। अर्थ परिवर्त्तन या नवीन अर्थ-प्रतिपत्ति के आधार पर गृहीत शब्दो के स्रोत मुख्यत निम्न हैं—

१. प्रा० भा० आ० या उससे भी पूर्व भारोपीय भाषा से सम्बद्ध। जैसे—अइरजुवइ =अचिरयुवति=नववधू, अइराणीर = अधिराज्ञी = इन्द्राणी, अक्कदो = आक्रन्द = परित्राता, अगुज्झहरो= अगुह्यधर =रहस्यभेदी, अणुसूया=अनुसूता=आसन्नप्रसवा, उच्छुअरण=इक्षुअरण्यम्=इक्षुवाटिका इत्यादि[1]

इस तरह के शब्द हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट दूसरी कोटि (संस्कृताभिधान मे अप्रसिद्ध) मे समझना चाहिए। हेमचन्द्र ने वस्तुत जिन शब्दो को तद्भव समझा है और संस्कृत सम्मत अर्थयुक्त देखा है उन्हे दूसरे कोशकारो द्वारा देशी मे परिगणित

---

१. डा० रामानुजन् ने कुछ शब्दों का सस्कृत आधार देशीनाममाला के अन्त में लगासरी (शब्दकोश) में दिया है; कहीं कहीं तो इस प्रक्रिया के आवेश में वे ऐसे सस्कृत शब्द दे गये हैं जो असम्बद्ध हैं; जैसे—उजड का अर्थ उजडा है, इसका स० तद्भव उज्ज्वल दिया गया है; अगओ का अर्थ दानव है इसका सं० तद्भव असुर. दिया गया है, अगहणो का अर्थ कापालिक है, इसका स० तद्भव अगाधन (?) दिया है, अच्छा था अग्रहण' ही देते, कापालिक को कौन ग्रहण करना चाहता है। केवल ध्वनिसाम्य पर शब्दों की व्युत्पत्ति कभी बडी भ्रामक होती है। त्रिविक्रम ने १।४।१२१ में "निर्वचनगोचर" १२२ शब्दों को निपातित किया है। उदाहरणार्थ वइरोड—जार, पतिं रोटयति ईर्ष्यति अविणअवइ=अविनयपति; अणडो=अनृत', भुअराओ=भ्रमर, भुवराग. इत्यादि।

होने पर भी तद्भव कह कर अलग कर दिया है जैसे अक्का—तत्सम, अज्जा(आर्या) अडो (अवट), उक्केरो—उत्कर आदि ।[1]

२. द्राविड भाषा-ऊरो=नगर (द्रा० ऊरु), चिक्का=स्वल्प (कन्नड) रट्टी=प्रधान (ता० रेड्डी), तलार = नगररक्षक (तेलगू तलारि) छाणी=गोमय (तामिल-चाणी), छिल्ल=छिद्र (तेलगु-चिल्लि), दारो=रज्जु तेल० दारयु) पसंडि=स्वर्ण—(तेल० पसिण्डी), पडुजुवइ=युवती (तेल० पड्डचु) सस्कृत पट्टयुवति का आभास भी है, पोट्टं=उदर (तेल० पोट्ट) हिंदी मे पेट है, पुल्ली=व्याघ्र (द्रा० पुलि), भावो=ज्येष्ठ-भगिनी-पति (तेल० बाव), भट्टो=केशरहित या शृंगरहित (तामि० मोट्टइ), मम्मी=मामी (तामि० अम्-मामी) माडिअं=गृह (कन्नड-माडी, तामिल-माडम्), वग=बैंगन(तेल० वग), वड्डो महान् (तेल० ओड्डु) हिन्दी वड़ा, पावो=सर्प (कन्न० पावु, तेल० पामु, तामि० पाम्बु), सूला=वेश्या (कन्न० सूले), अक्का=भगिनी (द्रा० अक्क), पिल्लू=छोटा पक्षी (तेल० पिल्ल) इत्यादि ।[2]

इस तरह के शब्दो को देखकर भरत की द्राविडी या वैयाकरणो की दाक्षिणात्य भाषा समझ मे आ सकती है। रा० तर्कवागीश ने दाक्षिणात्य भाषा का लक्षण ही यही दिया है कि जो दाक्षिणात्य पद-सवलित हो ।[3]

३. द्रविडेतर महाराष्ट्र विदर्भादि देश प्रसिद्ध[4] आहित्य चलित; कुपित; लल्लक्क -भयंकर, विड्डिर -विस्तार, रौद्र; पच्चडिम्र (पच्चेड) -मुसल, उप्पेहड -उद्‌भट, मडप्फर -गर्व, पड्डिच्छिर (पडिच्छिआ) -प्रतीहारी, अट्टमट -(अट्टटो) -गया,विहडप्फड -दे०ना० मे अप्राप्त, उज्जल -बली,हल्लप्फल -शीघ्र

---

१. देखिये देशीनाममाला—श्री रामानुजस्वामी का परिशिष्ट -१.

२. शब्दचयन का आधार 'The Dravidian Element in Prakrit' by K. Amrit Rao in Indian Antiquary Vol. 46. तथा देशीनाममाला की रामानुज स्वामी की अंग्रेजी भूमिका और उनका "ग्लासरी" है।

३. दाक्षिणात्यपदसम्मिलित यत् संस्कृतादिभिरपि छुरितंच। स्वाहु—सारयन्तनादपि काव्यं दाक्षिणात्यमिति सत्कथयन्ति । प्रा० क० २।२।३२ (Indian Antiquary)

४. गोपादिगण (हेम० ८।२।१७४) से शब्द लिये गये हैं और अर्थ देशीनाममाला से। स्वयं हेमचन्द्र ने शब्द संग्रह के अन्त में लिखा है—महाराष्ट्रविदर्भादिदेश प्रसिद्धालोकतोऽवगन्तव्याः। ये शब्द उनके समय में प्रचलित थे ऐसा प्रतीत होता है। इनमें से मडप्फर आदि शब्द काव्य में भी प्रयुक्त है। आपाततः दे० ना० १।४ कारिका से उपर्युक्त कथन का विरोध प्रतीत होता है। उस कारिका और वृत्ति में बताया गया है कि महाराष्ट्र विदर्भ, आभीर आदि देशों में प्रसिद्ध अनेक शब्द हैं जैसे मगा, निक्कूला आदि। यदि उनको कहने लगें तो देश विशेषों के अनन्त होने से पुरुष की पूरी आयु भर में भी उनका संग्रह समव नहीं। अत अनादिप्रवृत्त प्राकृत भाषा विशेष ही देशी शब्द से कहा जा रहा है। वस्तुतः उनका अभिप्राय है कि सर्वथा सीमित क्षेत्र में प्रयुक्त स्थानीय शब्दों का संग्रह न कर व्यापक देश और काल में प्रचलित शब्दों का संग्रह किया जा रहा है। त्रिविक्रम ने गोपादि में १०८ शब्द दिये हैं जो प्राकृत और तदनुवर्ती अपभ्रंश में प्रयुक्त होते रहे हैं।

हेमचन्द्र ने इस तरह के शब्दों का आधार स्पष्टतः लोक लिखा है (लोकतोऽवगन्तव्याः) । कोश के अन्य अव्युत्पन्न शब्दो को इसी वर्ग में रखना पड़ेगा। अपभ्रंश साहित्य मे प्रयुक्त देशी शब्दो के उदाहरण वर्णशिक्षा प्रकरण मे प्रत्येक व्यंजन के परिचय मे दिये गये हैं। उनमे से अनेक शब्द देशीनाममाला मे हैं। भविसयत्त कहा से कुछ उदाहरण -सवडम्मुह=अभिमुख (दे० ७।८।२९) सवट्टउ=सर्वत. पाइअ ल० १२।१२।७, सालणय=सालन, सीसइ=कथयति (हेम० ४।२) हल्लिय=चलित (दे० ८।६२) सारवइ=समारचयति (हेम० ४।९५) समाणइ=भुङ्क्ते (हेम० ४।११०) सइत्त=मुदित (दे० ८।५), विग्गुत=व्याकुलीकृत (दे० ७।६४) इत्यादि। गुलिय (प० च०(स्तवक (दे० २।१०३) भेन्दुय=(प० च०) कन्दुक (दे० ३।५९) हिणेणल=गृह (दे० ४।५१) पइरिक्क=विशाल (दे० ६।७१)। सं० रा० मे आरद्द=जुलाहा, गहिल्ली=पागल, पिहुण=मयूरपिच्छ, चल्ल=कटिवस्त्र, इक्कण=चोर (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने २।६५ में इक्कणि लेह उवेसियउ पाठ स्वीकृत करके सुन्दर अर्थ 'गोपनीय लेख मे उपदेशित हो कर' किया है)। यद्यपि हेमचन्द्र ने देशी धातुओ को व्याकरण मे ही धात्वादेश कह कर पढ़ दिया है परन्तु उन्हें इसी स्रोत का समझना चाहिये। धातु का क्षेत्र ऐसा अवश्य है जिसमे कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र या दामोदर द्वारा पठित धातुओ का बहुलांश आ० भा० आ० में प्रयुक्त हो रहा है। श्रीरामानुजस्वामी ने इस तरह की धातुओ का संग्रह देशीनाममाला के अन्त मे दूसरे परिशिष्ट मे कर दिया है। यहाँ कुछ उक्ति-व्यक्ति से धातु संग्रह दिया जाता है—चड (चढना), खस (सिखकना), घाट (घटना), खीज (खीजना), रेंग (रेंगना), उपड (उपटना, उखड़ना), खोड (खोदना), रहइ (रहता है), चौंक (चौंकता है), घूंम (घूमना) सोअ (सोता है) तूट (टूटना), ढाक (ढांकना), पेल (पेलना) मांज (मांजना) इत्यादि।[1]

४. विदेशी शब्द[2]

१. अंगुत्थलं=अंगुलीयकम्=अंगूठी, फारसी—अंगुश्तरी, पहलवी—अंगुस्त, जन्द—अंगुस्त (स्त का वर्णविकार त्थ है जैसे हस्त>हत्थ) सं० छाया अगुष्ठ।

२. दत्थरो=हस्तशाटक.=रूमाल, फा० दस्तार (जैसे प्रस्ताव>पत्थव)

---

१. उक्तिव्यक्ति प्रकरण—लोकोक्तिप्रकरण पृ० ३३ से ५२। दामोदर ने वर्तमानकाल के प्र० पु० ए० व० के ये सब रूप दिये हैं। धातुक्षेत्र में प्रा० भा० आ० के तद्भव रूपों का अद्भुत संग्रह है। यदि हिन्दी करना और होना के साथ संस्कृत भाववाचक संज्ञाओं के योग से क्रिया बनाने की पद्धति का अधिक अवलंबन न लेकर उ० व्य० की पद्धति का अनुकरण करती तो धातु-सम्पत्ति में अधिक समृद्ध होती।

२. १ से ६ तक विदेशी शब्द के उदाहरणों का आधार Indian Antiquary, Vol. 46 K. Amrit Rao का लेख "The Dravidian Element in Prakrit

३. बंधो=भृत्य=नौकर, फारसी बन्दह् पह० बन्दक् प्रा०फा० बन्दक संस्कृत छाया बन्धक—

४. परक्क=अल्प स्रोत =छोटी नदी, फारसी-परक एक नदी का नाम है। व्यक्तिवाचक सज्ञा जातिवाचक सज्ञार्थं प्रयुक्त होती है जैसे संस्कृत गाण्डीव (अर्जुन का धनुष) फारसी मे गण्डीव सामान्य धनुषवाची है। गगा शब्द नदीवाची रहा है।

५. वोक्कडो=छाग=बकरा, फारसी के माध्यम से प्राप्त मूल अरबी शब्द बकर=बैल, हिब्रू मे बकर=पशु (ओकार उसी तरह है जैसे पाम्म<पद्म, र, ड मे परिवर्तित हो जाता है।) स० छाया वोक्कर

६. जयणं=हयसवाह=जीन, फारसी जीन पह० जीन, जन्द जइनि संस्कृत छाया जयनम्।

७. कराली=दन्तपवनकाष्ठम्=दतखोदनी, अरबी (खिलाल)।[1] (वर्णव्यत्यय और ख का क उच्चारण) स्मिथ ने अपने इतिहास मे बताया है कि पह्लव दूसरी शताब्दी मे भारत के पश्चिमी भाग मे विजेता बन कर फारस मे आ गये थे। ६४१ ई० में फारसी वश के समाप्त हो जाने पर जरथुस्त्र के उपासक भारत मे आ बसे जो पारसी कहलाते हैं।

७११ ई० में मुहम्मद कासिम सिन्ध का शासक हो गया और उसके उत्तराधिकारी, जब तक राजपूतो ने उन्हें उखाड़ नही दिया, शासन करते रहे। महमूद गजनवी के एक वजीर ने व्यापार कार्यार्थं फारसी लिपि प्रचलित की और उसके सहारे व्यापारिक फारसी शब्द भी चल पडे। अतः हेमचन्द्र के कोश मे कुछ फारसी अरबी शब्दो का आ जाना आश्चर्य का विषय नही है। विद्यापति के समय तक तो मुसलमानो का राज्य ही हो गया था और कीर्त्तिलता के नायक कीर्त्तिसिंह इब्राहीमशाह के दरबार मे सहायता लेने के लिए गये थे। फारसी अरबी शब्द उच्चारण विधि के अनुकूल तोड़ मरोड़ कर प्रयुक्त हुए हैं।

उदाहरणार्थ—सुरतान, पातिसाह, कम्माम, मीर, सैल्लार (सलार), दरिगाह, बखत, फऊद (फौज), सिकार, महल, ससीद, हुकुम, बंदा,

---

१. "An Arabic word quoted by Hemchandra" a note by G. Grierson in J. R A. S (1919) Page 235) उनका कथन है कि द्रविड़ भाषा और संस्कृत में एतदर्थ कोई शब्द नहीं। अरब और भारत के व्यापार सम्बन्ध प्रबल थे और व्यापारियों द्वारा यह खिलाल शब्द आया होगा। यह शब्द अब भी उत्तरी भारत में प्रचलित है।

तवेला, गुलामो, सलामो, फरमान, निमाजगाह आदि लगभग १०५ शब्द प्रयुक्त हैं।[1] कीर्तिपताका में मखदूम जैसे भी कुछ शब्द प्रयुक्त हैं।[2] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हेमचन्द्र में प्रयुक्त जुअजुआ का मूल जुदा जुदा और निलनाट का मूल दिल्दार संभावना का विषय बताया है।

(४) अर्थ परिवर्तन

१. अर्थसंकोच—किसी भी विकासशील भाषा में विचारो की वृद्धि और नवीन पदार्थों के आविर्भाव के साथ विशेषीकरण की प्रवृत्ति बढने लगती है। इस विशेषीकरण के परिणामवश शब्द के अर्थ में व्यापकता के स्थान पर सकोच की ओर झुकाव होता है। एक ही *शब्द के विभिन्न रूप विभिन्न पदार्थों को बोधित करने लगते हैं।* उदाहरणार्थ सस्कृत का चक्र व्यापक शब्द है, कोई भी गोलाकार वस्तु इसके परिवेश मे आ पडती है चाहे वह सुदर्शन चक्र हो, रथचक्र हो, प्रस्तरचक्र हो। म० भा० आ० और आ० भा० आ० मे उससे विकसित चक्क=रथ का चक्का, चाक=कुम्हार का चक्क, चक्की=पीसने की चक्की, चक्कल=चकला; चरखा, चक्कर, चरख, चरखा, चर्खा आदि संकुचित अर्थों मे हैं बोक्कडो=बकरा, मूल बकर हिब्र शब्द का अर्थ पशु है। पोओ=लघुसर्प (पोआ, सांप का बच्चा), मूल सस्कृत पोत शब्द किसी भी प्राणी के छोटे बच्चे का अर्थ देता है। कन्नड मे पोतु सूअर के बच्चे को कहते हैं, पर तेलगु मे पोतु किसी भी प्राणी के बच्चे को कहते है।

पिल्ह—लघुपक्षी, तेलगु मूल पिल्ल=छोटा प्राणी। हिंदी का पिल्ला, पिल्लू इसी के रूप हैं।

अइरि (दो० को०)—पाशुपत आचार्य, मूल आचार्य सामान्य शब्द है। धार्मिक भावना के कारण संकोच।

अज्जो—महावीर (दे० ना० १।५) मूल अर्थ=स्वामी (अर्य: स्वामिवैश्ययोः। पा०) अरहतु (भ० क०)—बौद्ध या जैन आचार्य, मूल अर्थात् योग्यार्थक है।

महंतय (प० च०)—मन्त्री, (हिन्दी मे मठाधीश) मूल महान् है।

---

१. विस्तारार्थ देखिये कीर्त्तिलता (द्वितीय सस्करण)—डा० बाबूराम सक्सेना की भूमिका—पृ० २५-२६।

२. अधिक परिचयार्थ देखिये 'चम्पा' (The Journal of Post-Graduate Deptt, Bhagalpur University १९६२ अंक १ में "कविराज विद्यापति का अपभ्रंश पाण्डित्य"—प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव। परिशिष्ट—४।

गज्जणसद्दो—मृगवारणध्वनि, मूलसंस्कृत गर्जन शब्द व्यापक है।

चउक्क—चत्वरे (चबूतरा)—हेम० ३।२ चतुष्पथ (चौक)—त्रिविक्रम; मूलसंस्कृत चतुष्क शब्द चार का समूह अर्थ देता है। हिन्दी चौक, चौका, चौकी आदि विभिन्न अर्थ रखते हैं।

गुव्हार (प० च०)—गर्भिणी, मूलशब्द गुरुभारा, किसी भी भारी भार धारण करने वाली को बताता है।

चउरंग (प० च०)—शतरंज, मूलसंस्कृत चतुरंग।

तिसत्ति (प० च०)—एक प्रकार का शस्त्र, मूल त्रिशक्ति।

पेसणभारी (प० च०)=दासी, मूलशब्द प्रेषणकारी।

साहण (प० च०)=सेना, मूलशब्द साधन।

सुवण्ण (प० च०)=सुवर्णमुद्रा, मूलशब्द सुवर्ण, कार्य कारणभाव में कारण कार्य के लिए प्रयुक्त।

सुमइ (णा० च०)—पंचमी तीर्थंङ्कर, मूलशब्द सुमति। सामान्यवाची शब्द नामकरण द्वारा व्यक्तिवाचक बन जाते हैं। णेमि, अर, जसमइ, जसबंधुर आदि इसी तरह के ज० च० मे नाम हैं। इसी तरह ईसाण स्वर्ग का नाम है।

वल्लह (ज० च०)—कृष्णराज द्वितीय (टिप्पण), राष्ट्रकूट नरेशो की उपाधि, मूलशब्द वल्लभ=प्रिय। जैसे अशोक ने प्रियदर्शी शब्द अपनाया उसी तरह राष्ट्रकूटवंश वालो ने वल्लभ>वल्लह शब्द उपाधि रूप मे अपनाया। वह और सीमित होकर केवल एक राजा का नाम हो गया।

मुहरत्त (ज० च०)—तोता, मूलशब्द मुखरक्त।

सिंगग्ग (ज० च०)—नरकपाल, मूलशब्द शृंगाग्र। शृंग शब्द व्यापक होकर शिखर अर्थ देता है। मनुष्य के शिखर का अग्रभाग कपाल सीमित अर्थ हो गया।

रयणायर (ज० च०)—समुद्र, मूलशब्द रत्नाकर।

मीणधर (ज० च०)—धीवर, मूलशब्द मीनधर।

जंगल (ज० च०)—मांस, मूलशब्द जंगल, उसमे शिकार से प्राप्त मांस भी जंगल कहा गया। जैसे आजकल बोलचाल मे शिकार खाओगे=मांस खाओगे।

जलवइ (ज० च०)—मकर, मूलशब्द जलपति।

हरिआली (दे० ना० ८।६४)—दूब, मूलशब्द हरिताली=हरे रंग की वस्तुओ की पंक्ति।

(२) अर्थविस्तार—भाषा मे अर्थसंकोच की अपेक्षा अर्थविस्तार की कमी होती है।
फिर भी विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त शब्द कभी-कभी सामान्य अर्थ देने लगते
हैं उदाहरण—
परक्क—छोटी नदी (दे० ६।८), मूल फारसी शब्द परक=एक नदी का
नाम।
गडीवं=धनुष (दे० २८४), मूलसस्कृत शब्द गाडीव=अर्जुन का
धनुष।
गोड=कानन (दे० २।६४), मूल गोड देश का जगल, तेलगू मे कोन्ड।
जुवाण (प० च०)=जवान पुरुष या स्त्री, मूल स० युवा शब्द पुरुषवाची
है। अपभ्रंश के अनेक विशेषण इसी तरह व्यापक होकर पुंल्लिग और
स्त्रीलिंग का भेद नही रखते।
गवेस (प० च०)=अन्वेषण, मूलसस्कृत गवेषणा का अर्थ गाय खोजना
है। गवेसय<गवेषक भी इसी तरह अन्वेषणकर्ता है।
√पिशुन (हेम०)=बोलना, मूलशब्द पिशुन=सूचक चुगलखोर पिशुन=
कुटिल स० रा० चुगलखोरी करने से या कुटिल भाषण से सामान्य अर्थ
बोलना।
पोक्खरिणी (प० च०)=तालाव, मूलशब्द पुष्करिणी अर्थात् पुष्कर
(कमल) से युक्त। अब पोक्खरिणी या पोखर किसी भी तालाब को कहा
जा सकता है, चाहे कमल हो या न हो।
मिग (ज० च०)=जानवर, मूलशब्द मृग पहले सिंह के लिए वैदिक भाषा
मे प्रचलित "मृगो न भीम. कुचरो गिरिष्ठा."। लौकिक भाषा मे अर्थ-
विस्तार से सभी पशुओ के लिए प्रयुक्त यथा "मृगाणा च मृगेन्द्रोऽहम्
(गीता)"। परन्तु सकुचित अर्थ मे "हरिण" अर्थ हो गया जैसे "काककूर्म-
मृगाखुवत्" पचतन्त्र मे। पुन. अर्थ विस्तार से "मिग" का अर्थ जानवर और
"मिगवइ" का अर्थ सिंह है।

(३) अर्थान्तरण—शब्द के एक अर्थ से दूसरे अर्थ मे परिवर्त्तित होने मे मनो-
वैज्ञानिक ससर्ग या साहचर्य बहुत बडा कारण होता है। गौणी लक्षणा भी
इसमे अपना हाथ रखती है। पहले शब्द का सादृश्यमूलक अर्थ रहता है
पर बाद मे सादृश्य का बोध समाप्त होकर दूसरा अर्थ ही अभिधेयार्थ बन
जाता है। अलकार की दृष्टि से पहले उपमा होती है जिसमे प्रस्तुत अप्रस्तुत
का भेद है, फिर रूपक जिसमे दोनो के पृथक् रहते हुए भी अभेदज्ञान बना
है और तब रूपकातिशयोक्ति जिसमे साध्यवसाना लक्षणा से अप्रस्तुत प्रस्तुत
को निगीर्ण कर लेता है। ज्ञानी हस की तरह नीर क्षीर विवेकी है उपमा,
ज्ञानी हस है रूपक, हस को देखिये रूपकातिशयोक्ति और धीरे-धीरे हस शब्द
प्रतीकात्मकता छोड़ कर ज्ञानी महात्मा का वाची बन जाता है, हम कहते हैं

परमहंसजी आ रहे है। कुशल कुश लाने वाला था, कुश चुनने की दक्षता से कुशल लाक्षणिक बनकर चतुर अर्थ देने लगा और कालान्तर मे कुशल का अभिधेयार्थ ही चतुर हो गया।

अर्थान्तरण मे अर्थ कही जा सकता है; कभी-कभी तो ससर्ग की या गुण-सादृश्य की बड़ी क्षीण रेखा प्रयत्न से मिलती है। उदाहरण—

गह=पिशाच (म० पु०), दुष्ट प्रेत की पकड (प० च०), मूलशब्द ग्रह=ग्रह या ग्रहण। ग्रहका अर्थसकोच से बुरा ग्रह अर्थ। अर्थान्तरण से पिशाच।

गहकल्लोल (प० च०)=राहु, कल्लोल=वैरी (दे० ना० २।२), मूलशब्द ग्रहवैरी।

गहण (प० च०)=भाग्य, मूलशब्द ग्रहण=पकडना या गहन=सघन

जक्खकद्दम (प० च०)=सुगन्धित लेप, मूलशब्द यक्षकर्दम।

जगकण्टय (प० च०)=जगत्पीडक, मूलशब्द जगत्कण्टक, गौणी लक्षणा और अलकार का परिणाम अर्थान्तरण।

जमकरण (म० पु०)=मरण या रोग, मूलशब्द यमकरण।

जलवास (प० च०) २।१७।३)=पुष्पांजलि (टिप्पण), संसर्ग दूरारूढ़।

जोइगण (प० च०) खद्योत। (स० रा०) तारा, (दे० ना० ३।५०) इन्द्रगोप (बीरबहूटी); मूलसस्कृत शब्द "ज्योतिस्+इङ्गण"।

तुप्प (प० च०)=घृत (मराठी मे तूप का अर्थ घी ही है), मूलशब्द तुप्पो (दे० ना० ५।२२)=कुतुप, स्निग्ध द्रव्य तेल आदि रखने का चमड़े का पात्र, कुप्पा, द्राविड भाषा का आधार शब्द तुप्प। क्योकि कुप्पे मे रखकर व्यापारी घी लाते थे अत. धार्यधारक भाव से घी का वाचक तुप्प हो गया। दे० ना० मे तुप्पका एक और अर्थ सरसो भी दिया है। तुप्प=सरसो=सरसो से निकला तेल=स्निग्ध द्रव्य=अर्थसकोच से घी। णा० च० मे वसा तुप्प गिल=वसाघृतभक्षक और म० पु० मयतिप्पबिंदु=मदघृतबिन्दु प्रयोग है।

तलवर (प० च०)=नगररक्षक (दे० ना० ५।३ मे तलार), द्राविड तलेयारि, तलवार से बचाने के कारण तलवर।

सिवालय (प० च०)=निर्वाण, मूलशब्द शिवालय का अर्थ कैलास है; शिवोपासक का मरणानन्तर लक्ष्य कैलासधाम की प्राप्ति है अत. शिवालय उसके लिए मोक्ष हुआ। जन शिवोपासक नही। फिर भी शिवालय का अर्थान्तरण से सामान्य अर्थ मोक्ष और निर्वाण हो गया। यो प्रत्येक संप्रदाय के विश्वासानुसार मृत्यु के लिए गोलोकवास, विष्णुधाम की प्राप्ति, स्वर्गवास, गगालाभ सिवनयर (म० क०) २८।९।३=निर्वाण आदि शब्द अर्थान्तरण से प्रचलित ही हैं। इसी तरह का शब्द पचमगइ=मोक्ष, मूलशब्द पचमगति।

रयणत्त (ज० च०)=रत्नत्रय, जैन आगम के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चरित्र। महार्घता और दुष्प्राप्यता गुण के सादृश्य के आधार पर अर्थान्तरण। इस तरह के पारिभाषिक और शास्त्रीय शब्दों का निर्माण होता रहता है।
तिगुत्ति (ज० च०)=त्रिगुप्ति (काय -वाङ् -मनोगुप्ति) जैनियों का पारिभाषिक प्रयोग।
कउल (ज० च०)—कापालिक, मूलशब्द कौल=कुलसंबन्धी। तान्त्रिक कुल धर्म से संबद्ध आचार्य कोल कहा जाने लगा।
केवल (ज० च०)=तत्त्व ज्ञान, ब्रह्म या चरमसत्ता के केवल (शुद्ध) स्वरूप को अर्थसंकोच से दार्शनिक भाषा में केवल कहा जाता है। उस केवल स्वरूप को बताने वाले ज्ञान को भी केवल (केवला विद्या) प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबन्ध से कहा जाता है। यही व्यापक अर्थ तत्व-ज्ञान का वाचक हो जाता है।
हिंधु (हिंदु-प्रा० पुं०, की० ल०)=हिंदू, मूलशब्द सिन्धु समुद्र और नदी-वाची, सीमित अर्थ में विशेष नदी का नाम सिन्धु। उसके आधार पर सिंधु देश का नाम। उत्तर पश्चिमी सीमा से आने वाले बाह्य आक्रान्ताओं ने इस देश और उसके निवासियों को हिन्द और हिन्दु कहा। जनता ने वह शब्द स्वीकार किया और अपभ्रंश में प्रयुक्त हुआ।
कंड (ज० च०)—बाण, धनुर्दण्ड, मूलशब्द काण्ड। काण्ड से निर्मित को भी काण्ड कहा गया, इस तरह कण्डे से बना बाण कंड और फिर तत्संबन्ध से धनुर्दण्ड भी कंड कहा गया।
हरिचंदण (दे० ना० ८।६५)=कुंकुम, केसर, मूलशब्द हरिचन्दन का अर्थ हरा चन्दन था।
सुगंध के साम्य से सुगन्धित केसर में इस शब्द का अर्थान्तरण हो गया
कव्वपिसल्लु (म० पु० १।८।८ तथा अन्यत्र भी)=काव्य पिशाच, काव्य-राक्षस अर्थात् महाकाव्यकार। पुष्पदन्त ने जहाँ अभिमानमेरु, काव्य रत्नाकर, कविकुलतिलक आदि अपनी उपाधियाँ दी हैं वहाँ अपने को "कव्वपिसल" भी कहा है। नाथूराम प्रेमी ने इस संबन्ध में लिखा है "यह पिछली पदवी बड़ी अद्भुत सी है, परन्तु इसका उन्होंने (पुष्पदन्त ने) स्वयं ही प्रयोग किया (शायद अपनी महती कविताशक्ति के कारण ही यह पद उन्होंने पसन्द किया है।"[१] पिशाच की महत्ता और दुर्दमता से तुलना करने पर भी प्रयोग विचारणीय ही है। प्राकृत में पिसल्ल का पिशाच अर्थ भी ठीक है। यदि कव्वपिसल्ल को काव्यपेशल समझा जाय तो ध्वनि अच्छी हो जाती है। पेशल से पिसल्ल बनने में ध्वनिशास्त्रीय कोई रुकावट नहीं।

१. अनेकान्त वर्ष ४,

सिंधव (म० क०)=घोड़ा, नमक। मूलशब्द सैन्धव का अर्थ है सिन्धु में या से उत्पन्न। सिंधु (समुद्र) से केवल नमक ही नहीं उत्पन्न होता और सिंधु देश मे केवल घोडे ही नहीं होते, परन्तु उनकी विशेषता से उस अर्थ में यह शब्द सीमित हो गया। आ० भा० आ० हिन्दी मे "सेंधा" सर्वथा समुद्री नमक के अर्थ मे ही विशेषीकृत हो गया है। सेट्ठि (म० क०)—सेठ, मूलसंस्कृत शब्द श्रेष्ठी अर्थ श्रेष्ठयुक्त है। दे० ना० (८।४२) में इसका अर्थ ग्रामश है जो द्राविड भाषा का चेट्टि है, कन्नड में भी चेट्टि है। अंधार (दो० को०)=अज्ञान, मूलशब्द अन्धकार, रूपक इत्यादि की प्रक्रिया के अन्त मे अज्ञान अर्थ।

(५) मुहावरे और लोकोक्ति

शब्द साक्षात् अर्थ को बोधन करने के लिए ही सर्वप्रथम और प्रधानत प्रयुक्त होते हैं। वस्तुस्थिति को यथार्थत. अङ्कित करने के लिए उसीकी आवश्यकता है। विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र मे शब्दों की अभिधाशक्ति ही अपेक्षित है। परन्तु बात को घुमा फिराकर कहने की प्रवृत्ति जनता के अन्दर ही उत्पन्न हो जाती है। वहीं मुहावरो और कहावतों का जन्म होता है। इस वाग्वैदग्ध को, लाक्षणिक प्रयोगो को और व्यंग्यार्थों को काव्य अपनाता है तथा उन्हें और रमणीय बना देता है। बिना लोकाश्रय के लोकोक्तियो का कोई स्थान नहीं। उक्तिव्यक्ति ने लोकोक्ति शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ लिया है और उसी आधार पर "लोगो मे बोली जाने वाली बोली" के नमूने दिये जो मुद्रित पुस्तक मे पृ० ३३ से पृ० ५२ तक है। उसके बाद पांडुलिपि के पन्ने नष्ट हो गये और अप्राप्त रहे अत. पुस्तक अपूर्ण है। उन लोकोक्तियो में जीती-जागती बोलचाल की भाषा है। एक ही बात को कैसे कई तरह से कहा जायगा इसका उदाहरण है—

जस जस धर्मु बाढ, तस तस पापु घाट
जब जब धर्मु बाढ, तब तब पापु ओहट—
जैसें जैसें धर्मु जाय, तैसें तैसें पापु खाय (क्षयति)
जेइ जेइ धर्मु पसर, तेइ तेइ पापु ओसर (अपसरति)
यैहा यैहा धर्मु चड, तैहा तैहा पापु खस (खिसकता है)
जाहां जाहा धर्मु नांद (नन्दति), ताहा ताहा पापु मन्द (मन्दते)
जा किह धर्मु कीज,(क्रियते) ता किह पापु खीज (क्षीयते)
जातो (यत) धर्मु पाविअ, तातो (ततः) पापु खामिअ
जाकर (यस्य) धर्मु उसस, ताकर पापु ओहस (अवहसति)

इसके बाद उक्तिव्यक्तिकार कहते हैं 'इसी तरह और भी कर्मको मे लोकोक्ति प्रकार का क्रियाकारकानुसार प्रयोग कर लेना चाहिये।' इन्ही उक्तिप्रकारो मे से अपनी व्यंजनाशक्ति के सहारे जो कोई लोगो के मन मे रम जाता है

वह सबकी जबानो पर आ बैठता है और स्थायी लोकोक्ति का रूप ले लेता है। वह अब अपने मे एक अर्थविशिष्टता अर्जित कर लेता है। धर्माचरण से पापक्षय की वार्त्ता का जहाँ प्रसङ्ग आयगा वहाँ बात को समाप्त करते-करते वक्ता "जाहां जाहां धर्मु मांद, ताहां ताहां पापु माद" कह बैठेगा। इस प्रकार की लोकोक्तियों को जब कवि और चमत्कारपूर्ण कर देते हैं तब उन्हें लोकोक्ति और छेकोक्ति अलंकार कहा जाने लगता है। अर्थपरिवर्त्तन मे जो कुछ एक शब्द के विषय मे कहा गया था वही इस विशिष्ट शब्दसमुदाय अर्थात् मुहावरो और लोकोक्तियो में घटित होता है। यह कथन कि संस्कृत या प्राकृत में इनका अभाव है सर्वथा असंगत है। कालिदास के नाटकों में इनका अच्छा प्रयोग है।[1] प्राकृत के ग्रन्थ कर्पूरमंजरी मे तो इतना अधिक प्रयोग है कि ये काव्य भाषा के अनादिपूर्ण अंग लगने लगते हैं।[2] अपभ्रंश तो इनकी उत्तराधिकारिणी थी ही, इसके अतिरिक्त जनता से उसने नवीन जीवन भी लिया अत. उसमे मुहावरो और लोकोक्तियो के चुभते प्रयोग मिलेंगे ही।

उदाहरण निम्नलिखित हैं—

मणु पंथि धरू (सं० रा० १०२)=मन को रास्ते पर लाओ, धैर्य धारण करो।

कहउ संगहवि हत्थ (सं० रा०)=हाथ जोड़ कर कहता हूँ, मना करता हूँ।

पडिमडहं भंगुरावत्तु दिन्नु (म० क०)=(प्रतभटानां भगुरावर्त्त दत्तः) विरोधी योद्धाओं को भंगुरावर्त्त दिया=खदेड दिया।

हत्थावार (दे० ८।६०)=हाथ का सहारा देना=सहायता देना।

हल्लुत्ताल (म० क०)=हिलोरो से उत्ताल=क्षुब्ध

---

१. अत्थि लोअप्पवादो आआमि सुहं दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदि गत्तं।
चन्दयां क्खु मए पादुओवओएण दूसिदं।
चन्नरम्भट्ठो गिहकवोदो विडालिआए आलोए पडिदो।
दद्दुरा वाहरन्ति त्ति किं देवो पुहवीए वरिसिदुं विरमदि।
कुम्भीलएहिं कामुएहिं च परिहरणीआ क्खु चन्दिआ।
कम्मगहीदेण वि कुम्भीलएण संधिच्छेदे सिक्खिदोम्हि त्ति वत्तव्वं होदि (मालविकाग्निमित्र)

२. अहमेक्को कालक्खरिओ=मैं एक काला अक्षर भैंस बराबर हूँ!
हत्थकंकणं किं दप्पणेण पेक्खीअदि=हाथ कंगन को आरसी क्या?
तुरगस्स सिग्घत्तणे कि सक्खिणो पुच्छीअंति=(ऊपर का ही भाव) घोड़े की तेजी के बारे में क्या साक्षी पूछा जाता है।
ण कत्थूरिआ कुग्गामे वधे वा विक्कीणअदि=रे गन्धी! मति अन्ध तू अतर दिखावत काहि?
ण सुवण्णं कसवट्टिअं विणा सिलापट्टए कसीअदि=सोना कसौटी पर कसा जाता है। त तुमं लहसु, ज फग्गुणसमए सोहञ्जणो लहदि, ज पायराहितो वइल्लो लहदि अर्थात् लात खाओ। (कर्पूर मंजरी प्रथम जवनिका)

सुहत्य—बढ़िया हाथ वाला=दानशील
काण्ण समाइग्र अम्भिरस (की० ल०)=कानों में अमृतरस समानाश्रवण से आनन्द।
उइय चदि कि तारियहं (प० सि० च०) चन्द्र के उदय हो जाने पर तारों से क्या ?
जं जसु भणिट्ठु तं तासु लग्गु (प० सि० च०)=} जो जाही को भावता
जं जसु रुच्चिइ तं तसु (मल्लइ सुदेण च०) =} सो ताही के पास
ओसहु निरु मिट्ठं विज्जुवइट्ठु अहुजण कासुन होई पिउ (प० सि० च०)= अतिशय मधुर वैद्यनिर्दिष्ट औषध किसे प्रिय नहीं ?
करे ककणु कि आदि से दीसइ (सु० च०)=हाथ कंगन को आरसी क्या ?
एक्कें-हत्थें ताल कि वज्जइ (सु० च०)=एक हाथ से ताली नहीं बजती।
किं मरेवि पचमु गाइज्जइ (सु० च०)=क्या मरण पर पंचम गाया जाता है ?
त खज्जिइ जं परिणइ पावइ (सु० च०)=वह खाओ जो हजम हो जाय
दुद्ध सुद्ध कि कंजिउ परइ (सु०च०)=क्या शुद्ध दूध कांजी की समता करता है ?
कच्चें पल्लटइ को रयणु, पित्तलइ हेम विक्कइ कवणु (ज० सा० च०)= कांच से रत्न को कौन बदलेगा ? पीतल से सोने को कौन बेचेगा ?
गोसिंगइं कि दुद्धइ सवति (ज० च०)=गोश्रृंग से क्या दूध झरता है ?
किं सुक्कें सक्खें सिंचिएण (ज० च०)=सूखे वृक्ष को सींचने से क्या ?

(६) आलंकारिक भाषा

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन में संलग्न कवि कल्पना का आश्रय लेकर शब्दों में नई अर्थवत्ता ले आता है। वह प्रेषणीयता को प्रबल करने के लिए शब्दों में बिम्बग्राहिता और चित्रात्मकता का समावेश करता है। अपने प्रभाव को सहृदय के हृदय में अखण्डित पहुँचाने के लिए अलंकारो का प्रयोग करता है; प्रस्तुत विधान में अप्रस्तुत योजना करता है। अर्थान्तर को स्पष्ट करते हुए उपमा, रूपक और रूपकातिशयोक्ति की प्रक्रिया दिखाई जा चुकी है। कवि चमत्कार लाने के लिए एक-सी ध्वनियों से अनुप्रास की सृष्टि करता है और यदि विभिन्नार्थक पदो, पादांशों और पादों को दुहरा सके तो और आनन्द का अनुभव करता है। अनेकार्थक शब्दो पर अधिकार उसकी योग्यता की वृद्धि करता है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से वस्तुतः अनेकार्थक शब्द तो होता नहीं, मूलत. शब्द सकेत एक ही अर्थ के लिए होता है पर शनैः शनैः अर्थपरिवर्त्तनपद्धति से एक ही शब्द विकिरण (Radiation) द्वारा अनेक अर्थ बताने लगता है। वह विकिरण केन्द्र से जितना दूर होता जाता है अर्थों का पारस्परिक संबन्ध भी उतना अज्ञात होता जाता है। कई बार एक उच्चारण वाले परन्तु मूलतः सर्वथा पृथक् शब्द एक बन बैठते हैं और वहाँ अनेकार्थकता प्रतीत

होने लगती है, जैसे—काम < कम् धातु से निष्पन्न इच्छा अर्थ देता है और काम < कम्म < कर्म विकास शृखला में कर्मवाची है। दोनो को एक शब्द समझ कर दो अर्थ कर लिए जाये हैं। श्लेष अलंकार की व्याख्या में जतुकाष्ठन्याय का इसी पद्धति के लिए और एकवृन्तन्याय का पूर्वोक्त पद्धति के लिए उपयोग है। एकार्थक अनेक शब्द और अनेकार्थक एक शब्द यह अर्थविज्ञान की एक समस्या है।

अपभ्रंश भाषा के कवियो ने यमक और श्लेष के मोह को छोडा नही है। अनेक व्यंजनो के लोप हो जाने से और यश्रुति प्रयोग के कारण उन्हे एकाकार शब्दो का और भण्डार मिल गया। देशी शब्दो और तद्भव शब्दो की आपातत एकता ने उन्हे और अधिक बल दिया। व्याकरण के नियमो की शिथिलता ने उन्हे और निर्भीक बना दिया। पुष्पदन्त के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। उन्होने महापुराण का प्रारम्भ ही यमक से किया है—

पयडिय सासय पयणयरवहं=प्रकटित-शाश्व त-पदनगरपथं
परसमय भणिय दुण्णयरवहं=परसमय-भणित-दुर्नयरवहं
सुहसील गुणोहणि वासहरं=सुखशीलगुणोघ-निवास-गृह (घर)
देविंदथुय दिव्वास हरं =देवेन्द्रस्तुत दिग्वासोघर
जुइणिज्जिय मंदरमेहलय =द्युति निर्जित-मन्दर-मेघलय (मेघनिलयमाकाशम्)
पविमुक्क हारमणि मेहलयं=प्रविमुक्त-हारमणिमेखलक इत्यादि
उत्तरपुराण प्रारम्भ (३८ सधि) भी इसी प्रकार है—
सुहमरूओह = सुहतरूजोघम्
सुहयरूमेह = शुभतरू-मेघम—इत्यादि।

सदेशरासक १०४ मे ताक तह तथा महकतह मे और मज्झ णक्कतह तथा मज्झ णक्कंतह मे यमक है। पहले युगल मे ताक शब्द देशी है जिसका अर्थ "समझता हूँ" है और कतह का अर्थ "कान्त का" है। दूसरे युगल मे णक्कन्तह का अर्थ अनाक्रान्त और नक्रान्त (नासिकान्त) है।

अपभ्रश मे ही ये यमक बन सकते है, संस्कृत मे नही जो कि सस्कृत रूपान्तर से स्पप्ट है।

श्लेष—जिनधर्म कुशल तपस्विनी का शाब्दी उपमा मे वर्णन—
विंझाडइव्व गय—मय—वियार=विन्ध्याटवीव गतमदविकारा गजमदविकारा च
पाउस—सिरि व्व संतावहरा =पावस श्रीरिव संताप हरा, संताप =दुःख और ताप
वाडवसिहि व्व कय —जलहिसोह=वाडवशिखीव कृतजडधीशोभा और कृतजलधिशोभा

दिणयर-पह व्व निदलित दोस =दिनकर प्रभाइव निर्दलित दोषा
दोष=अवगुण, दोषा=रात्रि

यहाँ भी संस्कृत का श्लेष संभव नही यश्रुति, श को सु, ड को ल और ष को ह और ईकार का ह्रस्व इसमे सहायक है।

(पउमसिरि चरिउ—४।४।४१-४२)

देशी शब्द के कारण अन्त्यानुप्रास का चमत्कार महापुराण का प्रथम छन्द ही है—सरणेसरु से परमेसरु का पूरा तुक है। सरणसरु मे णेसरु का अर्थ सूर्य (दे०ना० ४।४४ है। जिसका मूल कन्नड मे नेसक है और पूरे पद का अर्थ सरोवरसूय है। सरोवरसूर्य और परमेसरु मे कोई तुक नही।

अर्थालंकारो मे बात कहने का निरालापन आ जाता है। प्रियतमा का वल्लभ कार्यवश उसे छोड परदेश चला गया है। वह कहना चाहती है कि प्रियतम की मृत्यु न हो। वह कहती है—

"जिय हउ मुक्की वल्लहइ, तिम सो मुक्क जयेण" (सं० रा० ७३)

"जिस तरह मुझे प्रियतम ने छोड़ दिया है उसी तरह उसे यम भी छोड़ दे।"

समासोक्ति अलंकार का मानवीकरण के रूप मे जडवस्तुओ के साथ भी योजना अर्थसौष्ठव ला देती है—

विरह सवसेय कय (सं० रा० १०३)=विरहेण स्ववश्या कृता. वश मे कर लिया।
=विरह ने अपने अधीन कर लिया।

अवरु उग्गिलइ राय=अंबरः उद्गिलति रागं=आकाश रंग उगलता है।

परिकर अलंकार मे साभिप्राय विशेषण की स्थिति रहती है। इसका अच्छा उदाहरण संदेशरासक मे उसके रचयिता कवि का नाम "अद्दहमाण" है। १।४ मे "अद्दहमाणपसिद्धो" की व्याख्या करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी भूमिका के पाँचवें पृष्ठ पर लिखा है 'यहाँ निपुण कवि ने विशेषण विच्छित्ति के कौशल से यह इंगित किया है कि वह यथार्थनामा है और उसका यश या मान प्राकृत काव्यो और गीत विषयो मे सदा के लिए सुरक्षित रहने वाला है। या फिर इसका अर्थ होगा "ज्वलंतमान वाला"। दोनों ही अर्थ मे विशेषणविच्छित्तिवश कवि अपने को गर्वपूर्वक यथार्थनामा कहना चाहता है।" अब्दुल रहमान नाम न देकर "अद्दहमाण" के अद्दह (रक्षित और खौलता अर्थात् प्रज्वलित दोनो अर्थो से) शब्द द्वारा कवि यही ध्वनित करना चाहता है। यह विच्छित्ति अपभ्रंश शब्द के कारण ही है।

इसी प्रकार अन्य अनेक अलंकारो द्वारा अर्थविच्छित्ति अपभ्रंश भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त की गई है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट -१

'शिलालेखांकित रोडाप्रणीत "राउल वेल"

रचना के अन्त मे पाठ है—

रोडें राउलवेल वखा (णी)।

(पुणु ?) तहं भासहं जइसी जाणी ॥ (डा० गुप्त के अनुसार)

आठहं मासहं अइसो जाणी ॥ (डा० भायाणी के अनुसार)

इससे इतना तो स्पष्ट है कि "रोडा ने राउल वेल (राजकुल विलास) का भाषा में बखान किया है जैसी वह जानता था।" आठ भाषाओं का तो यथार्थतः कोई प्रसंग नही और न उनके विभेदक लक्षण ही इस रचना में प्राप्त हैं; अतः "आठहं" का त्रुटित पाठ से उद्धार समीचीन नहीं। विशेषणशून्य "भाषा" का प्रयोग कवि तत्कालीन बोलचाल की भाषा के लिए करते चले आये हैं यह पहले (प्रथम खण्ड मे) निर्धारित किया जा चुका है, अत. रोडा कवि बोलचाल की भाषा में अपनी कृति निर्माण कर रहा है इस परिणाम पर पहुँचने मे कोई आपत्ति नहीं।

राउलवेल की भाषा स्वाभाविक विकास मे उच्चरित तद्भव शब्दों से गठित है। वेटी, कूडा, चूडा, डहर, पुलूकी आदि देशी शब्द भी हैं। तत्सम शब्दों का विरल प्रयोग है। ध्यान देने योग्य शब्द बृहस्पति है। उसे प्राकृत व्याकरणानुसार बुहप्फई या बुहप्पई नही बनाया गया। इसी प्रकार हरिणसिन्दूरू, काननु आदि संस्कृत तत्सम शब्द अपभ्रंशानुरूप उकारान्त हैं। भाषा उकारबहुला है यह निर्विवाद हैं, जैसे—

> रातउ कंचुआ अति सुट्ठ चांगउ। गाढउ वाधउ······आँगउ।
>
> -दुहुँ पहिरणु मालउ भावइ। तासु सोह कि कछडा पाँव (इ) ॥

काजलु, आछउ, तुछउ, मालउ, मणु, विणु, छ चरू, रहु, जणु, इत्यादि अनेक प्रयोग इसे और पुष्ट करते हैं। उकारबहुलता अपभ्रंश का प्रधान चिह्न है।

ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से निम्न निष्कर्ष हैं—

१. अपभ्रंश मे निरूपित स्वरों का प्रयोग है। ऋ का उदाहरण संस्कृत तत्सम "बृहस्पति" शब्द मे उपलब्ध है। ऐ और औ का व्यवहार नही है; अपवाद "पैंह्लिय" और "गौड" शब्द हैं।

२. संयुक्त व्यजनो का सामान्यतया अभाव है। म्ब, म्ह, न्ह, ण्ह मे सयोग हैं जो वस्तुत. अनुनासिकता के सूचक हैं। पइह्लिया, पइह्लिआ, पइह्लण, आदि पहिरने (पहनने) के अर्थ मे प्रयुक्त शब्दो मे ह् + र का संयोग अवश्य है

जो परिधृत का रूप है, धृ > ह्रि । बुद्धि, टेल्ल, वव्वंर, वत्थु, एक्कु, मंडिज्जइ कप्पू के एक दो अपवादात्मक प्रयोग भी हैं ।

३. अपभ्रंश पद्धति पर अनुस्वार और अनुनासिक के लिए बिन्दु का प्रयोग है जैसे—काठी, हाथहिं, ऊंचउ, जेंवि, लवोले, पंइ, आहरणे, चांद, सिंदूर, भकेहुउ आदि । वर्गान्त अनुनासिक मे ङ और ञ का तो सर्वथा अभाव है परन्तु म, न और ण के साथ कुछ प्रयोग अवश्य हैं, जैसे गवारिम्व, तरुणिम्व, अम्हाणउ; चिन्तवंतहं, माण्डणु ।

४. अपभ्रंश मे अनादि असंयुक्त म को अनुनासिक व (वँ) हो जाया करता है (हेम० ८।४।३९७) । म से व तक जाने मे मध्यवर्ती उच्चारण म्व है । इस म्व का सामान्य प्रयोग तूलिम्व (तूलिम) करडिम्व (करडिम), काम्व (काम), साम्वली (सामली), लागिम्व (लागिम), चागिम्व (चागिम), गम्वारिम (गमारिम), तरुणिम्व (तरुणिम) इत्यादि उदाहरणो मे हैं ।

५. न सामान्यतया ण मे परिणत होता है, जैसे विणु, जणु, माडणु, थण, मणु, पइहणु आदि । संस्कृत मे जहाँ ण है वहाँ उसी रूप मे रहने दिया गया है, जैसे आहरणें, छण आदि । परन्तु नकार का सर्वथा अभाव नही है, जैसे—कानन्हु, वनरांम, वना आदि ।

६. यश्रुति का जैन महाराष्ट्री या अपभ्रंश मे प० च० भ० क० और प० सि० च० की तरह प्रचुर प्रयोग नही है, जैसे रातउ, आछउ, गाढउ, आदि परिवर्धित रूपो में यश्रुति का अभाव है; इसी तरह वलिअ < वलित, पइह्रिआ < परिधृत शब्द हैं । परन्तु सरय < शतत्, जलय < जलद, मयण < मदन, कियउ < कृतक, पइह्रिया < परिधृत जैसे प्रयोग यश्रुति के उदाहरण हैं ।

७. कियइ < किज्जइ < क्रियते; कयूय < कञ्चुक < कचुक, रयणि < रजनी मे ज को य उच्चरित किया गया है ।

रूपविज्ञान को दृष्टि से निम्न निष्कर्ष हैं—

शब्द प्रकृति और कारक विभक्तियाँ अपभ्रंशानुरूप हैं । शब्दरूपो मे परिवर्तन नही, परन्तु व्यामिश्रण अवश्य है ।

कर्त्ता, कर्म—एकवचन

-उ राउलु, करु, वेसु, मणु, काजलु, टेल्लिपुतु, पहिरणु आदि ।

-(अ) उ तरलउ, रातउ, तुछउ, (परिवर्धित रूप)

शून्य-किअउ राउल, करइ सो वाउल, कान सुहावइ, मन भावइ ।

-आ -कंचुआ, कछडा, रोडा जाला, सोना; आँखिर फाटा तीखा ऊजला तरला (३२) । "आविलु काछडा दढ गाढा" में तीनो प्रत्ययो के रूप विशेष्य विशेषणात्मक रूप में साथ ही प्रयुक्त हैं ।

कर्त्ता, कर्म बहुवचन

-आ खता=क्षत्रिया., तरुणा जोवन्त करइ सो बाउत शून्य थण दीसहिं
-उ 'खता जणु सयलइ' मे जणु=जना:
-इ सयलइ<सकलानि, परन्तु नपुंसकलिंग मे प्रयुक्त नही।
  तीनो प्रत्ययो के रूप साथ ही विशेष्य विशेषणात्मक रूप मे प्रयुक्त हैं।
-हिं थणहिं ऊंचउ किम्रउ
-ए भावंपि मीठे।

करण एकवचन

-ए तम्बोलें<ताम्बूलेन, आहरणें<आभरणेन, रोडें वखाणी।

करण बहुवचन

-वलिग्रहि वांधलिग्रहिं=वलितैः वन्वितैः

अधिकरण एकवचन

-ए अहिं घरे,
-अइ गलइ सुहावइ,
-हिं कांठिहिं
-उ जा घरू आवइ

अधिकरण बहुवचन

-हिं कानहिं<कर्णयो., पाइहिं<पादयो:, हाथहिं<हस्तयो:,
  आंखिहिं<अक्ष्णो.
-इ पावइ<पादयो

सबन्ध एकवचन

-हु तरुणिहु भाण्डणु भालउ
-शून्य अहर तम्बोलें<अधरस्य, ताम्बूलेन
-ह कामदेवह करा घरह

संबन्ध बहुवचन

-ह घडिवनह, लोकइं, चिन्तवन्तइ

सबोधन

प्रधानत.-शून्य रे रेवव्वंर, राउल, गोड
-उ टेल्लिपुतु
-आ वडिरा
-ओ वडिरो

परसर्ग

कारक विभक्तियो के साथ परसर्गों के उपयोग की प्रवृत्ति बढ़ी हुई है। उनकी

विविधता उल्लेखनीय है। "को" या "कु" का कर्मकारक के अर्थ मे प्रयोग विशेषतः द्रष्टव्य है। अन्यत्र अपभ्रंश साहित्य मे प्रायः इसका अभाव है।

कर्म : को, कु—पातलो को माउम्र छाडी।
कोकु न देखतु करइउ मातउ।
कोक्कु न मोहइ।

करण : सउ=से काइसउ झाखइ=किसी से झंखती है।

संप्रदान : तण काम्न तणी सा हरइ=काम के लई वह हरती है।
कज<कार्य समुदाइ कज=समधाने (मिलाने) के लिए।

संबन्ध : करा, केरा, केरउ, करि, करी (स्त्रीलि०)—
पूनिनहि करा चाँद।
सोना केरा चूडा, पहिरणु घाघरेहि जो केरा
अइ सोउ वेसु जो गउडिन्ह केरउ।
ता करि भावइ
मुह करी सोम सजइ।
करा के क अंश का "का, के, की" के रूप मे प्रयोग अनुपलब्ध हैं परन्तु र अंश का बंगला की तरह प्रयोग है जैसे—सूतेर हारू, अगेहि माडणु अंगेर उजालु आखिर फाटा। यह "र" कारक प्रत्यय का रूप बनकर शब्द प्रकृति के साथ जुड जाता है। सबन्ध अर्थ मे राजस्थानी की तरह "णी' का प्रयोग" फणि ने उराणी करन सुहावइ मे है। मराठी "ची" का प्रयोग भी दो एक जगह है जैसे "वनहं चि जे रेख" यद्यपि यह अपभ्रंश "चिम्र=एव है या सबन्धार्थक परसर्ग इसमे संदेह है।

अधिकरण : ऊपरि, ऊपर, पर, मांझ, मा, बिच
खोपहि ऊपरि, चांदहि ऊपर,
पहिरणु फरहरें पर सोहइ
थणहर मांझे जो हास
हत्थहि मा ठिवउ सुठु सोहहि
सरय जलय बिच चांदा

सर्वनाम

सब सर्वनामों के प्रयोग के अवसर इस कविता मे नहीं है। जो रूप प्राप्त हैं वे निम्न हैं—

युष्मद् -(तु, तुम्ह) :—
तु (तू) -मउहीं, तु रुरी देखु।
तुहु, तुहु (तुझे) तुहु भाखइ, तुहुँ भाखइ
तोही (तुझे) -देखत तोही मयणउव मोही।

तुम्ह -तुम्ह चि देसु
तइ, तइ (त्वया) -तंइ कतहूवेमर दीठे, तइकत दीठे ।
तुम्ह, त एव तुम्ह नही छोडि
तुम्हइ, तुम्हहि (तुम्हे) -तुम्हइ ''तुम्हहि सम्रिउ बोलहि
अस्मद् (म और अम्ह) - दो ही प्रयोग हैं—
अम्हाण (अस्माक) - वेमु अम्हाणउ ना जउ देखइ ।
अम्हार (हमारा) - इहां अम्हारइ दुमणी खोप करि उमइ ।
यत् (ज) -जा - जा घरु=जिस घर मे
जहि घरे<यस्मिन् गृहे
जं - जं जसु रुचइ, यद्<यस्मै रोचते, जसु<यस्म ।
जो - जो जाणइ, जो जाणइ सो थइ नउ वानइ (नित्यसंबन्धी जो और सो)
जे - जे चांगिम<यो चगिमा ।
तत् (त)—
सो - थणहि सो कचउ (सो स्त्रीलिंग अर्थ में प्रयुक्त है), जो जाणइ सो थइ नउ वानउ (नित्य सम्बन्धी) ।
त - त एवं तुम्ह न ही छोडि ।
ता - ता करि पावइ ।
ते -ते आपुली गम्वारिम्व आख ।
त - त घरु राउल जइसउ ।
तासु - तासु कि कछड़ा पावइ ।
ताहि - तहि, तहि सारिखउ कहाइउं ।
तह (वहा) - तहं मासहं ।
किम् (क) - कि<किम् ।
काइ - काइ करेवउ ।
को - कोक्कु न मोहइ ।
कोऊ<कोपि ।
एतत् - एहु, एहु कानोडउ, एहु एक संसारु
एह, एहइ तरुणिहु<एतस्या. तरुण्या. ।
सर्व - सउ, सउ जण मोहइ
सव, ते देखतह सवहं तरुणा ।
अइसी<ईदृशी, कइसी<कीदृशी सार्वनामिक विशेषण हैं और स्त्रीलिंगान्त हैं ।

धातुरूप

धातु प्रकृति और रूपावली अपभ्रंशानुसार हैं और सरल हैं। प्रयोगो मे प्राप्त धातुरूप निम्नलिखित हैं—

वर्तमानकाल

	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०-	इ, झाखइ, करइ, पइसइ, आवइ, सुहावइ, आवइ, पावइ, देखइ, रुचइ < रोचते, दीसइ < दृश्यते इत्यादि।	-हिं, चाहहिं, सोहहिं -थि, मोहथि -एं, भूल्लें, बोल्लें
	-अ (धातुप्रकृति), साह, मांड	
	-ति (अपवादात्मक) हांस जा गइ चालति	
म० पु०	-सि, अरे अरे बब्बंर देखसि न टीका	
उ० पु०	-हुं, त उपमान करहुं (करूं)	

भूतकाल

कृदन्त से निर्मित हैं, जैसे-थणहिं सो ऊचउ किअउ राउल। हुअ एहु ससारू। राहू घेत ले अइसे। गणिए तारे।

भविष्यकाल

-स, जगही काइ करसी (सवर्गीय रूप)

विध्यर्थ

-उ, तु रूरी देखु (देख)

पूर्वकालिक

-इ, देखि तारउ सब जण खीजउ

अव्यय - जउ<यदि चि<एव, जणि<जानो, हु<खलु, विणु<विना, रे रे आदि। सयोजक अरू के अतिरिक्त कि भी है।

डा, और डी स्वार्थं प्रत्यय अपभ्रंश के अनुसार काछडा या कछडा, बछडा पारडी, जीपडी आदि मे प्रयुक्त हैं।

ल प्रत्यय का उपयोग ध्यान देने योग्य है—

धवलर कापड श्रौढिअल कइसे। मुह ससि जोन्ह पसारेल अइसे।

भाषा के उदाहरण (अत्रुटित अंश से)-

अइ (सी) बेटिया जाघरू आवइ ताहि के तुलिम्व कोऊ पावइ?
ऐसी बेटी जिस घर मे आती है उसकी क्या तुलना कोई पाता है?

थणहिं सो ऊचउ किग्रउ राउल तरुणा जोवन्त करइ सो वाउल।
=इस राउल ने स्तनो को ऊचा किया, वह देखने वाले तरुणों को पागल करता है।
पहिरणु फरहरें पर सोहइ राउल दीसतु सउ जणु मोहइ।
=पहिरना (वस्त्र) फरहराने पर सुहाता है, राउल देखते सब जनो को मोहती है।
भउही तु रूरी देखु वब्बंर कइसी ताहि काम्व करी धणु अढणी जइसी।
=अरे ववंर तू भौं को देख कैसी सुन्दर है उसे काम ने धनुष की अहुणी जैसा कर दिया है।
पारडी ग्रांतरे थणहरु कइसउ सरय जलय विच चादा जइसउ।
=पारडी (झीने मलमल) के अन्दर स्तनभार कैसा है जैसे शरत्कालीन जलद के बीच चन्द्र।
सूतेर हारु रोमावलि न लिग्रउ जणि गांगहि जलु जउणहि मिलिग्रउ।
=सूत का हार रोमावली से मिला मानो गगा का जल जमुना मे मिल गया।
ग्रइसउ हथिग्रारु पाविउ काम्व देउ जग ही काइ करिसी ग्रइसउ बृहस्पति रउ सूझइ।
=ऐसा हथियार पाकर कामदेव जग का क्या करेगा, ऐसा बृहस्पति को नहीं सूझता।

परिशिष्ट-२

अपभ्रंशभाषा

आचार्यो वीरेन्द्र श्रीवास्तवः, एम० ए०, विद्यावाचस्पतिः

शुङ्गवंशसंस्थापकस्य पुष्यमित्रस्य (१५० ई० पू०) अश्वमेधपुरोधाः पतंजलिर्मुनिः स्वमहाभाष्ये पस्पशाह्निके सुहृद्भूत्वा शिष्यमनुशास्ति व्याकरण-प्रयोजनप्रसंगे 'नम्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः, म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्' । सनिर्दिशति 'अल्पीयांसः शब्दाः भूयांसोऽपशब्दाः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः; तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमाद्योऽपभ्रंशा' । लौकिकवैदिकशब्दानुशासनप्रणेता सोऽपभ्रंशात्मक-मपभाषणात्मकं म्लेच्छत्वं निराकरिष्णुः स्वकाले प्रयुज्यमानेषु व्याकरणसंस्कार-विहीनेषु शब्देषु दृष्टिनिक्षेपं करोति सावधानं च विदधाति शिष्य तत्प्रयोगव्यावर्त्तनाय । शिष्टानुमतसंस्कृतशब्दमेव स साधु मन्यते; न त्वपभ्रंशशब्दम् । परं कालगतिर्ब-लीयसी । हेयदृष्ट्या पतंजलिना प्रयुक्तोऽपभ्रंश एवापभ्रंशभाषाभिधया प्रशस्यता-मवाप्तोऽलङ्कारशास्त्रेषु काव्यवाङ्मये च । षष्ठशताब्द्यां स्वोपज्ञकाव्यालंकारे भामहः प्रतिपादयति :—

> शब्दार्थौं सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा ।
> संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥ १, १६, २८

काव्यादर्शे दण्डी (७०० ई० पू०) वाङ्मयं विभजति— :

> तदेतद् वाङ्मयं भूयः, संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
> अपभ्रंशश्च मिश्रं चे—त्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ॥ १,३२ .

वलभीनरेशः धारसेनः स्वदानपत्रे पितरं गुहसेनं प्रशंसति—'संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रय प्रतिबद्धप्र-बन्धनिपुणान्तःकरण'······इति । देशीभाषेत्यपराभिधयानयैव भाषयाऽनेके महाकवयः स्वप्रबन्धान् मुक्तकानि च विरच्य भारते ख्यातिमुपाजग्मुः । 'पउम चरिउ'—प्रणेता स्वयम्भू', 'महापुराण'—निर्माता पुष्पदन्तः, 'भविसयत्त कहा'—रचयिता धनपालश्च तेषां प्रमुखाः । म्लेच्छदेशसंभूतोऽब्दुलरहमानकविः सुप्रसिद्धे 'संदेशरासक' काव्ये कवीन् स्तौति :—

> अवहट्टय-सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए ।
> लक्खणछंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं ॥ १,६

अर्थात्

> अपभ्रष्टक-संस्कृत-प्राकृते पैशाच्यां भाषायां ।
> लक्षणछन्द-आभरणैः, सुकवित्वं भूषितं यैः ॥

पतंजले घृणावाचक: म्लेच्छाह्वयोऽपभ्रंश एवाधुना चतसृषु भाषासु प्रथमं स्थान मुपगृह्णाति लोकभाषात्वेन। पतंजले. लोकभाषा संस्कृतभाषाऽऽसीत्, परं द्वादशशताब्द्यां सैवापभ्रंशभाषा जाता। महाकवि विद्यापति तद्भाषाविषये स्वकीर्त्तिलतायामुपनिबध्नाति —

सक्कय वाणी बुहयन भावइ। पाउग्र रस को मम्म न जानइ॥
देसिल बग्रना सब जनमिट्ठा। तँ तैसन जम्पग्रो ग्रवहट्ठा॥

ग्रर्थात्

संस्कृत-वाणी बुधजन: भावयति प्राकृत-रसस्य क. मर्म्मं जानाति॥
देशीवचनानि सर्वजन-मिष्टानि तत् तादृश जल्पामि ग्रपभ्रष्टम्॥

मधुरस्माषात्वेनोररीकृत्य च स स्वकाव्यमपभ्रंशभाषायां विरचयति। हेमचन्द्र-लक्ष्मीधरप्रभृतयश्च स्वप्राकृत व्याकरणेष्वपभ्रंशनियमानपि नियोजयामासु:। ग्रत. विचारपदवीमधिरोहति कैषाऽपभ्रंशभाषा, कथ च तस्या विकास इति।]

भाषाविज्ञानाध्ययनेनैतद् ज्ञायते यद् भाषा स्रोतस्विनीव नितरां धारावाहिक-रूपेण गतिशीला, न कदापि स्थायिता सर्वथा स्थिरता वा लभते। यदा सरित प्रवाह: निरुद्ध: भवति सा कृत्रिमसरोवरे परिणमति, परिष्कारेण कमलकुमुदादिकुसुमनियोजनेन सोपानभङ्गीविरचनेन च शोभास्पद तु भवति परं तस्या: जीवनोपयोगिता शनै शनै: क्षीणता याति। एवमेव भाषा यावल्लोकजीवनसम्बधं न विजहाति, जनताया विचाराणां भावना चादानप्रदानमाध्यमता न परित्यजति, तावज्जीवितभाषा कथ्यते परं यदातिशयजटिलव्याकरणनियमैं ग्रथिता शिष्टजनक्षेत्रमेवावगाहते सा नितरा संस्कृता परिष्कृता साहित्योद्यानिगडिता मृतभाषाभिधीयते। भाषाया. परिवर्त्तनशीलस्या-परिवर्त्तनशीलस्याङ्गस्य च सामंजस्येन तस्या उच्छेद मरणं वा निरुच्यते। प्राचीनकाले वैदिकी भाषा (वेदनिर्माणकाले या लोकाना भाषासीन्न केवल वैदिकवाङमयस्यैव) नानाविधप्रयोगैं लोकजीवन प्रतिविम्बितमिव दर्शयति। ग्रथर्ववेदस्य पृथिवीसूक्ते 'नानाधर्माण विवाचस' जन विभ्रती भूमिं स्तुवता ऋषिणास्यैव पक्षस्य प्रदर्शनं विहितम्। सा वैदिकी भाषा शनै शनै लोकभाषात: पृथगस्तित्वं प्रातिशाख्येषु पाणिनीयव्याकरणे चालभत।

भाषाशब्दस्य विशेषणरहितस्य प्राय. प्रयोगस्तात्कालिकजनताभाषण-विषयतामवगाहमानायां भाषायामेवास्माक साहित्ये शब्दशास्त्रे च विधीयते। यास्क: निरुक्ते पठति 'इवेति भाषायां च, ग्रन्वध्याय च। नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्'। ग्रत्र भाषाशब्दस्यार्थं लोकप्रयुक्ता भाषा वर्त्तते या कालान्तरे संस्कृतविशेषणोपेता संस्कृतभाषावाच्यतामुपगता। ग्रध्याशब्दस्य प्रयोगो वेदार्थमेव। एव पाणिनीयसूत्रेषु 'भाषाया' शब्दस्य यास्काभिमते एवार्थे प्रयोग परं वैदिकभाषार्थं 'छन्दसि' 'निगमे' इत्यादिशब्दानाम्। पतंजलिमहाभाष्येऽपि 'शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम्। लौकिकाना च' इति वाक्य ध्वनयति लौकिकशब्दा यास्कपाणिन्यभिमताया लोकप्रयुक्ताया. भाषाया एव। एवमीसात पूर्वमष्टमशताब्दीत.

द्वितीय शताब्दी पर्यन्त भाषाशब्दप्रयोगः संस्कृतभाषार्थमेव । अस्माभिः पूर्वमेवावलोकितं यद् भाष्यकारसमये लोकेऽपभ्रंशशब्दानामर्थादपरिष्कृतशब्दानां प्रचलनमासीत् । यास्केन द्वितीयाध्याये निर्वचनप्रक्रिया विशदीकुर्वता 'अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते । विकृतय एवैकेषु । शवतिर्गतिकर्मा कंबोजेष्वेव भाष्यते । विकारमस्यार्येषु भाष्यन्ते । शव इति । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु । दात्रमुदीच्येषु' इत्यत्र स्पष्टतः भाषाया भाषणप्रयोगवैविध्यं स्पष्टीकृतम् । ताण्ड्यब्राह्मणेनापि 'अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहु.' (१७.४) इत्यतः ध्वनितं यदुच्चारणकाठिन्यं जनताया अशिक्षितवर्गोऽनुभवति स्म ।

भगवतो बुद्धस्य जन्मतः (५०० ई० पू०), विशेषतः प्राच्यदेशे, लोकप्रचलिता भाषा यास्कपाणिन्यादिप्रयुक्तभाषातः कियद्दूरंगता । सा प्राकृतजनप्रयुक्ता भाषा प्राकृतभाषाभिधानं तदपेक्षया च शिष्टजनपरिगृहीता पाणिनीयव्याकरणसम्मता संस्कृता भाषा संस्कृतभाषासंज्ञां चाददत्त । भगवतो बुद्धस्योपदेशेषु सम्राटोऽशोकस्य च शिलालेखेषु पालीभाषाभिधा प्राकृतभाषैव वर्त्तते । शौरसेनी मागधी महाराष्ट्रीत्यादिभाषाः प्राकृतपदवाच्या एव । तथापि पतंजलिकालपर्यन्तं संस्कृतभाषा प्राकृतभाषया सह लोके प्रचलिताऽऽसीत् । तदनन्तरं तु भाषाशब्दस्य केवलस्य प्रयोगः प्राकृतभाषार्थमेव दृश्यते । भरतनाट्यशास्त्रेऽभिनवगुप्तेन स्वविवृतौ परिभाषितम्—

'भाषा संस्कृतापभ्रंश, भाषापभ्रंशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनां प्राकृतवासिनां च । एता एव नाट्ये तु ।' भाषागणनाप्रसङ्गे भरताचार्य. पठति—

> मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
> बह्लीका दक्षिणात्या च सप्त भाषा. प्रकीर्त्तिता. ॥

अत्र भाषाशब्दस्य प्रयोगोऽन्यत्र निर्धारिताया जातिभाषाया अर्थे विद्यते । चतुर्विधा भाषा—

> अतिभाषाऽर्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ।
> तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता. ॥

वैदिकी भाषैवाऽतिभाषा, संस्कृतभाषैवार्यभाषा, प्राकृतभाषैव जातिभाषा, पशुपक्षिणां च योन्यतरी भाषा नाट्येनुकृतिरूपेण प्रयोजनीया इति भरतस्याभिमतम् । भरतनुसार सामान्यतया 'द्विविध हि स्मृतं पाठ्य सस्कृत प्राकृत प्राकृतं तथा' । प्राकृतस्य च लक्षण तदनुसारम्—

> एतदेव विपर्यस्तं सस्कारगुणवर्जितम् ।
> विज्ञेय प्राकृत पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम् ॥

संस्कृतमेव सस्कारगुणवर्जित प्राकृतसज्ञा लभते । तच्च प्राकृत त्रिविध वर्तते 'समानशब्दं विभ्रष्ट देशीगतमथापि'—समानशब्दस्य तात्पर्यं तत्समपदोपेत सस्कृतुल्यं वर्तते । विभ्रष्टशब्दस्य व्याख्या करोति.—

> ये वर्णाः सयोगस्वरवर्णात्ययमूनतां चापि ।
> यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टांस्तान् विदुर्विप्राः ॥

अत्र विभ्रष्टस्थानेऽपभ्रष्टपाठोऽपि वर्तते । एवं महाभाष्ये भरतनाट्ये चापभ्रंशशब्दस्य प्रयोगो व्याकरणसंस्काररहितशब्देषु वर्तते । संस्कारच्युता प्राकृतभाषैव देशीशब्दप्रयोगबाहुल्येन देशीभाषापदवाच्यत्वं लभते । कालान्तरे देशीभाषैवापभ्रंशभाषाभिधामुपगता । हेमचन्द्रप्रणीतदेशीनाममालायां देशीशब्दाना संग्रहः वर्तते । षष्ठशताब्दीतः देशीशब्दबहुला प्राकृतादप्यपभ्रष्टा लोकप्रयुक्ता भाषा काव्येऽपभ्रंशसंज्ञां लभते । दण्डिना स्वकाव्यादर्शे (७-८ शताब्दी) अपभ्रंशशब्दस्य द्विविधोपयोगः स्पष्टीकृत —

आभीरादिगिर. काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता ।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥१।३६

व्याकरणादिशास्त्रेषु तथा महाभाष्ये संस्कृतिभिन्नं सर्वमेवापभ्रंशपदवाच्यम्, परं काव्ये आभीरादिजातिप्रयुक्ता संस्कारविच्युता भाषाऽपभ्रंशभाषा कथ्यते । वस्तुतस्तु प्रथमशताब्द्यां द्वितीयशताब्द्या चानेका म्लेच्छाजातय. शककुषाणाभीरगंजरादिसमाख्याः भारते प्रविष्टा । ता अत्रत्यां भाषा विकृता विधाय स्वशब्दावलीं च तत्र समावेश्य प्रायुञ्जत । भरताचार्येण तदर्थमेव विभाषाशब्दप्रयोगो व्याधायि —

शकाराभीरचाण्डालशबरद्रमिलान्ध्रजा. ।
हीना वनेचाराणा च विभाषा नाटके स्मृता ॥५६॥

जातिभाषाव्याख्याने तेनोक्तम्.—

विविधा जातिभाषा च, प्रयोगे समुदाहृता ।
म्लेच्छशब्दोपचारा च, भारत वर्षमाश्रिताः ॥

अत्रैव 'म्लेच्छदेशप्रयुक्ता च' इत्यपि पाठ वर्तते ।

काव्यमीमांसायां राजशेखरेणापभ्रंशभाषाया न केवल सत्ता पूर्णत स्वीकृता पर तस्या नियमा अपि निर्धारिता । तदनुसारं 'शब्दार्थौ ते (वाङ्मयस्य) शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहू, जघनमपभ्रंश, पैशाचं पादौ, । कविपरिचारकवर्गविषये तेन निर्दिशटम् 'अपभ्रंशभाषाप्रवण परिचारकवर्ग ।' अपभ्रंशभाषाणदेशविषये तेन कथितम् 'सापभ्रंशप्रयोगा सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च' । सामान्यतयाऽद्यापि अपभ्रंशभाषाग्रन्था. विशेषत राजस्थाने गुजरातप्रदेशे सौराष्ट्रे चोपलभ्यन्ते । हेमचन्द्राचार्योऽपि सौराष्ट्रप्रदेशस्य एवासीत् । काव्यमीमांसाकारेण राजसभामभित कवीनां व्यवस्था प्रदर्शिता, 'उत्तरत संस्कृता कवयो निविशेरन्, दक्षिणतो भूतभाषाकवय, पूर्वेण प्राकृता कवय पश्चिमेनापभ्रंशिन । कवय । पश्चिमदिशि अपभ्रंशकविनिवेशेन तद्दिशि तद्भाषाप्रयोग आसीदिति ध्वनितं तेन ।

एवमुपर्युक्तपर्यलोचनयैष निष्कर्षं प्राप्यते.—

(१) सर्वत. पूर्वमपभ्रंशशब्दस्य प्रयोग च्युतसंस्कारार्थे आसीत् । लोकभाषा संस्कृतभाषासीत । तत्रैव मुखसौकर्यादिपरिवर्तननियमानाश्रित्य शब्दानामपभ्रष्टता

प्रारब्धा । ईसात. पंचमशताब्दीपूर्वत. एषा प्रवृत्ति स्पष्टा जाता । विकृता भाषा क्र प्राकृताभिधामभजत । लोके संस्कृता प्राकृता चाभयी भाषागतिरबाधाऽसीत् ।

(२) प्रथमशताब्दीत प्राकृतभाषाऽभीरादिजातिसंपर्कादत्यधिक प्रभ्रष्टाऽपभ्रंश-संज्ञामलभत । लोके प्राकृतभाषया सहापभ्रंशभाषाऽपि प्रचलिता जाता ।

(३) पंचमशताब्दीतोऽपभ्रंशभाषा काव्यभाषाक्षेत्रेऽवतीर्णा । अनेके लब्धप्रतिष्ठा कवयो त्रयोदशशताब्दीपर्यन्तं स्वकाव्यान्यस्या भाषायां विरचयामासु । लोकभाषाऽपभ्रंशभाषैव जाता ।

पर एतत्कदापि न विस्मर्तव्यं यत्संस्कृतभाषा शिक्षितवर्गे सम्पूर्णभारते विचारविनिमयस्य साधनमासीत् । प्राकृतभाषाव्याकरणमपि संस्कृतभाषयैव निबद्धम् । अपभ्रंशकाव्यानामपि विवृतय संस्कृत एवासन् । पंडितवरदामोदरेण तु द्वादशशताब्द्यां स्वकीये ग्रन्थे 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणे' प्राचीनकोशलीभाषाया (यस्या भाषाया षोडशशताब्द्यां मलिकमुहम्मदजायसीकविना तुलसीदासेन च स्वकृतयो निर्मिता.) अपभ्रंशभाषाभिधाया बालावबोधानार्थं संस्कृतासमपरिवर्त्तननियमा. प्रदर्शिता । स कथयाति—

देशे देशे लोको वक्ति गिरा भ्रष्टया यया किंचित् ।
सा तत्रैव हि संस्कृतरचिता वाच्यत्वमायाति ॥

स्वयमेव विशदीकरोति—'यां संस्कृतभाषामुच्छिद्य याऽपभ्रंशभाषा प्रवृत्ता तस्या स्थाने यदा सैव संस्कृतभाषा पुन परिवर्त्य प्रयुज्येत तदापभ्रंशभाषैव दिव्यत्वं प्राप्नोति । पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति' दामोदरस्य प्रयास वङ्गोपसागरे पतन्ती गङ्गा पुन हरद्वारक्षेत्रस्था विधातुमिव वर्तते, पर तत्प्रयासेन गङ्गाधाराऽविच्छिन्नतेव भाषाधाराऽविच्छिन्नता तु सिध्यत्येव । अपभ्रंशविकास एवाधुनिकार्यभाषारूपेणार्थात् हिन्दीवंगलेत्यादिना रूपेणाऽस्माभिरुपलभ्यते ।

●

परुसा संक्किअबंधा पाउअबंधो वि होई सुउमारो ।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाण ॥ (राजशेखर)

●

परिशिष्ट-३

कीर्त्तिलता की स्तम्भतीर्थवाली प्रति

प्रो० श्रीवीरेन्द्र श्रीवास्तव, एम० ए०, विद्यावाचस्पति

कीर्त्तिलता को भारतीय जनता के समक्ष प्रकाश मे लाने का सर्वप्रथम श्रेय महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री को है। उन्होने सन् १६२४ ई० मे बगाक्षरो मे इस सस्करण को सानुवाद छपवाया। नेपाल दरबार मे सुरक्षित प्रति इस संस्करण का आधार थी। इसी प्रति की नकल तथा फतहपुर जिले के 'असनी' गाँव मे उपलब्ध अन्य प्रति के आधार पर डा० बाबूराम सक्सेना ने सन् १६२६ ई० मे हिंदी मे इस ग्रन्थ का सुन्दर सम्पादन किया। श्री शिवप्रसाद सिंह ने अपनी पुस्तक 'कीर्त्तिलता और अवहट्ठ भाषा' मे उपर्युक्त दो सस्करणो का आश्रय लेकर तथा शब्दो का विशेष विवेचन कर कीर्त्तिलता का एक और सस्करण, साहित्यिको के अध्ययन के लिए, सन् १६५५ ई० मे, प्रस्तुत किया। सन् १६६० ई० में डॉ० उमेश मिश्र ने मैथिली अनुवाद-सहित कीर्त्तिलता का सपादन 'गगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट' में सुरक्षित नेपाल-दरबार की पोथी की दो प्रतिलिपियो के आधार पर किया; परन्तु वे डॉ० सक्सेना के संस्करण से आगे पाठ-सशोधन की दिशा मे कुछ विशेष न कर सके। श्री शिवप्रसाद सिंह ने जिन पक्तियो मे 'रड्डा' आदि छन्द निर्धारित कर दिया था, उन्हे भी गद्यवत् ही रहने दिया गया। इस प्रकार, सभी विद्वानो के स्तुत्य प्रयास के कारण क्रमश कीर्त्तिलता का स्वरूप शुद्ध और स्पष्ट होता गया। यह एक आश्चर्य का विषय था कि जहाँ अपभ्रश की अन्य पुस्तको को समझने के लिए सस्कृत मे लिखी गई विवृतियाँ या अवचूर्णिकाएँ प्राप्त हो जाती थी, वहाँ कीर्त्तिलता को कोई सस्कृत टीका अबतक न मिल सकी थी। किन्तु बाद मे, श्री अगरचन्द नाहटा ने इसकी संस्कृत छाया सहित प्रति को बीकानेर पुस्तकालय से आखिर ढूँढ ही निकाला। इस सस्कृत-छायायुक्त प्रति को समाप्ति पर लिखने का स्थान स्तम्भतीर्थ (जिसे आजकल खम्भात, काठियावाड़ कहा जाता है) दिया गया है। इस प्रकार, विद्यापति की कीर्त्तिलता की प्रतियो के प्राप्तिस्थान नेपाल, फतहपुर (उत्तरप्रदेश) और खम्भात (गुजरात) है, जो इस बात की सूचना देते है कि इस ग्रथ का प्रसार भारत के विस्तृत उत्तरी और पश्चिमी प्रदेशो मे हो गया था। प्रस्तुत लेख में स्तम्भतीर्थ की प्रति की विशेषताओ का विवेचन किया जा रहा है।[१]

लिपिकार का समय और स्थान

कीर्त्तिलता के मूल पाठ को समाप्ति पर यह पुष्पिका है—नेत्रनगरसोर्वी-

---

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद (पटना) के संचालक डॉ० माधवजी के सौजन्य से इस प्रति की फोटो-प्रतिलिपि के अध्ययन का अवसर मुझे मिला। तदर्थ मैं उनका आभारी हूँ। —ले०

मितेऽब्दे विक्रमार्कं (व) षेऽसिते षष्ठ्यां लिखितं भृगुवासरे ।। यादृशमितिन्यायान्न दोषः । नेत्र=२, नग=७, रस=६ और उर्वी (पृथिवी)=१ के द्वारा निर्दिष्ट अंको की वामगति की गणना के अनुसार १६७२ विक्रम-संवत् मे वदी ६ शुक्रवार को कीर्त्तिलता की यह प्रति लिखी गई। लिपिकार ने अपना नाम नही दिया है। परन्तु, लिखानेवाले का नाम ग्रन्थ की सस्कृत-छाया की समाप्ति पर इन शब्दो मे दिया गया है—श्री श्रीमद्गोपालभट्टानुजेन श्रीसूरभट्टेन स्तम्भतीर्थे लिखापितमिदं । अर्थात्, श्रीमान् गोपालभट्ट के कनिष्ठ भ्राता श्रीसूरभट्ट ने स्तम्भतीर्थ (खम्भात) मे इसे लिखाया। स्तम्भतीर्थ ११वी शताब्दी से ही व्यापार का प्रधान बन्दरगाह और नगर रहा है। हेमचन्द्र जैसे प्रतिभाशाली आचार्य ने उस क्षेत्र मे अपभ्रंश-काव्य की सरणि प्रवृत्त कर दी थी। 'संदेशरासक' का पथिक मूलस्थान (मुलतान) से स्तम्भतीर्थ ही जा रहा था, जहाँ विरहिणी नायिका का प्रियतम पहले ही व्यापारार्थ प्रवास कर चुका था। लेखक को प्रतिलिपि करने के लिए प्राचीन पद्धति के अनुसार पारिश्रमिक मिला ही होगा। संभवतः उसने अपने नाम को अज्ञात इसीलिए रखा कि उसे संदेह था कि ग्रन्थ को सम्यक्तया अधिगत करके लिखा गया है कि नही। उसने क्षमा-प्रार्थना माँग ली है कि 'जैसा है, वैसा ही मैंने लिखा, अतः, मेरा दोष नहीं'। इस तरह दोष-निवारण की पद्धति लेखको मे मिलती रही है। संवत् ११९१ के प्राकृत ग्रन्थ सागरपुत्राख्यानक की पुष्पिका में लेखक ने लिखा—

> यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया ।
> यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ।।
> यदक्षर परिभ्रष्ट मात्राहीन च यद्भवेत् ।
> क्षन्तुमर्हन्ति विद्वांस· कस्य न स्खलते मनः ।।
>
> (पउमसिरिचरिउ का प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० २)

कीर्त्तिलता के उपर्युक्त लिपिकार ने 'यादृशमिति न्यायात्' से इसी का सकेत किया है। विद्यापति का काल १३५२ ई० से १४४८ ई० है।[1]

अत. स्तम्भतीर्थवाली प्रति का लेखन विद्यापति से केवल १६७२—(१४४८ +५७)=१६७ वर्ष बाद हुआ। फतहपुर की प्रति पर समय का उल्लेख ही नही है। शास्त्री द्वारा प्राप्त नेपाल-प्रतिलिपि पर सवत् ७४७ वैशाख शुक्ल तृतीया तिथि का उल्लेख है। यह विक्रम-सवत् या शक-सवत् तो हो नही सकता; क्योकि उस समय तक विद्यापति इस ससार मे भी न आये थे। यह गुप्त-सवत् भी सभव नही; क्योकि यह ७४७+३१९+५७=११२३ विक्रम-सवत् होगा और विद्यापति का तबतक जन्म न हुआ था। यदि इसे उत्तरी भारत और नेपाल मे प्रचलित हर्ष-सवत् मान लिया जाय, तो यह ७४७+६६४=१४११ विक्रम-संवत् के समकक्ष होगा, जिस समय विद्यापति शिशु ही होंगे। यदि इसे लक्ष्मणसेन-सवत् गृहीत किया जाय (जो मिथिला-प्रदेश में कुछ समय प्रचलित था), तो यह ७४७+११०९+५७=१९१३

---

1. दि सॉंग्स ऑव विद्यापति : डॉ० सुभद्र झा, पृ० ६१।

विक्रम-संवत् में परिणत होगा, जो बहुत अर्वाचीन है। शास्त्रीजी के अनुसार नेपाल-दरबार की प्रति किसी मैथिल पंडित की प्रति की नकल थी। इस विवेचन से यह स्पष्ट लक्षित है कि काल और स्थान—दोनों दृष्टियों से आलोच्य प्रति का महत्त्व बढ़ जाता है और प्रामाणिकता भी कम नहीं रह जाती।

पाठ की विशेषताएँ

लिपिकार ने पाठ को यथासंभव स्पष्ट और सुवाच्य लिखने का प्रयत्न अवश्य किया है; परन्तु कई स्थलों पर समझ न सकने के कारण अशुद्धियों का समावेश कर ही दिया है। कहीं-कहीं अशुद्ध लिखने के बाद शोधन भी कर दिया गया है। म और प, ख और स, व और र, ल और न, व और ठ में तथा कुछ अन्य अक्षरों में भी विनिमय हो गया है। कुछ स्थानों पर कुछ अंश छूट गया है और कुछ स्थलों पर पुनरावृत्ति हो गई है। परन्तु, थोड़े प्रयत्न से तथा अपभ्रंश-ग्रंथ की संस्कृत छाया से तुलना करने पर शुद्ध पाठ सुलभ हो जाता है। यह अनायास अवगत हो जाता है कि लिपिकार अपभ्रंश और संस्कृत का विद्वान् नहीं है। इसने स्खलन त्रुटि अवश्य आई पर मूल पाठ समग्रत यथार्थ ही रह गया। ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी पंडित लोग भी अपनी मनीषा का दुरुपयोग पाठ-संशोधन में कर बैठते हैं। कम-से-कम उस दोष से यह संस्करण तो भली भाँति बच गया है।

यह प्रति पश्चिमी क्षेत्र में लिखी गई और अपभ्रंश का विकास उस क्षेत्र में अधिक हुआ है, अतः इसमें उनका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। महाराष्ट्री प्राकृत में न का ण हो जाता है (हेम० १।२२८)। तदनुसार, इस प्रति में न को प्रायः ण लिखा गया है। यथा—तिहुअण, सुअण, मण, दुज्जण, णाअर इत्यादि। यह णकार का प्रयोग सभी प्रतियों में नियमित नहीं है। नेपाली पोथी में नकार का अत्यधिक प्रयोग है; परन्तु इस प्रति में नकार का अभाव-सा ही है। यथा—'कान्ति' के स्थान पर 'काइ' (हेम० ४।३६७), 'खमारमनो' के स्थान पर 'खमारभउ', 'मोञे' की जगह 'मैं', 'परवोनमो' की जगह 'परवोधउँ'–आदि। केवल एक स्थान पर 'गणिओ न गणिअ' में न का प्रयोग मिलता है। महाराष्ट्री में सानुनासिकता का अभाव है। 'अ' 'अ' रहता है 'अँ' या नेपाली प्रति की तरह 'न' नहीं हो जाता। 'मचो' पाठ नेपाली संस्करण का है; परन्तु 'मचा' स्तम्भतीर्थ प्रति का, जो पश्चिमी प्रभाव है (हेम० ४।३३०)। खड़ी बोली में ओकार अन्त में न रहकर आकार हो जाता है। अपभ्रंश की उकारबहुलता स्तम्भतीर्थ-प्रति में अधिक है। जैसे—'भणउ', 'पसरउ', 'अवसउ', 'णिच्चउ' आदि, जब नेपाली प्रति में धातुओं में इकारान्त तथा अन्यत्र ओकारान्त है। नेपाल-प्रति में कहीं-कहीं 'ख' को 'प' लिखा गया है, जो मिथिला के 'प' के 'ख' उच्चारणानुसार है। परन्तु, स्तम्भतीर्थ-प्रति में 'ख' को 'ख' ही लिखा गया है, यद्यपि कहीं-कहीं मारवाड़ी की तरह 'व' भी लिखा गया है। जैसे—'भिखारि' 'भिखारि'

के स्थान पर। संस्कृत तत्सम 'क्ष' का प्राकृत मे 'ख' हो जाता है और तदनन्तर द्वित्व होकर मात्रापूर्त्ति होती है, इस प्रकार 'क्ष' को मूलतः 'क्ख' होना चाहिए। स्तम्भतीर्थ-प्रति मे ऐसा ही पाठ है। यथा—'अक्खर', 'लक्खण', 'लक्खिअई', 'पक्ख' इत्यादि। बेसनगर के गरुडस्तम्भ में इसी तरह का पाठ है। 'तक्षशिलाकेन' को 'तखसिलाकेन' टंकित किया गया है। नेपाली प्रति मे पूर्व 'ख्' को 'क्' कर दिया गया है। यथा—अक्खर, लक्खण, लक्खिअइ, पक्ख इत्यादि। 'भिंगी पुछई भिंग सुन' यह पाठ स्तम्भतीर्थ-प्रति का है; परन्तु नेपाली प्रति का पाठ 'भृङ्गी पुच्छइ भिंग सुन' है। पहला पाठ प्राकृतानुसार है, जिसमे ऋ को इ हो जाता है, जैसा भिंग' मे है। नेपाली प्रति मे प्राय. प्राकृत नियम 'ख घ थ ध भा ह, के अनुसार ख को ह कर दिया गया है। यथा—'सुहेन लिहिम' आदि पर स्तम्भतीर्थ-प्रति मे 'ख' का परिवर्त्तन नही है। वह 'सुखेण लिखिअं' ही है। इस प्रति मे य-श्रुति का प्राय. कम प्रयोग है; परन्तु कुछ स्थलों पर वह प्राप्य है। जैसे—'पूरेयो' और 'करेयो'।

विशिष्ट पाठभेद

हम कुछ पूण विशिष्ट पाठभेदो को उद्धृत करते हैं, जिनसे दोनो प्रतियो का अन्तर और स्पष्ट हो जाता है: प्रथम दोहा ही अच्छा उदाहरण है—

तिहुअण खेत्तहि कांइ तसु किंत्तिवल्लि पसरेइ।
अक्खर खभारंभ जउ मचा बधि न देइ॥ (स्त० प्र०)
तिहुअन खेत्तहि काञि तसु कित्तिवल्लि पसरेइ।
अक्खर खम्भारम्भओ मचो बन्धि न देइ॥ (ने० प्र०)

पहले पाठ और दूसरे पाठ मे भेद ण—न, इ ञि, क्ख—क्ख, पचमाक्षरों का अनुस्वार—उसका अभाव, ओ—आ, ब—व हैं। पहले मे 'जउ' पाठ 'यदि अर्थ देकर उचित वाक्य-योजना कर देता है।

दूसरे दोहे मे और भी पार्थक्य है—

ते मैं भणउ निरूढ़ि कई जइसउ तइसउ कब्ब।
खल खेलत्तणें दूसिहइ सुअन पससउ सव्व॥ (स्त० प्र०)
ते मोञे भलओ निरूढ़ि गए जइसओ तइसओ कव्व।
खल खेल छल दूसिहइ, सुअण पससइ सव्व॥ (ने० प्र०)

डॉ० सक्सेना ने अर्थ किया है—'मेरा जैसा-तैसा काव्य प्रसिद्धि कर ले, यही भला (बहुत) है। दुष्ट जन खेल कपट से दोष निकालेंगे, किन्तु सज्जन सबकी प्रशसा करेंगे।' स्तम्भतीर्थ-प्रति के अनुसार टीका है—ततोऽहं भणामि निश्चित्त कृत्वा यादृशं तादृशं काव्यम्। खल: खलत्वेन दूषयिष्यति सुजन. प्रशसतु सर्वः॥ लिपिकार ने 'खेलत्वेन' को 'खलत्वेन' कर दिया है, यद्यपि खलत्वेन से भी अच्छा ही अर्थ निकलता है। हिन्दी में अर्थ हुआ—'तब मैं निश्चय करके जैसे-तैसे काव्य का भणन (कथन)

करता हूँ। खल अपनी खलता से या खल-क्रीड़ा से दोष लगायेगा ही; पर सब सुजन प्रशसा करेंगे।' पहला अर्थ मन मे रमता नहीं। दूसरे अर्थ मे स्पष्टता है। 'भणइ विद्यापति' की तरह 'भणिलि' का प्रयोग 'भणउ' मे बहुत उत्तम है। 'निरूढि करि' मे करि का अर्थ करके अपभ्रंश व्याकरण (हेम० ४।४३९) के अनुसार बहुत ठीक है। 'मोलें' से 'मैं' पाठ ठीक अर्थ देता है। 'खेलत्तण' मे तण प्रत्यय 'पुरिसत्तण' की तरह प्राकृत का तण (हेम० २।१५४) प्रत्यय है। खेल के छल या बहाने का क्या मतलब है? यह तो खल-क्रीड़ा है और दुष्टता है कि खल दोष-प्रदर्शन करता ही है।

चौथे दोहे मे ने० प्र० मे दूसरी पक्ति है—

भेअक हन्ता मुज्झु जइ दुज्जन वैरि ण होइ।

अर्थ किया गया है, 'यदि दुर्जन मुझे काट डाले तो भी वैरी नही।' या 'भेअ कहन्ता' योजना कर 'यदि दुर्जन मेरा भेद कह दें'..., यह अर्थ जचता नही। सज्जन ऐसा क्यो सोचे कि दुर्जन मार भी डाले या भेद कह दे, तो भी वैरी नही? स्त० प्र० का पाठ है—

सज्जन चिंतइ मनहि मणि मित्त करिअ सब कोइ।

भेअ करंता मय उ जइ दुज्जण बेरि ण होइ।

अर्थ होता है, 'सज्जन मन-ही-मन सोचता है कि सबको मित्र बना लिया जाय, यदि मुझमे भेद-भाव करता हुआ दुर्जन वैरी न हो जाय।'

सक्कअ वाणी बहुअण भावइ स्त० प्र० का पाठ है। संस्कृत टीका का अनुसार 'बहुअण' की जगह 'बुहअण' होना चाहिये, जो 'बुधजन' का अर्थ देता है और तब "संस्कृत बुधजनो को भाती है", बड़ा ही सुस्पष्ट अर्थ लगता है।

मानिनि जीवन मान सओ मे 'सउँ' पाठ सह के अपभ्रष्ट 'सहुँ' (हेम० ४।४१९) के अधिक निकट है। ने० प्र० का हओ आकण्डन काम स्त० प्र० में हउँ आकन्नन काम है। 'हउँ' (हेम० ४।३७५) के अनुसार व्याकरणानुमोदित रूप है। 'आकन्नन काम' 'आकर्णन काम' का तद्भव रूप है। आकर्णन से 'आकण्डन' विकार दुरारूढ है।

पुरिसक्खणेन पुरिसओ से ऊपर 'जदो' ने० प्र० का पाठ सर्वथा अस्पष्ट है। डॉ० सक्सेना ने उसे वैसा ही छोड दिया है। शिवप्रसाद सिंह ने 'यदुक्तम्' की कल्पना की है। स्त० ती० प्रति मे 'जदो' पाठ है। संस्कृत में 'यतः', अर्थात् 'क्योकि' अर्थ दिया गया है। पुरुषलक्षणोपेत पुरुष की प्रशसा होती है। प्रश्न होता है, क्यों? उसका उत्तर अगले दो छन्दो मे है। पुरुषलक्षण मे ने० प्र० का पाठ सत्तु सरुअ सरीर है, अन्यत्र सत्त सरूप सरीर है। पिछला 'सत्त्व स्वरूप शरीर' अर्थ देता है। और आगे कीर्त्तिसिंह के वर्णन मे प्रयुक्त सत्तें सत्तु सगाम जुज्झइ 'सत्त्व से (बल से) शत्रु के साथ युद्ध मे जूझता है' इसके साथ सगति रखता है। प्रथम पल्लव मे गद्य में कीर्त्तिसिंह की प्रशसा करते हुए नेपाली प्रति मे पितृ वैर उद्धरि साहि करो मनोरथ पूरेओ, अर्थात् पिता के वैर का उद्धार कर शाह का मनोरथ पूरा किया। स्त० प्र०

मे 'साही करि' की जगह 'माहि करि' पाठ है और अर्थ होता माई का (माताओ का) मनोरथ पूरा किया—मातॄणां मनोरथः पूरित.। द्वितीय पल्लव की कहानी मे माता की प्रेरणा से असलान को मारने की शपथ का वर्णन है, अत. माता का मनोरथ पिता के वैरी को मारकर पूरा करना ही कीर्त्तिसिंह का ध्येय है। बादशाह का मनोरथ महत्त्वपूर्ण नही है।

द्वितीय पल्लव मे गणेश्वर के मरने पर राज्य की दुरवस्था का चित्रण करते हुए ने० प्र० मे पंक्ति है—ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ, अर्थात् 'ठाकुर ठग हो गये, चोरो ने जबरदस्ती घर ले लिये।' स्त० प्र० मे पाठ है—चाकुर चक भए गल चारें सप्परि घर सज्झिअ, अर्थात् 'नौकर-चाकर चकित या उचक्के हो गये और चोरों ने सपर कर घर बना लिये।' संस्कृत टीका मे प्रभुः ठकोऽभवत् चौरैस्परसा (गृहाः) सम्पादिता, अर्थ है और उससे 'ठाकुर ठक भए गेल' पाठ ठीक मालूम पड़ता है।

कीर्त्तिसिंह बादशाह के पास जा रहे हैं। उस प्रसंग में ने० प्र० मे पंक्ति है—पाजे चलु दुअओ कुमर; स्त० प्र० मे 'चलु' की जगह 'चलिहुअ' पाठ है। आगे ने० प्र० मे पाठ है—बहुल छाँडल पटि पाँतरे, बसन पाओल आँतरे आँतरे। स्त० प्र० का पाठ है—बहुल छाडल पाठि पातर, बसल पावल आँतरे आँतर। डॉ० सक्सेना का अर्थ है—'बहुत सी पट्टियाँ और आन्त छोड़ दिये, बीच-बीच ठहरते गये।' संस्कृत में अर्थ दिया गया है—बहूनि त्यक्तानि दीर्घप्रान्तराणि, जनाकीर्णं प्राप्तमन्तरान्तरा। अर्थात् बहुत से लम्बे उजाड़ प्रदेश छोड़ दिये और बीच-बीच में बसे (अन्तर) प्रदेश प्राप्त किये। 'बसन' का 'बसल' पाठ मे अर्थ का अन्तर तो पड़ा ही, प्रकरणसंगतता भी आ गई। यो, 'न' को 'ल' को 'न' उच्चारणानुसार लिखने की परिपाटी अपभ्रंश काव्यों में और स्त० प्र० मे भी है। लक्ष्मी के लिए ने० प्र० मे लक्षि पाठ है; पर स्त० प्र० मे लछि और लच्छी है। कीर्त्तिसिंह अपनी यात्रा मे जिस नगर मे सुलतान से मिलने जाते है, उसका, ने० प्र० में 'जोनापुर' और स्त० प्र० में 'जोणपुर' नाम है। इस नगर का बड़ा, विस्तृत और रोचक वर्णन दिया गया है। उसकी स्थिति बताते हुए कवि लिखता है—पेक्खिअउ पट्टन चारु मेखल जओन नीर पखारिया। डॉ० सक्सेना ने अर्थ किया—'यवनपुर देखने मे सुन्दर था, नीर-प्रक्षालित सुन्दर मेखला से विभूषित था।' उन्होने 'जोनपुर' का ही पर्यायवाची 'जओन पट्टन' मानकर यवनपुर अर्थ किया है। यहाँ 'जओन' पर विचार है। डॉ० सुभद्र झा ने जओन का जओन <जउँना <जमुना <यमुना अर्थ किया है और उससे आवेष्टित 'जोनापुर' नगर का अर्थ जोनापुर <जोइनीपुर <जोगिनीपुर, अर्थात् प्राचीन दिल्ली किया है।[1]

हम इस विवाद मे यहाँ नही पड़ेंगें कि दिल्ली मे कोई इब्राहीम शाह नाम का ऐसा सुलतान हुआ है कि नहीं, जो फिरोजशाह का वंशज हो और जिसने कभी

१. दि सॉंग्स ऑव विद्यापति, भूमिका, पृ० ४२।

सहसा पश्चिम सेना भेजकर उसे फिर पूर्व की ओर विजय के लिए मोड़ दिया हो या कीर्त्तिलता का इब्राहीम शाह जौनपुर (उत्तरप्रदेश) का प्रसिद्ध सुलतान है। डॉ० सुभद्र झा को जोइनीपुर का द्रविड़-प्राणायाम करने की आवश्यकता न थी। जोनापुर<जोणपुर<यवनपुर यह भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विकास का क्रम रखकर मुसलमानों की नगरी दिल्ली को कहा जा सकता था। जोनापुर<जोणापुर< जंउनापुर<जमुनापुर<यमुनापुर भी देखकर यमुना नदी-तटवर्ती नगर दिल्ली का निर्देश किया जा सकता था। संस्कृत टीकाकार ने जोणापुर नाम तस्य नगरं प्रेक्षित पट्टन चारुमेखल यमुनानीरप्रक्षालित अर्थ देकर डॉ० सुभद्र झा की इस बात की पुष्टि कर दी है कि नगर की सुन्दर मेखला यमुना-जल से प्रक्षालित थी। टीकाकार ने यह अर्थ कीर्त्तिलता के स्त० ती० प्रति के इस पाठ के आधार पर दिया है—"पेखिअमउ पट्टन चारु मेखर जौण नीर पखारिया"। जौण<जमुना है, जिसका रूप 'जोणपुर' में लक्षित है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के (१।१७८) सूत्र से यमुना से जउणा सिद्ध होता है; विवृति की जगह सन्धि कर देने पर 'जोणा' या 'जोणा' और 'अउ' का उच्चारण 'औ' मानकर 'जौणा' या 'जौना' बनेगा।

पट्टन के वर्णन में ने० प्र० का पाठ है—पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर ढारिया। 'दीवार में पत्थर का फर्श, भीतर-भीतर जल के बाहर निकल जाने का रास्ता' यह डॉ० सक्सेना ने अर्थ किया है, जो अस्पष्ट है। श्री शिवप्रसाद सिंह ने अर्थ किया—पाषाण की फर्श थी और ऊपर का पानी दीवारों के भीतर से चू जाता था'। क्या दीवारों के भीतर से पानी चूना अच्छा है? स्त० प्र० का पाठ है—पासाण कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर पखारिया, अर्थात् पाषाणकुट्टित कुड्यान्तरित चूर्णोपरि प्रक्षालितम्। पाषाण का फर्श था, भीतर दीवारें थीं और ऊपर चूने से प्रक्षालित था', यह अर्थ नगर के साथ ठीक बैठ जाता है।

ने० प्र० का पाठ है—सब्बस सराब खराब कइ ततत कबाबा दरम। अर्थ है—'सर्वस्व शराब में बरबाद कर गरमागरम कबाब खाता है।' यहाँ दरम के अर्थ का कुछ पता नहीं लगता। शि० प्र० सिंह ने छन्द की पूर्त्ति 'ततत कबाबा (खा) दरम' करके की है। दरम का अर्थ फिर भी नहीं हुआ। स्त० प्र० का पाठ भी मिलाकर लिखा रहने से स्पष्ट नहीं होता। संस्कृत टीकाकार ने तरमावादरम इति विज्ञास्यम्, कहकर अर्थ को जिज्ञास्य बना दिया है। पाठ है—सबे सरावे खराब कइ तकइत रमा बादरम्। हमने जो अर्थ सूझा है, उसके अनुसार शब्दों को अलग कर दिया है। 'सब कुछ शराब में गँवाकर रमणी की ओर ताकता है और बाद में मजा लेता है' और यही कारण है कि अविवेक क बीबी कहई का पाछा पएदा लेले भम। उस अविवेकी की बीबी कहती है—क्या पीछे प्यादे ले ले घूमता है।

इस प्रकार के अन्य अनेक स्थल भी हैं; जिनमें स्तम्भतीर्थ प्रति से बहुत अधिक पाठशोधन की सुविधा मिलती है। विस्तार-भय से उन प्रसंगों के उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं।

संस्कृत टीका अर्थ के समझने में कुछ सहायता अवश्य देती है, परन्तु अनेक स्थलों पर, विशेषतः फारसी के शब्द-प्रयोगों में 'इति जिज्ञास्यम्' कहकर चुप हो जाती है। टीकाकार ने अनेक शब्दों के अर्थ दिये हैं और वह फारसी शब्दों में सर्वथा अपरिचित है, ऐसी बात नहीं। कूजा, खोजा, मसीद आदि को वह जानता है, पर मकदूम जैसे शब्द से वह अनवगत है। उसने 'हेडा' शब्द का अर्थ मास देकर कई प्रसगों को स्पष्टार्थक बना दिया है।

संस्कृत टीका की अपेक्षा इस स्तम्भतीर्थ की प्रति के अवहट्ट पाठ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन पाठों की अन्य प्रतियों के पाठों से तुलना कर कीर्त्तिलता का अच्छा प्रामाणिक संस्करण तैयार किया जा सकता है। संस्कृत टीका से उस कार्य में थोड़ी-सी सहायता अवश्य मिलेगी ही।

परिशिष्ट-४

कविराज विद्यापति का अपभ्रंश पाण्डित्य

प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, एम० ए०, विद्यावाचस्पति

ईसा की छठी शताब्दी मे आचार्य भामह ने अपने काव्यालङ्कार ग्रन्थ में काव्य के लक्षग को स्पष्ट करते हुए लिखा था—

शब्दार्थौं सहितौ काव्यं, गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रश इति त्रिधा॥

१. १६ २२.

उनकी सम्मति मे काव्य का भापाक्षेत्रन केवल सस्कृत है, अपितु प्राकृत और अपभ्रश भी हैं। कवि—'कवियश: प्रार्थी' होता है। यदि वह अपने समय मे प्रचलित जनता की भाषा का तिरस्कार कर केवल शिष्टानुमत सस्कृत भापा को स्वीकार करता है तो अपनी ख्याति को सीमित करता है। जो संस्कृत भापा किसी समय कानों में सुधाधारा बरसाती थी वही दशम शताब्दी मे राजशेखर को कठोर लगने लगी। कविराज राजशेखर ने अपने सट्टक कर्पूरमंजरी मे कहा है—

परुसा सक्किअबन्धा पाउअबधो वि होई सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतर तेत्तिअमिमाणं॥

अर्थात् 'परुष है सस्कृत प्रबंध प्राकृत प्रबंध भी होता है सुकुमार।
पुरुष और महिला में जितना यहाँ अन्तर है उतना ही इनमें है॥

पुरुप परुप होता है और नारी कोमल। राजशेखर ने सस्कृत की पुरुप से तुलना की और प्राकृत भाषा की नारी से। चौदहवी शताब्दी के समाप्त होते होते महाकवि विद्यापति ने प्राकृत को भी अपदस्थ कर दिया और अपभ्रश को ही सब लोगो के लिए मीठा बताया। उन्होने कहा—

सक्कय वाणी बुअहन भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पजी अवहट्ठा॥

अर्थात्—

सस्कृतवाणी बुधजनों को भाती है, प्राकृत के रस के मर्म का ज्ञान ही नहीं होता। देशी वचन सब जनो को मीठे हैं, तो वैसे ही अवहट्ट (अपभ्रंश) का कथन करता हूँ।

महाभाष्यकार पतजलि के काल से लेकर विद्यापति के काल तक १६ शताब्दियो मे भाषा की मान्यता के विषय में इतना परिवर्त्तन हुआ कि कवि सस्कृत से प्राकृत में और फिर प्राकृत से अपभ्रश मे जनभाषा की धारा का अनुसरण करते हुए अपनी कृतियो को भारती मन्दिर में समर्पित करते रहे।

काव्यमीमांसाकार ने 'कविराज' का लक्षण दिया है—

'योऽन्यतमे प्रबन्धे प्रविण: स महाकवि ।
यस्तु तत्र भाषाविशेषेषु, तेषु तेषु प्रबन्धेषु,
तस्मिंस्तस्मिश्च रसे स्वतन्त्र: स कविराज:
ते जगत्यपि कतिपये ।'

अर्थात् जो किसी एक प्रवन्ध मे प्रवीण है वह महाकवि; जो उन भाषा-विशेषो मे, उन सब प्रबन्धो मे और उस उस रस मे स्वतन्त्र है वह कविराज है। वे संसार में कुछ ही हैं।' उन महाकवियो और कविराजो मे विद्यापति का नाम किसी से कम नहीं है। काव्यप्रतिभा का निरूपण करते हुए यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि 'कवि पहले अपने विषय मे पूरा आकलन-कर ले। कितना मेरा सस्कार है, किस भाषा क्षेत्र मे मैं समर्थ हूँ, लोक की या स्वामी की क्या रुचि है, किस प्रकार की गोष्ठी मे शिक्षा पाई है, या इसका चित्त कहाँ लगता है; यह सब समझकर भाषा विशेष का सहारा ले।' तदनन्तर राजशेखर अपना मन्तव्य देते हैं—'यह नियमशासन एकदेश कवि के लिए है, स्वतन्त्र कवि के लिए तो एक भाषा की तरह सभी भाषायें होनी चाहियें।' विद्यापति एकदेशकवि नही है, वे स्वतन्त्र कविराज हैं और सर्वभाषादक्ष है। अपनी सर्वभाषा-दक्षता को ही समर्थित करने के लिए उन्होने राजसभा मे सम्मानित संस्कृत भाषा मे पुरुषपरीक्षा, भूपरिक्रमा, लिखनावली और अनेक धर्मशास्त्रसबद्ध निबन्धों का प्रणयन किया। अपभ्रशभाषा में उन्होंने कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका की रचना की। जनता के आनन्द के लिए उन्होने अपनी पदावली को मैथिली भाषा मे लिखा जो उस काल मे तीरभुक्ति प्रदेश मे स्वीकृत थी।

उनके दो अपभ्रंश के काव्य हमारे विवेचन के विषय हैं। 'अपभ्रंशो भव्य:' यह सूक्ति इन दोनो काव्यों के लिए सर्वथा उपयुक्त है। स्वय कवि भाषाप्रयोग में अपनी क्षमता से पूरी तरह अवगत हैं और कीर्त्तिलता में कहते हैं—

'बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेश्वर हर सिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥

अर्थात् बालचन्द्र और विद्यापति को भाषा दोनो को दुर्जनो का हास नहीं लगता। वह परमेश्वर महादेव के सिर पर शोभित है और यह निश्चय ही नागर मनों को मुग्ध करती है।

कीर्त्तिपताका मे भी वे परिचय देते है—

'कवि मह नव जयदेव कवि, रस मह एहु सिंहार।
जगतसिंह रिपुराअ मह, तीनि त्रिभुवन सार॥

अर्थात् कवियों में नव जयदेव कवि, रसो मे यह शृगार, रिपुराजो मे जगतसिंह ये तीनो त्रिभुवन में सार हैं। जयदेव की पद्धति का अनुसरण करने के कारण अपनी 'नव जयदेव' संज्ञा रख कर विद्यापति अपभ्रश के प्रसिद्ध छन्द दोहा मे अपनी

गणना त्रिभुवन सार मे करते हैं। दोनो काव्यो मे ही कवि की दर्पोक्ति नही है वस्तुस्थिति का निर्धारण है।

कीर्त्तिलता की आजतक उपलब्ध प्रतिलिपियो के अध्ययन से ज्ञात हो जाता है कि महाकवि के निधन से डेढ सौ वर्षों के अन्दर ही मिथिला से सौराष्ट्र तक उस की ख्याति हो गई। उसकी एक प्रतिलिपि स्तम्भतीर्थ में जिसे आजकल खम्भात कहते हैं, १६७२ विक्रम सवत् मे श्री श्रीमद्गोपाल भट्ट के अनुज श्री सूरभट्ट ने लिखाई थी।[1] दूसरी प्रतिलिपि उत्तर प्रदेश के फतहपुर जिले के असनी गांव मे मिली थी। तीसरी प्रतिलिपि, जो प्राय. प्रकाशित संस्करणो का आधार है, नेपाल प्रदेश से लाई गई थी। इस प्रकार प्राच्य अपभ्रंश के क्षेत्र मिथिला प्रदेश से प्रतीच्य अपभ्रंश के क्षेत्र सौराष्ट्र देश तक विद्यापति की कीर्त्ति शीघ्र फैल गई। सचमुच ही, विद्यापति की कीर्त्ति राजशेखर के शब्दो मे 'विश्वकुतूहली' बन कर भ्रमण करने लगी।

कीर्त्तिलता का १९२४ ई० मे बगाक्षरो मे बगला अग्रेजी अनुवाद के साथ प्रथम प्रकाशन महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री के अध्यवसाय और गम्भीर अध्ययन का परिणाम था। उसका हिन्दी संस्करण भाषाविज्ञान विशारद डा० बाबूराम सक्सेना ने किया। तीसरा सस्करण 'कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा' नाम से श्री शिवप्रसाद सिंह ने छन्दशास्त्र की दृष्टि से विशेष विवेचन कर प्रस्तुत किया। कीर्त्तिलता का नवीनतम सस्करण मैथिली भाषा मे अनुवाद के साथ डा० श्री उमेश मिश्र ने संपादित किया है। सस्कृतविवृति मे युक्त स्तम्भतीर्थ मे लिखित प्रतिलिपि का सस्करण अभी छपने की प्रतीक्षा कर रहा है। सम्पूर्ण सस्करणो की पर्यालोचना से कीर्त्तिलता में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा के विषय मे हमारे निम्नलिखित निष्कर्ष है—

(१) कीर्त्तिलता प्राच्य अपभ्रंश का, विशेषत. अवहट्ट का, रमणीय निदर्शन है। अपभ्रंश की सामान्यत कालसीमा ईसा की पाँचवी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी तक है। तेरहवीं शताब्दी मे ही आधुनिक आर्यभाषाओ का पृथक् अस्तित्व दीखने लगता है। १३वी और १४वी शताब्दी संक्रान्तिकाल है। इस काल मे परिनिष्ठित अपभ्रंश का लौकिक भाषाओ के साथ सम्मिश्रण हुआ। इस मिश्रण को ही अवहट्ट कहा जाता है जैसा विद्यापति ने 'देसिल बयना' इस पद्य में निर्दिष्ट किया है। कीर्त्तिलता में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा की प्राकृत-प्रधानता का उदाहरण—

'पुरिसत्तणेन पुरिसओ, नहि पुरिसओ जम्म मत्तेन।
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुंञ्जिओ धूम.॥

सभवत. यह कहीं का उद्धरण ही है जिसे विद्यापति ने 'जदो' (यदुक्तम्—जो कहा है) कह कर दिया है या स्तम्भतीर्थ की प्रतिलिपि के अनुसार 'जदो' (यत—क्योकि) कह कर।

१. देखिए लेखक का निबन्ध 'कीर्त्तिलता की स्तम्भतीर्थवाली प्रति'—परिशिष्ट ३, पृष्ठ २८१-२८८।

संस्कृत-तत्समानुप्राणित अपभ्रंश का प्रयोग प्रायः सर्वत्र गद्य में है जैसे प्रथम पल्लव की समाप्ति पर,'प्रबलशत्रुबलसंघट्टसम्मिलनसम्मर्दसंजात पदाघात...' है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश का निम्न उदाहरण है—

तिहुअण खेत्तहि काइँ तसु कित्तिवल्लि पसरेइ।
अक्खरखंभारम्भ जउ मंचा बंधि न देइ॥

(स्तं० प्र० पाठ)।

इसका संस्कृत रूपान्तर होगा—'त्रिभुवन क्षेत्रे किमिति तस्य कीर्तिवल्ली प्रसरेत्, अक्षरस्क मारम्भे यदि मचो बद्ध्वा न दीयेत।' इस दोहे मे हेमचन्द्र के सूत्रो के अनुसार पूरी व्याख्या हो सकती है 'काइँ' की सिद्धि किम. काइ कवणौ वा' (४।३६७) से, तसु की सिद्धि 'यत्तत्किंभ्यो ङसो डासुर्न वा' (४।३५८) से, मंचा मे, दीर्घ 'स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ' (४।३३०) से बंधि मे पूर्वकालिक 'इ' प्रत्यय मे 'क्त्व इ इउ-इवि-अवय' (४।४२९) से होता है। 'खत्तेहि' को बहुवचन समझा जाय तो 'भिस्सुपोर्हिः' (८।४।३४७) से हि प्रत्यय है। इतने संस्कृत मे खभा के लिए 'स्कम्भ दिया है। स्कंभ शब्द लौकिक संस्कृत मे प्रयुक्त नही होता। अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त स्कम्भ सूक्त है जिसमें अनेक बार इस शब्द की आवृत्ति है। यह वैदिक शब्द लोकभाषाओ मे जीवित रहकर अपभ्रश मे समाविष्ट हो गया। संस्कृत मे तो केवल 'स्तम्भ' शब्द है और अतएव वररुचि जैसे वैयाकरण ने या हेमचन्द्र ने 'स्तम्भे स्तोवा' (२।८) सूत्र के द्वारा स्तम्भ के स्त को ख मे परिणत किया है जो उच्चारणानुसार कभी सम्भव नही। 'ष्कस्कक्षाख' इस सूत्र के अनुसार स्क को ख होता है। हिन्दी मे स्कम्भ खंभा और स्तंभ से थभा शब्द बना है। 'खभा' शब्द इस बात की गवाही है कि वैदिक भाषा का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव अपभ्रश पर है।

मैथिली मिश्रित अपभ्रश का उदाहरण—तीनहु शक्ति का परीक्षा जानसि, रूसलि विभूति पलटाए आनसि।...जनि दोसरी अमरावती क अवतार भा। आनक तिलक आन का लाग। सबे किछु किनइते पावथि।... एक हाट करे, ओ ओल, औकी हाट करे ओ कोल। काहू काहू अइसने जो संगत करे।...इत्यादि।

तात्कालिक प्रचलित विदेशी शब्द मिश्रित अपभ्रश के उदाहरण जोनापुर के वर्णन मे, सुलतान की सेना की तैयारी के वर्णन मे, या इसी प्रकार के मुसलमानो से संबद्ध प्रसगों मे हैं। जैसे—

गीत गरवि जावरी मत्त भए मतरूफ गाइब, चरप नाच तुरुकिनी आन किछु काहु न भावइ
अअद सीरनी विलइ सब्ब को भूठ सब्बे खा, दूआ वे दरवेस पाव नहिं गारि परि जा
मषदूम लवावै दोम जनो हाथ वसस दस द्वारओ।

(२) परिनिष्ठित अपभ्रंश से अवहट्ट को पृथक् करने वाली विशेषताएँ

स्पष्ट दिखाई देती हैं। परसर्गों का पृथक् विभक्ति चिह्नों के रूप मे प्रयोग कीर्त्तिलता में बहुत बढ़ गया है। हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश पद्यों में षष्ठी विभक्ति के लिए चार-पाँच स्थलो मे ही 'केर' परसर्ग का प्रयोग है; अन्यत्र 'ह' अथवा 'स्स' (हेम० ४।३३८) का है। परन्तु कीर्त्तिलता मे का, क, को, कर, करो, करेओ, करी, केरा, कइ, की इत्यादि विविध प्रचुर प्रयोग है। सर्वनाम प्रयोगो में ओ, ओहु, औ, वाहि, तथा काहू, केहू इत्यादि रूप दर्शनीय हैं। अनेक बोलचाल की धातुओ और क्रियाओं के नवीन प्रयोग हैं।

(३) शब्द-सग्रह के बारे मे कीर्त्तिलता में पर्याप्त स्वतन्त्रता है। हेमचन्द्रप्रणीत देशी नाममाला मे सगृहीत शब्दो का इसमे विरल ही प्रयोग है। वस्तुत. हेमचन्द्र का शब्दसंग्रह अपने क्षेत्र से सम्बद्ध था। परन्तु उत्तर भारत में प्रयुक्त देशी शब्दो का कीर्त्तिलता में बहुत उपयोग है जैसे—ठाकुर, ठक (ठग), चप्परि, उपजु, जनेऊ, जरहरि इत्यादि; मुसलमानो के साथ सम्पर्क होने के कारण फारसी अरबी शब्दो के विकृत रूप मिलते हैं जैसे—कितेबा, करवक, कूजा, खोदाए, खोदालम्ब, गद्दवर, तकतान इत्यादि।

कीर्त्तिलपताका का प्रकाशन अधुनिक ही है। इसका श्रेय महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र को है। अग्रजी भूमिका और मैथिली अनुवाद के साथ संपादित यह सस्करण उनके परिश्रम और स्वाध्याय को प्रदर्शित करता है। यह पुस्तक मध्य में खण्डित और अत्यधिक भ्रष्ट प्रतिलिपि पर आश्रित है; अत. अनेक स्थल सर्वथा अस्पष्ट और भ्रामक हैं। इसके उद्धार के लिए अन्य प्रतिलिपियो की प्राप्ति और छन्दशास्त्र के अनुसरण की आवश्यकता है। हम भी एतदर्थ प्रयत्नशील हैं। समय आने पर विद्वानों के समक्ष उसे उपस्थित करेंगे। उदाहरणार्थ कीर्त्तिपताका के छठे पृष्ठ पर मुद्रित पाठ निम्नलिखित है—

'राऊ अज्जून सु (सु) रतले धम्ममज्जादा वस हिम्र...ए रसविवेक रमुदाने मण्डिम सू (सु) रतले जगदेव खगे खण्डि परि खण्डि खण्डिम /

करणा वसइ विवेकसओ खेमा सतुए ओ सग।
धम्मसहित सिगार रस कच्छ कला बहु रग॥

अत्यधिक विचारने के बाद छन्दशास्त्र का आश्रय लेने से तथा अन्य प्रतिलिपि की सहायता से हमने निम्न पाठ निश्चत किया—

राअ अज्जून गअअहु धम्म,
मज्जादा वस हिअए, रस विवेक वसुदाने मण्डिअ
सूरतले जगदेव, गोखण्डि परि पण्डिअ मण्डिअ
करुणा वसइ विवेक सओ, खेमा सतुए ओ संग
धम्मसहित सिगाररस, कच्छ कला बहु रग॥

यहाँ रड्डा छन्द का राजसेनी भेद है जिसका कीर्त्तिलता में विद्यापति ने बहुधा प्रयोग किया है। इस छन्द का क्रम १५, १२+१५, ११+१५, और एक दोहा अर्थात् १३+११ और १३+११ है। यहाँ यह ख्याल रखना चाहिये कि विद्यापति ने ह्रस्व एकार और ह्रस्व ओकार का अपभ्रंशसम्मत प्रयोग प्राय किया है। इस छन्द के अनुसार पाठ संशोधन करने से अर्थ मे भी स्पष्टता आ गई—'राजा अर्जुन धर्म मे गुरु (गौरवपूर्ण), मर्यादा मे बसते हैं, हृदय मे रमविवेक है, धनवान मे मण्डित हैं, सूरतल में जगदेव हैं, गोखण्ड (पृथिवी खण्ड) के ऊपर पण्डितों से मण्डित हैं। करुणा विवेक के साथ वास करती है, खेमा (शिविर) सत्व (पराक्रम) के सङ्ग है, धर्म सहित शृगार रस है और कच्छ कला (मल्लविद्या) के साथ अनेक नाट्य हैं।' इसी प्रकार विद्यापति की प्रशंसा में पूर्वोद्धृत दोहा—

कवि मह नव जयदेव कवि,
रस मह एहु सिङ्गार।
जगतसिंह रिपुराअ मह,
तीनि त्रिभुवन सार॥

मुद्रित संस्करण की निम्न गद्यात्मक पक्तियों का उद्धार है—
(संगाच्छान्ति सन्ति रहु (ट) न्वी दिने दिने पहु गुणे रट्टलू।)
कित्ती करि महनवज (य)···देव कविरसमह एहु सिगार॥२
जगत सिंह रिपुराअ मह तीनि त्रिभुवनस्सर।

प्रतीत होता है कि कीर्त्तिलता की तरह कीर्त्तिपताका में भी गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रयोग अधिक है, परन्तु मुद्रित ग्रन्थ मे प्रति-लिपिकार के अनुसार अधिकाशतः गद्य ही है, इसी दुरवस्था को दूर करने के लिए ही काव्यमीमासाकार ने राजसभा में लेखक के विषय मे प्रतिपादित किया कि 'सभा के सत्कार के लिए सर्वभाषाकुशल; शीघ्रवाक् सुन्दराक्षरसपन्न, इङ्गित और आकार को समझने वाला, नानालिपिज्ञाता, कवि और लक्षणवेत्ता लेखक होना चाहिये।' अपभ्रश ग्रन्थ के लेखक प्राय. अपना दोषपरिहार यही कहकर कर देते हैं कि—

यादृश पुस्तके दृष्ट तादृश लिखतं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते॥

अर्थात् जैसा पुस्तक में देखा वैसा मैने लिख दिया। यदि शुद्ध हो या अशुद्ध मुझे दोष मत दीजिये।

कीर्त्तिपताका में न केवल अवहट्ट भाषा में ही प्रतिपाद्य विषय का निरूपण किया गया है अपितु संस्कृत भाषा का भी उपयोग किया है। मुद्रित ग्रन्थ के आठवें और दसवें पृष्ठ एतदर्थदर्शनीय हैं। 'ससंस्कृतमपभ्रंश लालित्यालिङ्गितं पठेत्' इस सिद्धान्त का कीर्त्तिपताका अच्छा निदर्शन है। ज्योतिरीश्वर अपने धूर्त्तसमागम और उमापति अपने पारिजातहरण मे संस्कृत और प्राकृत के साथ मैथिल अवहट्ट या

मैथिली का प्रयोग पहले कर ही चुके थे। विद्यापति ने अवहट्ट के साथ संस्कृत का मिला दिया।

शृंगार का उपभोग करने वाले राजा के युद्धवीर स्वरूप का वर्णन इस ग्रंथ मे अद्भुत है। अपने नायक के प्रति कविराज विद्यापति कहते हैं—

सीताविश्लेषदुःखादिव रघुतनयो लब्धकृष्णावतारः।
पूर्वं कृष्णो यथाभूदरि कुलदमनः साम्प्रतं तादृशस्त्वम् ॥
तस्माद् भूपालमौले सुखमपिसु(र)ता (देव) देवानुभूयाः।
संसारे भोगसारे स्फुटमवनि भुजा श्रीफलं वा किमन्यत् ॥

अर्थात्—सीता वियोग के दुःख के कारण से राम ने कृष्ण का अवतार लिया कृष्ण पहले जैसे अरिकुलदमन थे वैसे अब तुम हो। इसलिये भूपाल श्रेष्ठ देव तुम सुरत से ही सुख का अनुभव करो। इस भोगवैशिष्ट्य संसार मे स्पष्ट भूपतियों की लक्ष्मी का फल ही और क्या है?

विद्यापति का कीर्त्तिपताका मे निर्दिष्ट यह दृष्टिकोण उनकी पदावली में पल्लवित शृंगार का सुन्दर समाधान है। आवश्यक धार्मिक भावना का वहाँ आग्रह सर्वथा व्यर्थ है।

कीर्तिपताका के अपभ्रंश मे लोकभाषा (मैथिली) का सम्मिश्रण अत्यधिक दृष्टिगोचर होता है। वह अपभ्रंश देशीवचन की मिठास लिये हुए है। जैसे 'आशा भेल मेइसिमार थोर बहुत जनु विचारह वेरि नहि विसरि सको अधिक अपहले अपिधिहो।' ...इत्यादि। संस्कृत तत्सम शब्दो का पर्याप्त प्रयोग है। विदेशी शब्दो का कीर्त्तिलता मे जितना अधिक प्रयोग है उतना कीर्त्तिपताका मे नहीं; फिर भी कूजा, मखदूम, सुल्तान आदि गिने-चुने शब्द आ ही गये हैं। अधिक विस्तार फिर कभी किया जायगा।

कविराज विद्यापति की कीर्त्ति सचमुच कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका का आश्रय लेकर कवि के शब्दो मे ही 'आचन्द्रार्क विराजित रहेगी और उनकी अवहट्ट भाषा 'मधुरमधुरावासि भणिति' कही जायगी।

जा सकता है पर सूत्रों की स्वोपज्ञ वृत्ति मे हेमचन्द्र ने जो दोहे उद्धृत किये हैं या प्राकृतपैङ्गल मे जो पद उदाहरणार्थ दिये गये हैं स्वाभाविक पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा में हैं। अतः इस पुरानी हिन्दी के अध्ययन मे प्राकृत पैङ्गल का स्थान महत्त्वपूर्ण है । हम आगे इसी ग्रन्थ में प्रयुक्त अवहट्ट भाषा का थोड़ा-सा काव्यात्मक परिचय दे रहे हैं।

ग्रन्थ की पद्धति पहले छन्द का लक्षण देकर तब उसके उदाहरणार्थ किसी पद्य को उद्धृत करना है। पद्य भी प्राय. वीरगाथाकाल की प्रवृत्ति के अनुसार या तो वीररसात्मक हैं या शृंगारवर्णनमय हैं। कुछ छन्द नीतिपरक और भक्तिपरक भी हैं।

छन्दलक्षण

लघुदीर्घ आदि का निर्णय करते हुए मात्रा वृत्तो की भूमिका दी गई है। उच्चारण की दृष्टि से अपभ्रंश का यह नियम ध्यान देने योग्य है—

जइ दीहो विम्र वण्णो, लहु जीहा पढइ होइ सो वि लहू।
वण्णो वि तुरिअ पढिओ, दो तिण्णि वि एक्क जाणेहू ॥

'यदि दीर्घ वर्ण भी जिह्वा से लघु पढा जाता है तो वह भी लघु है। शीघ्रता से पढे हुए दो तीन वर्ण भी एक ही जानो।' अर्थात् छन्द में पढ़ने की पद्धति विशेष महत्त्वपूर्ण है, दीर्घ भी लघु हो सकता है और दो तीन वर्ण भी गणना मे एक समझे जा सकते हैं, यदि तेजी से उन्हें मिलाकर एक कर दिया गया हो। इस नियम के आधार पर विद्यापति तथा सत कवियो के काव्य में छन्द का दोष दूर किया जा सकता है।

आगे ग्रन्थकार कहता है—'जिस तरह कनकतुला तिल के आधे का आधा भी तोलने मे नहीं सहन कर सकती इसी तरह श्रवणतुला छंद भंग से छन्दलक्षणहीन काव्य को नही सहन कर सकती है।' इसीलिये काव्य पढ़नेवाले को उसने आगाह किया—

अबुह बुहाणं मज्झे, कव्वं जो पढइ लक्खनविहूणं।
भूअग्ग लग्ग खग्गहिं, सीस खेलिअं ण जाणेइ ॥

'जो अबुध बुधों (बुद्धिमानों) के मध्य लक्षणविहीन काव्य पढ़ता है वह भुजाग्रलग्न खड्ग से खण्डित सिर को नही जानता, अर्थात् लक्षणविहीन छद पढ़कर अपने हाथो अपना सिर काटता है। ग्रन्थकार काव्यलक्षण का परिज्ञान और तदनुकूल पाठ-पद्धति पर बल देता है ताकि पाठक किसी का कान न दुखा सके और स्वयं उपहासास्पद न बन सके।

भाषा की दृष्टि से प्राकृत के नियम 'ख घ थ ध भां हृ' के अनुसार दीर्घ > दीह, लघु > लहु, अबुध > अबुह, बुध > बुह मे घ ध का ह रूप तो है ही पर अपभ्रंश का 'सौ पुंस्योद् वा' अर्थात् प्रथमा एकवचन में ओकार दीहो, वण्णो, सो, जो मे है; क्रिया मे पठति के स्थान पर पढइ है; द्वेत्रीणि के स्थान पर दो तिन्नि (दो तीन); खड्गैः के स्थान पर खग्गहिं (हेम० ४।३४७) और विभक्ति-चिह्न रहित लहु, एक्क,

तुरिअ (हेम० ४।३४४) इत्यादि प्रयोग हैं। लक्षण देने मे संख्यावाचक शब्दों में एक, दो, तिन्नि, चारि, पंचा, छअ, सत्ता, अट्ठा, णव, दहु, एगारह, बारह, तेरह, चोद्दह, बीस, चौबीस, पचीस, तीस आदि पुरानी हिन्दी के प्रयोग ही हैं।

वीररसात्मक

मुंचहि सुंदरि पाअ, अप्पहि हसिऊण सुमुहि खग्गं मे।
कप्पिअ मेच्छ सरीरं, पेच्छइ बअणाइ तुमह धुअ हम्मीरो ॥

हम्मीर युद्धार्थ प्रयाण कर रहे हैं। प्रियतमा पाँव पड़ रही है। हम्मीर कहते हैं:—'सुंदरि पैर छोड़ दो, सुमुखि (प्रसन्नवदने) हँस कर खड्ग अर्पित करो। हम्मीर ध्रुव (निश्चय से) म्लेच्छ शरीर को खण्डित कर तुम्हारे वदन को देखेगा।'

विमुह चलिअ रण अचलु, परिहरिअ हअ गअ बलु,
हलहलिअ मलअ णिवइ जसु जस, बणरसि णरवइ लुलिअ
सअल उबरि जस फुरिअ। ८७।

'रण मे अचल (राज) विमुख हो चल पड़ा—भाग खड़ा हुआ, अपने हय गज-बल को छोड़कर। जिसके यश से मलयनृपति हिल डुल गया—काँप उठा। बनारस का नरपति लूला हो गया और यश सबके ऊपर स्फुरित हो उठा।'

पअभर दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ,
कमठपिट्ठ दरमरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ।
कोह चलिअ हम्मीर वीर गअजूह संजुत्ते,
किअउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छहके पुत्ते ॥९८॥

'पदभार से धरणी दलमला उठी, तरणिरथ (सूर्यरथ) धूल से ढक गया, कमठ (कछुआ) की पीठ दलमला गई, मेरु और मंदराचल का सिर काँप गया, क्रोध से वीर हम्मीर जब चले गजयूथ (झुण्ड) से युक्त म्लेच्छ पुत्र ने (मुसलमान ने) बड़े कष्ट से हाहाकार क्रन्दन किया और वह मूर्छित हो गया।

भाषा की दृष्टि से पहले श्लोक मे अनुस्वारबहुलता, तुमह (हेम० ४।३७३) अपभ्रंश के चिह्न हैं। शेष दो श्लोक तो विभक्तिहीनता और क्रियाओ की नवीनता के कारण स्पष्ट पुरानी हिन्दी में हैं। संस्कृत और प्राकृत के विभक्तिचिह्न धीरे-धीरे अपभ्रंश में लुप्त हो गये और नवीन क्रियाओ के प्रयोग 'हलहलिअ' 'लुलिअ' 'फुरिअ' 'दरमरु' 'झंपिअ' 'किअउ' आदि चल पड़े। वाराणसी से विकृत 'बणरसि' (बनारस) शब्द चौदहवी सदी के बनारस को स्मरण दिलाता है; अब भले ही फिर संस्कृतप्रेमी होकर हम लोगो ने उसे वाराणसी बना दिया है।

शृंगारवर्णनमय

शृंगार के संयोग वियोग तथा अन्य मानसिक दशाओ के अनेक चित्रण हैं। मानिनी रूठी है। सखी उसे दोहे मे मनाती है—

माणिणि माणहिं काइँफल, एओ जे चरणे पडु कंत ।
सहजे भुअगंम जइ णमइ, किं करिए मणिमन्त ॥६॥

'मानिनि ! मान से क्या फल, यह जो चरणों मे कान्त पड़ा है। सहज ही भुजंगम (साँप) यदि नत हो जाय तो मणि मन्त्रो मे क्या करिए ।'

'जेण विण ण जिविज्जइ, अणुणिज्जइ स कआवराहोवि ।
पत्ते वि णअरडाहे, भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ॥५५॥

'जिसके बिना जिया नही जाता वह कृतापराध भी (प्रियतम) अनुनय से मनाया ही जाता है। नगरदाह के प्राप्त होने पर भी बताओ किसको अग्नि प्यारी नही होती।' इसी भाव से मिलता जुलता हेमचन्द्र का उदाहरण है—

विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ, तोवि त आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु, तो तें अग्गि कज्जु ॥

'विप्रियकारक है यद्यपि प्रिय तो भी उसको आज लाओ। अग्नि ने यद्यपि घर जला दिया है तो भी उस अग्नि से काम है ही।'

परिहर मणिणि माणं, पेक्खहि कुसुमाइँ णिवस्स ।
तुम्ह कए खरहिअयो, गेंहणइ गुडिआ धणु हि किल कामो ॥६७॥

'मानिनि मान छोड़ो, नींब के कुसुमो को देखो। तुम्हारे लिए तीक्ष्ण हृदय-वाला काम धनुही पर गोली ग्रहण कर रहा है—गुनेल पर ढेला रख रहा है।'

णच्चइ चचल विज्जुलिआ सहि जाणए,
मम्मह खग्ग किणीसइ जलहर साणए।
फुल्ल कअवअ अवर डंवर दीसइ,
पाउस पाउ घणाघण सुमुहि वरीसए ॥१८८॥

सखि चचल बिजली नाच रही है, ज्ञात होता है मन्मथ (कामदेव) जलधर की सान पर खड्ग तेजकर रहा है। फूले कदम्बो का अम्बर (आकाश) मे डम्बर दीख रहा है, ऐ सुमुखि प्रावृप (बरसात) पाकर घनाघन बरस रहा है।

भाषा की दृष्टि से वर्ग के पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार, काइँ <किम् (हेम० ४। ३३७) अज्जु <अद्य, गुडिआ <गुलिका, विज्जुलिआ मे स्वार्थिक क लुक् और हुल्ल तथा आ प्रत्यय (हेम० ४।४२९ ४३२); क्रियाओ मे पडु (पड), डह, पेक्ख, गेह्ण णच्च (नाच), पाउ, वरीसए आदि प्रयोग ध्यान देने लायक हैं।

नीतिपरक छन्द

चेउ सहज तुहु चचल, सुन्दरि ह्रदहि बलंत ।
पअ उण घल्लसि खुल्लणा, कीलसि उण उल्हसंत ॥

'चित्त सहज तू चंचल, सुन्दरीह्रद (सरोवर) मे पतित है। क्षुद्र एक पग भी बाहर नहीं देता और उल्लासपूर्वक क्रीड़ा करता रहता है।

सो माणिअ पुणवन्त, जासु भत्त पंडिअ तणअ।
जासु घरिणी गुणवन्ति, सो वि पुहवि सग्गह णिलअ॥

'उसे मानिये पुण्यवान् जिसका भक्त और पडित तनय (पुत्र) है। जिसकी गृहिणी गुणवती है उसकी भी पृथिवी स्वर्ग का निलय (स्थान) है।' तुहैं, घरिणी आदि शब्द; वलन्त घल्लसि, मणिअ आदि क्रियाएँ दर्शनीय हैं।

भक्तिपरक छन्द

शिव की स्तुति मे अनेक छन्द हैं। उसी के आस पास विद्यापति ने शिव की स्तुति मे नाचारियाँ भी लिखी थी।

जा अद्धगे पव्वई सीसे गंगा जासु।
जो लोआण बल्लहो बदे पाअं तासु॥

'जिसके अर्धाङ्ग में पार्वती, जिसके शीर्ष पर गगा है। जो लोकवल्लभ है उसके पादो की वन्दना करता हूँ।'

जसु सीसइ गंगा गोरि अधंगा, गिब परिहरिअ फणि हारा।
कंठट्ठिअ बीसा पिंधण दीसा, सन्तारिअ ससारा॥
किरणावलिकन्दा बन्दिअ चन्दा, णअणल फुरन्त॥
सो संपअ दिज्जउ बहु सुह किज्जउ तुह्म भवाणीकन्ता॥

'जिनके सीस पर गगा, गौरी अर्धाङ्ग मे, ग्रीवा में सर्पों का हार पहिरा हुआ है, कठ मे स्थित विष है, पिधान (आच्छादन) दिशाएँ है, जो स सार से तराने वाले हैं; किरणावली कंद, वदितचन्द्र है और जिनके नयनो मे अनल स्फुरित है। भवानी-कान्त तुम्हें सपत्ति दें और बहुत सुख करें।'

जासू कठा बीसा दीसा सीसा गगा
णाआराआ किज्जे हारा गोरी अगा।
गते चामा माक कामा लिज्जे कित्ती
सोई देऊ सुक्ख देओ तुम्हा भत्ती॥

'जिसके कठ मे विष दिखाई देता है, शीष पर गगा है, नागराज को हार कर लिया है, गौरी अंग मे है, गात्र (शरीर) पर बाघचर्म है, काम को मार कर कीर्ति ली है वह देव तुम्हे भक्ति से सुख दें।

कृष्ण का भी दोहे में अच्छा स्मरण है—
अरे रे वाहहि काह्न णाव
छोड़ि डगमग कुगति ण देहि।
तइ इत्थ णइहि संतार देइ
जो चाहहि सो लेहि॥

'अरे रे कृष्ण वहन करो, नाव छोटी और कुगडगम हैं, हमें गति (राही) न दो। तुम इस नदी मे सतार देकर (तराकर) जो चाहते हो सो ले लो।' इस छन्द की भाषा पुरानी हिन्दी का अच्छा नमूना है। उपर्युक्त श्लोको की भाषा भी सरल अपभ्रश है।

सक्षेप में हमने देखा कि प्राकृतपैङ्गल जहाँ भाषा-छन्द-विधान के ज्ञान में सहायक है वहाँ पुरानी हिन्दी की काव्यभाषा का रूप, जो तेरहवी-चौदहवी सदी में था, हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

○